सहस्रधारा

(श्री विष्णु सहस्रनाम का विवेचन)

डॉ० पांडुरंग राव

विश्व अध्यात्म समाज

सहस्रधारा

श्री विष्णु सहस्रनाम का विवेचन

प्रकाशक :

विश्व अध्यात्म समाज

ऋषि साधना मन्दिर

B-319, ओखला इण्डस्ट्रियल एरिया, फेज़-प्रथम
नई दिल्ली-110020

Price : Rs. 40-00

मूल्य : चालीस रुपये

बी० वी० एन्टरप्राइज़िज द्वारा आर० के० प्रिंटर्स में मुद्रित।

विश्व अध्यात्म समाज का संक्षिप्त परिचय

यह सर्वत्र अनुभव किया जा रहा है कि हमारा समाज आध्यात्मिक मूल्यों और परम्परागत सद्‌गुणों की उपेक्षा कर भौतिक सुख-समृद्धि की ओर अधिकाधिक झुक रहा है। इस स्थिति में सुधार करने के लिए संगठित आधार पर प्रयत्न करने की आवश्यकता है। दलीय, साम्प्रदायिक, जातीय अथवा मत-मतान्तर के संकीर्ण मत-भेदों के आधार पर उत्पन्न राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विवादों से छिन्न-विच्छिन्न इस समाज के लिए आशा की केवल एक ही किरण रह गई है कि लोग यह अनुभव करें और स्वीकार करें कि मानव जाति आध्यात्मिक दृष्टि से एक है और इस आध्यात्मिक एकता का आधार उच्च आदर्श और शाश्वत जीवन-मूल्य हैं। मनुष्य जाति के भविष्य की रक्षा का एक मात्र यही उपाय है। ऐसे ही आदर्शों और मूल्यों के संवर्धन और प्रचार के लिए विश्व अध्यात्म समाज की स्थापना की गई है।

व्याप्ति

विश्व अध्यात्म समाज एक उदार विश्वव्यापी संगठन है जो लाभोद्देश्य से नहीं, बल्कि धर्मार्थ उद्देश्य से स्थापित किया गया है। धर्म, जाति, देश, लिंग, रंग या मत-मतांतर के भेदभाव के बिना सारा विश्व इस समाज के कार्यक्षेत्र की परिधि के अन्तर्गत आता है। सेवा, त्याग और आध्यात्मिकता इसके मूलमन्त्र हैं।

समाज के उद्देश्य

१. समस्त विश्व-समाज में शाश्वत और स्थायी जीवन-मूल्यों पर आधारित आध्यात्मिक, नैतिक, व्यावहारिक एवं मानवतावादी सिद्धान्तों का आधुनिक युग के अनुकूल संरक्षण और प्रचार करना।

२. वैदिक साहित्य और विश्व के पवित्र धर्मग्रन्थों में निहित प्राचीन ज्ञान की आधुनिक चिन्तन और अनुभव के आलोक में शोध, व्याख्या और मूल्यांकन करना ।

३. योग, यज्ञ और प्राकृतिक चिकित्सा तथा साहित्यिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक एवं धर्मार्थ स्वरूप वाली गतिविधियों को समुन्नत करना तथा इन क्षेत्रों में शिक्षा और शोध के कार्यक्रमों का संचालन करना ।

४. आध्यात्मिकता के आधार पर समाज में सत्य, अहिंसा, नैतिकता, सच्चरित्रता, उदारता, बन्धुत्व, अनुशासन, शिष्टता, मानवता, सहिष्णुता, नागरिकता, श्रमशीलता, आदि गुणों को प्रोत्साहित करना तथा उनके द्वारा जीवन की समस्याओं का समाधान ढूँढना ।

५. विश्व के समस्त धर्मग्रन्थों में अन्तर्निहित मानव जाति की आध्यात्मिक विरासत के आधारभूत मूल्यों के विश्वव्यापी और सर्वमान्य विचारों का अनुसंधान, आचरण, प्रचार और प्रसार करना तथा समस्त धार्मिक सम्प्रदायों में पारस्परिक सौहार्द, सहिष्णुता, प्रेम और आदर की भावना पर आधारित व्यापक, उदार, सार्वभौम और आध्यात्मिक दृष्टिकोण को प्रोत्साहित एवं समुन्नत करना ।

कुछ महत्वपूर्ण कार्य

१. वाचनालयों, पुस्तकालयों, विद्यालयों, महाविद्यालयों, औद्योगिक विद्या-पीठों, चिकित्सा-केन्द्रों, राहत-केन्द्रों, अनाथालयों, उद्धारगृहों, विधवाश्रमों, बाल-वृद्ध आश्रमों प्रचार-केन्द्रों, अनुसंधान-केन्द्रों, मन्दिरों, मठों आदि को स्थापित, व्यवस्थित और संचालित करना, उनका उत्तरदायित्व लेना, प्रबन्ध करना, अथवा उन्हें सहायता देना ।

२. विश्व के विभिन्न स्थानों पर समाज की शाखाएं स्थापित करना एवं यदि वांछनीय हो तो समान उद्देश्य वाली

इच्छुक संस्थाओं को समाज से सम्बद्ध कराना अथवा समाज में उनका विलय करना।

३. विभिन्न भाषाओं में आध्यात्मिक शिक्षा का प्रबन्ध करना।
४. सत्संग, भजन और सामूहिक विचार-विनिमय आदि का आयोजन करना।
५. योग और ध्यान में रुचि लेने वालों के लिए योगासनों और ध्यान की कक्षाएं चलाना और प्रशिक्षण शिविर संचालित करना।
६. पुस्तकें, प्रचार-पत्र, पत्रिकाएं, समाचार-पत्र आदि प्रकाशित करना।
७. किसी भी प्रकार का रचनात्मक कार्य करना और आवश्यकता एवं सुविधा के अनुसार उसमें परिवर्तन, सुधार या विकास करना।
८. समय-समय पर जेलों और अस्पतालों में जाना एवं वहाँ के पीड़ितों को सान्त्वना देना।
९. जहाँ कहीं संभव हो, निःशुल्क आयुर्वेदिक और/या होम्योपैथिक औषधालय और/या प्राकृतिक चिकित्सा केन्द्र खोलना।
१०. बाढ़, आग आदि प्राकृतिक विपत्तियों से ग्रस्त क्षेत्रों में द्रुत और प्रभावी राहत कार्य की व्यवस्था करना अथवा इस कार्य में लगे अन्य संगठनों के साथ सहयोग करना।

'विश्वात्मा'

विश्व अध्यात्म समाज की सहकारी संस्था ऋषि लोक कल्याण ट्रस्ट पिछले अनेक वर्षों से 'विश्वात्मा' नाम से एक धार्मिक और आध्यात्मिक मासिक पत्रिका प्रकाशित कर रही है। इस पत्र का प्रकाशन विश्व अध्यात्म परिषद् (विश्व अध्यात्म समाज का पूर्व रूप) ने मई १९७५ से प्रारम्भ किया था। बाद में अक्टूबर, १९७८ से ऋषि लोक कल्याण ट्रस्ट ने इसका स्वामित्व अपने हाथ में ले लिया।

विश्व अध्यात्म समाज और ऋषि लोक कल्याण ट्रस्ट— दोनों ही आध्यात्मिक संस्थाएं हैं और उनका उद्देश्य आध्यात्मिक आदर्शों और मूल्यों का संवर्धन करते हुए आम जनता में आध्यात्मिक भावना को जगाना और नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठापित करना है। 'विश्वात्मा' इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यथासाध्य प्रयत्न कर रहा है।

इस पत्रिका में बिना किसी संकीर्ण साम्प्रदायिक भेदभाव के, सभी धर्मों की मूलगत तात्त्विक एकता को दृष्टि में रखते हुए प्राचीन आप्तग्रन्थों के आधार पर धार्मिक लेख प्रकाशित किये जाते हैं और प्राचीन काल से चले आ रहे परिवेश में प्रासंगिता और सार्थकता का प्रतिपादन किया जाता है। कहना न होगा कि धर्म ही भारत जैसे प्राचीन देश के इतने सुदीर्घ अस्तित्व का मेरुदंड रहा है और धर्म तथा आध्यात्मिकता के बल पर ही वह विश्व के गुरु के रूप में समादृत होता रहता है। यही नहीं, धर्म और आध्यात्मिकता की नींव पर ही हम भारत के भविष्य का भी निर्माण कर सकते हैं।

'विश्वात्मा' में सभी धर्मों और सम्प्रदायों के महापुरुषों— तथा जगद्गुरुओं, विद्वानों और पूज्य व्यक्तियों के लेख दिये जाते हैं जिनमें धर्म, अध्यात्म और नैतिक आचरण से सम्बद्ध सभी विषयों की चर्चा रहती है। '**विश्वात्मा**' में लेखों की भाषा **हिन्दी**, **संस्कृत** और **अंग्रेजी** होती है जिससे तीनों भाषाओं के ज्ञाता उनका रसास्वादन कर सकते हैं।

इस प्रयत्न में यथासाध्य 'विश्वात्मा' योगदान कर रहा है। इस पत्र का जितना प्रचार-प्रसार बढ़े और जितनी इसकी श्रीवृद्धि हो, उतना ही श्रेयस्कर होगा।

जगदीशचन्द्र ऋषि
संस्थापक एवं अध्यक्ष

अथ

महाभारत युद्ध की विभीषिका से क्षुब्ध धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयों तथा पत्नी सहित शरशय्या पर लेटे भीष्म पितामह के सन्निकट गये और उनसे अनेक प्रकार की शंकाओं का समाधान करने का आग्रह किया। ज्यों ही पितामह ने उपदेश देना प्रारम्भ किया, त्यों ही द्रौपदी ने किंचित् हंस दिया। पितामह मौन हो गये और अविचलित भाव से द्रौपदी से पूछने लगे, "बेटी, तू क्यों हँसी ?" द्रौपदी ने सकुचाकर कहा, "दादाजी, मेरे अविनय को क्षमा करें। मुझे यों ही हँसी आ गयी।" पितामह ने कहा, "नहीं बेटी, तू अभिजात परिवार की संस्कारी वधू है। तू यों ही नहीं हँस सकती। इसके पीछे कोई रहस्य अवश्य होना चाहिए।" द्रौपदी ने पुनः कहा "नहीं दादाजी, कुछ रहस्य नहीं है। पर-यदि आप आज्ञा करते हैं तो मैं पुनः क्षमायाचना कर पूछती हूँ कि आज तो आप बड़े ही गम्भीर होकर कर्तव्य पालन का उपदेश दे रहे हैं, परन्तु जब दुष्ट कौरव, दुःशासन आप सबके सभा में विद्यमान होते हुए मुझे निर्वस्त्र कर रहा था, तब आपका ज्ञान और आपकी बुद्धि कहाँ चली गयी थी ? वह बात स्मरण आते ही मैं अपनी हंसी न रोक सकी। मुझसे अशिष्टता अवश्य हुई है जिसके लिये मैं अत्यन्त लज्जित हूँ। क्षमा चाहती हूँ।" पितामह द्रौपदी के वचन सुनकर बोले, "बेटी, क्षमा माँगने या लजाने की कोई बात नहीं है। तुमने ठीक ही जिज्ञासा की है। इसका उत्तर

यह है कि उस समय मैं कौरवों का अन्न खा रहा था जो शुद्ध नहीं था, विकारी था। इसी से मेरी बुद्धि मारी गयी थी। परन्तु अर्जुन के तीखे बाणों से मेरे शरीर का अशुद्ध रक्त निकल गया है। अतः अब मैं अनुभव कर रहा हूं कि मैं जो कुछ कहूंगा वह मानव मात्र के लिए कल्याणप्रद होगा।"

महात्माओं का अनुभव है कि अन्तिम समय में मनुष्य का हृदय निर्मल हो जाता है। वह मायामोह से मुक्त हो जाता है। ऐसे समय उसकी वाणी से सत्य स्फुटित होता है।

हिन्दी के भक्त कवि सूरदास का जब अन्तिम समय आया तो उनके आचार्य गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने देखा, सूर गा रहे थे।

"खंजन नयन रूप रस माते,

अतिसे चारू चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते।

चलि चलि जात निकट स्रवननि के उलटि पलटि ताटंक फबाते

सूरदास अंजन गुन अटके नतरु अबहिं उडि जाते॥"

उन्होंने अपने भक्तों से कहा, "पुष्टि मार्ग को जहाज जात है जो कछू जाननो होए सो जान लो।" गोस्वामी को सम्मुख देख सूरदास ने भगवच्चर्चा कर महा प्रयाण किया।

पितामह की भी आसन्न मृत्यु के समय हृदय की विशुद्धावस्था थी। तभी धर्मराज ने उनसे पृच्छा की कि वे ऐसा कोई सरल उपाय बता दें जिससे लोक कल्याण साधित हो सके। इसी अनुरोध पर पितामह ने जीव-जगत् के अन्तर में स्पंदित परम सत्य का साक्षात्कार कराने वाले विष्णु के सहस्र नामों

का महत्व प्रतिपादित किया। ऋषि, मुनि, महात्मा द्रष्टा होते हैं। वे त्रिकाल सत्य को प्रत्यक्ष करते रहते हैं। शुद्ध बुद्ध पितामह ऐसे ही त्रिकालदर्शी महानुभाव थे। उन्होंने भगवान् विष्णु के नामों का महत्व समझा था और कल्मष से आपूर कलियुग के व्यक्तियों के उद्धार के लिये विष्णु सहस्रनाम के निरन्तर स्मरण का उपदेश दिया था।

संसार के प्रत्येक कण में परम सत्ता का आवास है। अतः हम उसके अंश को जिस किसी भी नाम से सम्बोधित करें, उसे परमात्मा का ही नाम कहा जाएगा। पितामह ने भगवान् के सहस्र नामों का उच्चारण किया है। पर प्रत्येक नाम में भी अनेक अर्थ गर्भित हैं। इससे नामों की संख्या सहस्राधिक भी हो जाती है। प्रत्येक नाम के सम्बन्ध में कवि मतिराम के शब्दों में यही कहा जा सकता है, "ज्यों-ज्यों निहारिये नियरे हो नैननि त्यों त्यों खरी निकरे सुनिकाई।" प्रत्येक नाम को "नियरे" से अर्थात् गहराई से "निहारने" से अनेक अर्थों की प्रतीति होती है।

डा० पांडुरंग राव की ऋतम्भरा प्रज्ञा है। वह हृदय की भक्ति के विमल प्रकाश से ज्योतित है। इसी से वह विष्णु के प्रत्येक नाम में अधिष्ठित विविध अर्थों का उद्घाटन करने में समर्थ हुई है। इस कार्य में वेद, उपनिषद्, गीता, महाभारत, भागवत पुराण तथा समस्त भारतीय साहित्य, व्याकरण आदि का भी सहारा लेना पड़ा है जो डा० राव को सहज साध्य है। सहस्रनाम की शब्द शक्ति का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि वह, "महाभारत की महती वाणी का ही प्रशस्ति पाठ है। मानव अपनी मेधा से जिस अक्षर को स्पष्ट रूप से प्राप्त कर लेता है, वही मन्त्र बन जाता है और उसका जाप

जिस भावना से किया जाता है, वह साकार हो जाती है। उदाहरण के लिये हमारे महर्षियों ने "ओ३म्" को परमात्मा की ध्वनि ही नहीं, स्वयं परमात्मा ही कहा है जिसके अहर्निश मनन से मनुष्य स्वयं मननीय हो जाता है। विद्यापति की राधा क्षण-क्षण माधव-माधव रटते-रटते स्वयं माधव बन जाती है।

अनुखन माधव माधव सुमिरत सुंदरि भेल मधाई।
ओ निज भाव सुभावहिं विसरल अपनेइ गुन लुबुधाई॥

तुलसी भी इसी भाव को ध्वनित करते हुए कहते हैं कि "जानत तुमहि तुमहि होई जाई।" जो तुम्हें जानता है, वह तुम ही हो जाता है।

विष्णु भगवान् के प्रत्येक नाम में वही शक्ति है जो उपनिषदों में "ओ३म" के सम्बन्ध में गायी गयी है। प्रत्येक नाम में ही नहीं, नाम के अन्तर में छुपी हुई अनेक अर्थ ध्वनियों में भी समान शक्ति है। उसे पहचानने—अनुभव करने—की आवश्यकता है। प्रत्येक नाम भगवान की महिमा से मंडित है। डा० राव के भक्त हृदय ने उसे पहचाना है और अनुभव किया है। उन्होंने लोक कल्याण के लिए उसका निर्देश मात्र नहीं किया है, उसे सुखबोध भाषा में व्याख्यायित कर समझाने का सफल प्रयास भी किया है। भगवान् विष्णु के एक नाम से ही सारा शरीर तथा मन झंकृत हो उठता है। परन्तु जब हम लगातार सहस्रनामों का उच्चारण करते हैं तो मानों सारा ब्रह्मांड ही प्रतिगुंजित हो जाता है। क्षण भर के लिए हमारा शरीर भान ही तिरोहित हो जाता है। यही भाव-समाधि है।

नामोच्चार से शरीर के भीतर के चक्र भी जाग्रत हो उसे

स्वस्थ बनाते हैं। यदि नाम जाप मानसिक तथा शरीर स्वास्थ्य की दृष्टि से करना अभीष्ट हो तो उसकी विधि से परिचित होना आवश्यक है। किस नाम के स्मरण से साधक स्वस्थ रह सकता है, इसके लिए गुरु से दीक्षा लेने का सन्तमत में बड़ा आग्रह है। "कबीर सद्गुरु ना मिला रही अधूरी सीख।" गुरु की नाम दान प्रविधि को ही दीक्षा कहा जाता है। दीक्षा के उपरान्त नाम कीर्तन आदि का जो उपदेश दिया जाता है, उसे शिक्षा कहते हैं। शिक्षा का एक अर्थ ध्वनि शास्त्र भी है। हमारे ऋषियों ने अपौरुषेय ज्ञान को अखंडित रखने के लिए शिक्षा शास्त्र की रचना की थी क्योंकि प्रत्येक वर्ण की उच्चारण-क्रिया का शरीर के भीतरी अवयवों पर निश्चय ही प्रभाव पड़ता है। गुरु शिष्य की प्रवृत्ति, प्रकृति और लगन के अनुसार उसे नाम की दीक्षा देता है। नाम का मनन होने से वह मन्त्र बन जाता है। इसलिए नाम के वर्णों का उच्चारण अशुद्ध नहीं होना चाहिए। मान लीजिए किसी साधक को गुरु से "हरे राम, हरे कृष्ण" मन्त्र प्राप्त हुआ। यदि वह "हरे" के स्थान पर "अरे" और कृष्ण के स्थान पर "किसन" कहने लगे तो क्या मन्त्र फलप्रद होगा? प्रत्येक वर्ण का उच्चारण-स्थान है। शरीर के भीतरी अवयवों पर उसका इष्टानिष्ट प्रभाव पड़ता है। "ह" के स्थान पर "अ" कहने और "कृष्ण" के स्थान पर "किसन" कहने से वर्णों का उच्चारण-स्थान बदल जाएगा और परिणामतः मन्त्र जाप का इष्ट फल प्राप्त नहीं होगा।

जाप की शिक्षा के मूल में वैज्ञानिकता है। कार्य सिद्धि के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है जिसे अध्यात्म भाषा में विद्या, श्रद्धा और उपनिषद् कहा जाता है। विद्या से तात्पर्य

प्रविधि, श्रद्धा से विश्वास और उपनिषद् से रहस्य ज्ञान लेना चाहिए। बार-बार नामोच्चारण के पीछे भी एक रहस्य है। नामोच्चार ध्वनि का सतत या निश्चित काल तक प्रवाह है। जगत् ध्वनि से आपूर है। उसका प्रारम्भ ही शब्द ध्वनि "ओ३म्" से हुआ है। उसी ने सृष्टि के कण-कण को गति प्रदान की है। इसी से उसका नाम जगत् है क्योंकि वह सतत गतिमान है, उसमें सतत चांचल्य है। हम प्रत्येक ध्वनि को सुन नहीं पाते। हमारे शरीर में सतत अनाहत नाद होता रहता है। सिद्ध योगी ही उसे सुन पाते हैं। हमारी श्रवण-शक्ति बहुत सीमित है। दिव्य श्रवण तो सिद्ध योगियों के ही होते हैं।

गुरुपदिष्ट भगवन्नाम का श्रद्धा के साथ स्मरण होना चाहिए। तुलसी ने भी अनुभव किया है कि श्रद्धा और विश्वास के बिना सिद्ध भी अपने अन्तःकरण में स्थित ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर सकते। उच्चारण वैखरी, मध्यमा, पश्यंती और परा वाणियों से क्रमशः होता है। शंका हो सकती है कि पश्यन्ती और परा वाणी में ध्वनि कहाँ सुनाई पड़ती है। पर मन्त्र शब्द का ध्यान ही ध्वनि तरंग उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। योगी ध्यान तथा समाधि अवस्था में अपर शब्द सुन लेते हैं। यहाँ स्मरण रहे कि शब्द पर, अपर तथा भौतिक होते हैं। शब्द की शक्ति अपार है। इस जगत् के ८२ या इससे भी अधिक तत्व खोजे जा चुके हैं। प्रत्येक अणु तत्व में इलैक्ट्रोन, प्रोट्रोन और न्यूट्रोन हैं। इलैक्ट्रोन विद्युत तरंग है। नेगेटिव, पोजीटिव और न्यूट्रल स्थिर दीखने वाले तत्व को चंचल बनाने के लिए बाह्य शक्ति का समावेश आवश्यक है। गुरु मन्त्र में उसे चंचल बनाने की शक्ति है।

प्राचीन ग्रन्थों में ऋषियों की वाणी स्फुरित होने का कारण यह है कि उनके शब्दों में सामर्थ्य सिद्ध हो गया था। भगवान् के नाम विशेष के सतत जाप से उन्होंने सिद्धि प्राप्त की थी। कहा भी है "जपात् सिद्धिर्न संशयः"। नाम स्मरण जाप अहर्निश हो सकता है और निश्चित काल तक भी। वैखरी जाप में समतालता त्रुटिपूर्ण हो सकती है। आध्यात्मिक चेतना जागृत करने के लिए मानसिक जाप श्रेष्ठ है। जाप सकाम भाव से करने पर भी फल देता है और निष्काम भाव से जाप आध्यात्मिक साधना के लिए होना चाहिए। भगवान् के सहस्र नाम में जो भी नाम आपको प्रिय हो उसका जाप करने से आपको निश्चय ही मानसिक शान्ति प्राप्त होगी। मानसिक शान्ति का शरीर स्वास्थ्य पर भी प्रभाव पड़ता है। चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में अल्ट्रा साउंड (पराश्रव्य) नामक नई चिकित्सा पद्धति विकसित हो रही है। इसमें ध्वनि की अत्यन्त सूक्ष्म एवं तीव्र तरंगें पैदा की जाती हैं जिससे शरीर के अंगों में उत्पन्न विकार ठीक किए जा सकते हैं।

पितामह ने भगवान के अपने समय तक प्रचलित नामों का ही नहीं, परवर्ती नामों का भी उल्लेख किया है। इससे उनकी सार्वकालिक—त्रिकालदृष्टि का आभास होता है। डा० राव के अर्थान्वेषण में भी ऐसी नयी अर्थ छवि झलक जाती है जो उनकी उन्मेषकारिणी प्रतिभा का परिचय कराती है।

सारांश यह है कि विष्णु सहस्रनाम का उनके द्वारा किया गया विवेचन विद्वत्तापूर्ण ही नहीं, विदग्धतापूर्ण भी है। वह भक्त हृदय की स्फुरित वाणी है। उससे बुद्धि तृप्त होती है, हृदय भाव-प्रवण होता है। श्रद्धा और इडा का यह दुर्लभ अद्वैत संगम डा० राव ने साधा है। मुझे विश्वास है कि इस

विवेचन से भक्तों का भावुक हृदय तो रसार्द्र होगा ही, बुद्धि-जीवियों को भी सन्तोष होगा। भाषा की कितनी गहरी पकड़ विवेचक में है, इसे जानकर वे निस्संदेह चमत्कृत होंगे और उनके हृदय से मेरे समान ही उनके प्रति "साधुवाद" निस्सृत होगा।

विनय मोहन शर्मा

ई-६/एम. आई. जी.
अरेरा कालोनी
भोपाल—४६२०१४

—०—

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

अद्वैतसिद्धांत के अधिकारी प्रवक्ता आचार्य शंकर ने 'गेयं गीतानामसहस्र' कहकर भगवद् गीता और विष्णु सहस्रनाम को समान प्रतिपत्ति के साथ देखा है। अद्वैतवादी आचार्य को इन दोनों प्रशस्त रचनाओं में अद्वैत की ही भावना दिखाई पड़ी। उनके विचार में गीता और सहस्रनाम में समस्त भारतीय दर्शन का सार समाया हुआ है। गीता का पाठ करना और गीताचार्य भगवान् का हजार नामों से गुणगान करना प्रत्येक प्राणी का परम कर्तव्य है, यही आचार्य जी का अभिमत है। स्थूल दृष्टि से देखने पर गीता और सहस्रनाम में कोई विशेष साम्य नहीं दिखाई देता, सिवाय इसके कि दोनों परमपिता परमात्मा के प्रशस्ति-पाठ हैं। गीता में जिस परमार्थ तत्त्व की व्याख्या सरल शब्दों, सुबोध वाक्यों और विवेचनात्मक युक्तियों के द्वारा प्रस्तुत की गई है, सहस्रनाम में उसी परम तत्व का बोध केवल भगवान् के विभिन्न गुणों का वर्णन करने वाले दिव्य नामों से कराया गया है। गीता में जो बातें कही गई हैं, वे स्मरण, मनन और आचरण के लिए हैं, केवल पठन-पाठन या जाप के लिए नहीं। लेकिन सहस्रनाम में जो हजार नाम हैं, उनके स्मरण मात्र से मन पावन बनता है।

युधिष्ठिर की विशेष इच्छा पर ही आचार्य भीष्म ने उद्धार का यह सरल उपाय लोककल्याण की भावना से प्रेरित होकर उनके सामने रखा। अनेक प्रकार के धार्मिक प्रश्नों पर धर्मनन्दन और गंगासुत के बीच में बातचीत होती है।

धर्मराज के सभी प्रश्नों, संशयों और जिज्ञासाओं का शंतनु के पुत्र शांतनव प्रशांत मन से सही समाधान प्रस्तुत करते हैं। अंत में ज्ञानामृत का सर्वस्व एक ही घूंट में पीने की लालसा में धर्मराज भीष्म पितामह से निवेदन करते हैं कि कोई ऐसा उपाय बताएं जिससे कम से कम प्रयास में अधिक से अधिक आनंद प्राप्त हो जाए। इसी अनुरोध पर पितामह भीष्म हजार नामों में भगवान् की अनंत विभूति और असंख्य गुणों का वर्णन करते हैं और कहते हैं कि अनेक ऋषिमुनियों ने पहले भी इन शब्दों में भगवान् का गुणगान किया था और ये बहुत ही विख्यात नाम हैं। ये शब्द लौकिक अर्थ वाले शब्द नहीं हैं। इनमें से प्रत्येक शब्द या प्रत्येक नाम भगवान् के किसी अंश को ऊर्जस्वित स्वर में मुखरित कर देता है। वैसे संसार का प्रत्येक नाम परमात्मा का ही नाम है। 'स सर्वनामा, स हि विश्वरूपः' अक्षरशः ठीक है। जब हजार नामों के द्वारा भगवान् का गुणगान किया जाता है तो शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किए हुए समस्त संसार की रक्षा के लिए कटिबद्ध सर्वात्मा का, स्तोता के सामने, साक्षात्कार हो जाता है। वैसे देखा जाए तो सहस्रनाम या 'नाम सहस्र' गीता का ही संक्षिप्त रूप है। गीता में भगवान् का रूपवैभव है तो सहस्रनाम में उनकी नामरमणीयता है। भगवान् कहां पर किस रूप में, किस प्रकार से और किस किसको प्राप्त होता है, इसी का विस्तृत वर्णन गीता में है जब कि वह सहस्रनाम के प्रत्येक अक्षर में, प्रत्येक स्वर में, व्यंजन में, मात्रा में, उतार-चढ़ाव में विद्यमान हैं।

गीता में प्रतिपाद्य विषय को ही सहस्रनाम में संक्षेप में और सारांश के रूप में क्यों कहना पड़ा, इसका भी कारण स्पष्ट है। गीता का उपदेश स्वयं भगवान् ने किया था, अपने आप्त

बंधु, प्रियजन और अनन्य भक्त अर्जुन को। अर्जुन अपने कर्त्तव्य से पराङ्मुख हो रहे थे, लड़ने के लिए तैयार नहीं हो रहे थे। अचानक उनका दिल कमज़ोर हो गया था। चारों तरफ अपने सगे संबंधियों को देखकर उनके मन में मोहमयी ममता की भावना पैदा हुई जिस पर कर्त्तव्य की विजय होनी चाहिए थी, धर्म की प्रतिष्ठा होनी चाहिए थी। अर्जुन की इस जटिल मन:स्थिति को सुलझाने के लिए भगवान् कृष्ण को कई प्रकार की युक्तियों और उक्तियों के द्वारा धर्म और कर्म के बीच में सामंजस्य की आवश्यकता समझानी पड़ी। अपने मन की बात स्पष्ट करने के लिए उनको अपना विश्व-व्यापी विराट् स्वरूप भी प्रदर्शित करना पड़ा। इतने विस्तार से समझाने के बाद ही अर्जुन के मुंह से निकला, 'आप जैसा कहेंगे, मैं वैसा करूंगा' (करिष्ये वचनं तव)।

लेकिन पितामह भीष्म के सामने यह समस्या नहीं थी। असल में उनके सामने कोई समस्या ही नहीं थी। शांत चित्त युधिष्ठिर के मन में जो भी जिज्ञासा प्रकट हुई थी, उसी का समाधान करना आचार्य का काम था। और वह आचार्य भी इतने स्थितप्रज्ञ थे कि युद्ध में जिस दल के विरुद्ध उन्होंने शस्त्र धारण किए थे, उसी विपक्ष के प्रधान योद्धा धर्मराज को अपने सामने देखते हुए भी वह तनिक भी विचलित नहीं हुए; बल्कि उनको संतुष्ट और प्रसन्न बनाने का हर प्रकार से प्रयत्न कर रहे थे। वह स्वयं अजेय थे। पक्ष या विपक्ष में कोई ऐसा योद्धा नहीं था जो उन पर विजय प्राप्त कर सके। फिर कुशल प्रशासक दुर्योधन ने भी अपनी समस्त सेना को सतर्क करते हुए कह दिया था कि सब लोग मिलकर भीष्म की रक्षा करें (भीष्ममेवाभिरक्षंतु भवंत: सर्व एव हि)। इतने सुरक्षित होते हुए

भी उन्होंने अपनी हार स्वयं मान ली, अपने अंत को स्वयं आमंत्रित कर लिया। केवल अच्छी घड़ियों की प्रतीक्षा हो रही थी। मृत्यु शय्या पर लेटे हुए भीष्म अपने विपक्ष के नेता धर्मनन्दन को संसार के सर्वश्रेष्ठ ज्ञान का उपदेश दे रहे थे और वह भी अपनी आखिरी सांस तक। इतने दृढ़व्रती आचार्य का यह अंतिम उपदेश है। लेकिन उनके पास इतना समय नहीं था कि जो कुछ कहना था विस्तार से पूरा-पूरा बता सकें। इसलिए उन्होंने अपने विचारों को सांकेतिक शैली में छोटे-छोटे शब्दों में, सुन्दर से सुन्दर नामों में और विज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया था। उनको यह भी मालूम था कि योग्य श्रोता युधिष्ठिर इन सभी बातों की गहराई इशारे भर से समझ सकते हैं। सहस्रनाम आचार्य का अनुशासन है जब कि गीता शास्ता का शासन है।

यह बात ध्यान देने की है कि शासन के बाद ही अनुशासन होता है। भगवद् गीता का प्रसंग महाभारत के भीष्म पर्व में आता है। यह भारत युद्ध का पूर्वांग है। सहस्रनाम इसी महान् ग्रंथ के अनुशासन पर्व में आता है जो कि युद्ध के बाद का है। सहस्रनाम के प्रत्येक नाम का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए तो हर नाम के पीछे गीता का कोई न कोई विचार प्रतिध्वनित होता हुआ दिखाई देता है। भगवान् का विश्व रूप जब अर्जुन के सामने प्रकट हुआ तब प्रसन्नता से पुलकित अर्जुन का मन बहुत कुछ कहना चाहता था। लेकिन अपनी आंतरिक प्रसन्नता को प्रकट करने के लिए उनको उपयुक्त भाषा नहीं मिली थी। विश्वात्मा के विराट् रूप को सामने पा कर उनकी वाणी मौन नहीं तो कम से कम विस्मित और संवृत हुई थी। उनके मन में जो विचार अनकहे रह गए थे, वे सब सहस्रनाम में प्रकट होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि गीता का ही सहस्र विस्तार

(या समान हास) हमको इस सहस्रनाम में दिखाई देता है। गीता का भाव-विलास सहस्रनाम में सहस्रशीर्षा पुरुषोत्तम का पुष्प-हास बन जाता है। गीता में सभी उपनिषदों का सार है और उपनिषदों को प्रायः वेदांत की संज्ञा दी जाती है। अतः समस्त वेदों का सार उपनिषदों से होते हुए गीता के द्वार से सहस्रनाम में आकर टिक जाता है। इसलिए यह माना जाता है कि सहस्रनाम के माध्यम से भगवान् का स्मरण करने मात्र से प्राणियों के समस्त बंधन पलभर में मिट जाते हैं और पाप कट जाते हैं।

लौकिक दृष्टि से देखने पर यह बात आसानी से समझ में नहीं आती कि शब्द मात्र के उच्चारण से पाप कैसे कट सकते हैं। लेकिन कुछ गहराई के साथ विचार करने से बात स्पष्ट हो जाती है। परम पद की प्राप्ति के इच्छुक करोड़ों प्राणियों के अंदर अक्षर के रूप में भगवान् विद्यमान हैं। बाहर जितना संसार है, वह सारा का सारा शरीर के अंदर समाया हुआ है। बाहर का जो आकाश है, भीतर वही शब्द या अक्षर के रूप में कभी मुखरित होता है, कभी सुप्त रहता है, कभी सुषुप्त रहता है और कभी-कभी एकदम लुप्त भी प्रतीत होता है। पर अक्षर हमेशा अक्षय होता है। वह कभी क्षीण नहीं होता, केवल लीन होता है अपने आप में। इस प्रकार अक्षर जहां से निकलता है, जहां पर उभरता है और जिसमें पिघलता है, लीन होता है, उसी का पता लगाना अक्षर-भारती के आराधकों का काम है। इसी दृष्टि से सहस्रनाम के प्रत्येक नाम का स्मरण, मनन और अध्ययन करना चाहिए।

सहस्रनाम की शब्द शक्ति का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर पता चलता है कि यह महामानव की महती वाणी का ही प्रशस्तिपाठ है। मानव अपनी मेधा से जिस अक्षर को स्पष्ट

भी उन्होंने अपनी हार स्वयं मान ली, अपने अंत को स्वयं आमंत्रित कर लिया। केवल अच्छी घड़ियों की प्रतीक्षा हो रही थी। मृत्यु शय्या पर लेटे हुए भीष्म अपने विपक्ष के नेता धर्मनन्दन को संसार के सर्वश्रेष्ठ ज्ञान का उपदेश दे रहे थे और वह भी अपनी आखिरी सांस तक। इतने दृढ़व्रती आचार्य का यह अंतिम उपदेश है। लेकिन उनके पास इतना समय नहीं था कि जो कुछ कहना था विस्तार से पूरा-पूरा बता सकें। इसलिए उन्होंने अपने विचारों को सांकेतिक शैली में छोटे-छोटे शब्दों में, सुन्दर से सुन्दर नामों में और विज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया था। उनको यह भी मालूम था कि योग्य श्रोता युधिष्ठिर इन सभी बातों की गहराई इशारे भर से समझ सकते हैं। सहस्रनाम आचार्य का अनुशासन है जब कि गीता शास्ता का शासन है।

यह बात ध्यान देने की है कि शासन के बाद ही अनुशासन होता है। भगवद् गीता का प्रसंग महाभारत के भीष्म पर्व में आता है। यह भारत युद्ध का पूर्वांग है। सहस्रनाम इसी महान् ग्रंथ के अनुशासन पर्व में आता है जो कि युद्ध के बाद का है। सहस्रनाम के प्रत्येक नाम का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए तो हर नाम के पीछे गीता का कोई न कोई विचार प्रतिध्वनित होता हुआ दिखाई देता है। भगवान् का विश्व रूप जब अर्जुन के सामने प्रकट हुआ तब प्रसन्नता से पुलकित अर्जुन का मन बहुत कुछ कहना चाहता था। लेकिन अपनी आंतरिक प्रसन्नता को प्रकट करने के लिए उनको उपयुक्त भाषा नहीं मिली थी। विश्वात्मा के विराट् रूप को सामने पा कर उनकी वाणी मौन नहीं तो कम से कम विस्मित और संवृत हुई थी। उनके मन में जो विचार अनकहे रह गए थे, वे सब सहस्रनाम में प्रकट होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि गीता का ही सहस्र विस्तार

(या समान हास) हमको इस सहस्रनाम में दिखाई देता है। गीता का भाव-विलास सहस्रनाम में सहस्रशीर्षा पुरुषोत्तम का पुष्प-हास बन जाता है। गीता में सभी उपनिषदों का सार है और उपनिषदों को प्राय: वेदांत की संज्ञा दी जाती है। अत: समस्त वेदों का सार उपनिषदों से होते हुए गीता के द्वार से सहस्रनाम में आकर टिक जाता है। इसलिए यह माना जाता है कि सहस्र-नाम के माध्यम से भगवान् का स्मरण करने मात्र से प्राणियों के समस्त बंधन पलभर में मिट जाते हैं और पाप कट जाते हैं।

लौकिक दृष्टि से देखने पर यह बात आसानी से समझ में नहीं आती कि शब्द मात्र के उच्चारण से पाप कैसे कट सकते हैं। लेकिन कुछ गहराई के साथ विचार करने से बात स्पष्ट हो जाती है। परम पद की प्राप्ति के इच्छुक करोड़ों प्राणियों के अंदर अक्षर के रूप में भगवान् विद्यमान हैं। बाहर जितना संसार है, वह सारा का सारा शरीर के अंदर समाया हुआ है। बाहर का जो आकाश है, भीतर वही शब्द या अक्षर के रूप में कभी मुखरित होता है, कभी सुप्त रहता है, कभी सुषुप्त रहता है और कभी-कभी एकदम लुप्त भी प्रतीत होता है। पर अक्षर हमेशा अक्षय होता है। वह कभी क्षीण नहीं होता, केवल लीन होता है अपने आप में। इस प्रकार अक्षर जहां से निकलता है, जहां पर उभरता है और जिसमें पिघलता है, लीन होता है, उसी का पता लगाना अक्षर-भारती के आराधकों का काम है। इसी दृष्टि से सहस्रनाम के प्रत्येक नाम का स्मरण, मनन और अध्ययन करना चाहिए।

सहस्रनाम की शब्द शक्ति का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर पता चलता है कि यह महामानव की महती वाणी का ही प्रशस्तिपाठ है। मानव अपनी मेधा से जिस अक्षर को स्पष्ट

रूप से प्राप्त कर लेता है, वही मंत्र बन जाता है। उसी में चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि का अंश विद्यमान होता है। स्वच्छ हृदय से निकलने वाली स्पष्ट वाणी प्रकाशात्मा के ओज, तेज और दीप्ति का प्रतिनिधित्व करती है। समस्त वाणी के अधिष्ठाता के भी स्वामी (सर्ववागीश्वरेश्वर) होने के कारण भगवान् को 'वाचस्पतिरुदारधी' और 'वाचस्पतिरयोनिज' कहा गया है। जब आदमी अपने को अपने बाह्य आवरण से और अपने शरीर से भी अलग कर पाता है तभी वह अपने आप को पाता है। ऐसी समाहित दशा में मुंह से जो वाणी निकलती है, वह ईश्वर का ही मुखरित रूप है। सहस्रनाम के सारे नाम इसी मन:स्थिति के द्योतक हैं। यही कारण है कि इन नामों का स्मरण मात्र ही मर्त्य को अमर बना देता है।

अमर गायक नारद से लेकर अधुनातन संतों तक सभी ने नाम के महत्व को मुक्त-कण्ठ से गाया है। गोस्वामी तुलसीदास राम के नाम को राम से भी महान् मानते थे क्योंकि मर्यादा पुरुषोत्तम राम के पावन जीवन से केवल अयोध्यावासी ही लाभान्वित हो सके थे जब कि राम के नाम से तीनों लोकों का उद्धार हुआ था। यही बात संत त्यागराज भी दोहराते हुए कहते हैं—"राम नाम रमणीय है, राम परम अभिराम"। उनके अनुसार राम का चिंतन और उनके नाम का स्मरण अपने में समग्र और सात्त्विक साधना है। जिनको इन दोनों का सहारा मिला है, उनको और कहीं भटकना नहीं पड़ता। भक्त शिरोमणि प्रह्लाद ने जिस नवधा भक्ति का प्रचार किया था, उसमें भी स्मरण का महत्वपूर्ण स्थान है। भक्ति के नौ मार्गों का वर्णन करने में जब स्मरण का प्रसंग आता है तो उसके साथ भगवान् विष्ण का नाम जोड़ा जाता है

(विष्णोःस्मरणम्)। यहां पर 'विष्णु' शब्द से केवल शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णु से ही आशय नहीं है, बल्कि समस्त चराचर सृष्टि में सर्वात्मना फैले हुए सर्वात्मा सर्वेश्वर से है। वास्तव में विष्णु सहस्रनाम में शिव, केशव, रुद्र, सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, आदि समस्त देवताओं के नाम आते हैं। सहस्रनाम के अंत में आचार्य भीष्म के मुंह से जो ध्यान श्लोक निकलता है उसमें शिव और केशव का सुन्दर सामंजस्य ध्वनित होता है। "सहस्ररूपाय नमः शिवाय, सहस्र नाम्ने च जनार्दनाय"।

इससे भी आश्चर्य की बात यह है कि सिद्धवाक् भीष्म पितामह के मुंह से भगवान् के कुछ ऐसे नाम निकलते हैं जिनमें महाभारत के समय के बाद प्रचलित और प्रवर्तित अनेक धर्मों के संदेश का सार निहित है। जैसे वर्धन वर्धमान, सिद्धार्थ आदि। भगवान् के १० प्रसिद्ध अवतारों का भी किसी न किसी रूप में सहस्रनाम में उल्लेख मिलता है। इतना ही नहीं, सृष्टिकर्ता की सृष्टि में जितने पशु-पक्षी हैं, पेड़-पौधे हैं, जड़-चेतन पदार्थ हैं, सब को भगवान् के प्रकट रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। बरगद, अंजीर, पीपल आदि वृक्षों में, किरणों में, पानी में, हवा में, आग में, वीरों में, शूरों में, धीरों में, प्राणियों में, प्राण में, प्रणव में, प्रमाण में, बीज में, स्तुति में, स्तोता में, धाता में, विधाता में, आधाता में, अर्थ में, अनर्थ में, योग में, भोग में, बैल में, सांप में, सिंह में, कमल में, चांद में, सूरज में, सोने में, सुगंध में सर्वत्र परमात्मा का ही अंश विद्यमान बताया गया है। यही सहस्रनाम का प्रतिपाद्य विषय है। इसीलिए विष्णु सहस्रनाम को किसी विशिष्ट देवी या देवता की प्रशस्ति के रूप में नहीं देखना चाहिए। वह

सर्वव्यापी सर्वात्मा का साकार निरूपण है और यह आकार अक्षर रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है। वास्तव में इस वसुमती में जितने नाम हैं, सब भगवान् के ही नाम हैं। उनमें भगवान् का रूप देखने के लिए गीली और रसीली आँखें चाहिए जिनको सहस्रनाम ही प्रदान कर सकता है।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि सारा संसार साधक की जीभ या जिह्वा में समाया हुआ है। मानव की चित्र विचित्र वर्णमाला जहां से निकलती है, वही उद्‌गम स्थान परमात्मा का संस्थान है। सहस्रनाम का पाठ करते समय साधक को अंतर्मुखी होकर यह सोचने का प्रयास करना चाहिए कि यह समस्त वाणी जहां से निकल रही है, वह स्थान कितना स्पृहणीय होगा क्योंकि वहीं से यह रमणीय शब्दयोजना प्रकट हो रही है। इस प्रकार मनन कर लिया जाए तो वह अनायास ही अपने अंदर अक्षर रूप में प्रतिष्ठित प्रकाशात्मा का साक्षात्कार कर सकेगा। इसीलिए कहा गया है कि जो अपनी जीभ या रसना पर विजय प्राप्त करता है, वह सारे संसार पर विजय प्राप्त कर सकता है (जितम् सर्वम् जिते रसे)। रसना माध्यम से रस-स्वरूप परमेश्वर को प्रत्यक्ष बना लेना सहस्रनाम के साधक का ध्येय होना चाहिए। जो नामधारी है, वह सर्वधारी होता है।

सहस्रनाम में कहीं-कहीं कुछ नाम बार-बार आते हैं। इसको पुनरुक्ति नहीं समझना चाहिए। जो नाम जिस संदर्भ में आता है, उसी परिप्रेक्ष्य में उसका आशय समझने का प्रयास होना चाहिए। जैसे श्रीमान् शब्द चार बार आता है और चारों प्रसंगों में इस के चार विशिष्ट अर्थ हैं। इसी प्रकार केशव शब्द दो बार आता है और दोनों स्थानों में इसके

दो अलग-अलग अर्थ हैं। 'वसु' शब्द को तो कई बार दोहराया जाता है। एक जगह पर एक ही श्लोक की पहली पंक्ति के अंत में 'वसुप्रद' शब्द आता है और उसके बाद तुरंत दूसरी पंक्ति का आरंभ भी वसुप्रद शब्द से ही होता है। ऐसा इसलिए हुआ है कि पुनरुक्ति का भ्रम दूर हो जाए और साधक यह समझने का सात्विक प्रयास करे कि कहां किस नाम का किस अर्थ में प्रयोग हो रहा है।

यह जरूरी नहीं है कि प्रत्येक नाम का पूरा-पूरा आशय समझ कर ही सहस्रनाम का पाठ किया जाए। अगर समझ में आता है तो भगवान् की कृपा समझनी चाहिए। अगर नहीं आता है तो भी कोई हानि नहीं है, लाभ ही लाभ है। आरंभ में केवल स्मरण का लाभ मिलेगा, बाद में मनन का और धीरे-धीरे अवबोध और आत्मीयता का। जैसे-जैसे भगवान् के दिव्य नाम बार-बार जिह्वा से निकलने लगते हैं, वैसे-वैसे भगवान् का अंश भक्त के अंग में समा जाता है। भगवान् की तरह वह भी स्वांग (अपने ही अंगों पर निर्भर) बन जाता है, स्वंग (अच्छे अंग वाला) भी बन जाता है और अंत में 'स्वास्यता' (स्वाधीन रसना) को भी प्राप्त कर लेता है।

सहस्रनाम का पाठ कभी भी किया जा सकता । जब मन प्रसन्न हो, शरीर स्वस्थ हो, दिल में उमंग हो, वही इसके लिए अनुकूल समय है। साधक चाहे कहीं भी हो, कोई भी काम कर रहा हो, भगवान् का नाम बोलने, सुनने या उसका मनन करने में कोई बाहरी परिस्थिति बाधक नहीं हो सकती है। कमलनयन का स्मरण करने मात्र से भीतर बाहर सब कुछ अमलिन बन जाता है। इसके लिए लम्बी भूमिका की भी आवश्यकता नहीं है। प्रणव के साथ सहस्रनाम का प्रारंभ

होता है और प्रणव के साथ ही उसका उपसंहार हो जाता है। सहस्रनाम की पवित्रता और महत्ता को सुरक्षित रखने के लिए दोनों तरफ प्रणवनाद पहरा देता है। असल में सहस्रनाम के अंतिम नाम 'सर्वप्रहरणायुध' में जिस तत्त्व की ओर संकेत है, वह प्रणव ही है। प्रणव तो परमात्मा का ही प्रतिरूप है। पतंजलि ने ठीक ही कहा था, 'तस्य वाचकः प्रणवः।' अगर हमें भगवान् को बुलाना है तो प्रणव के माध्यम से ही हमारी आवाज़ उन तक पहुँचेगी। यही प्रणव अपने हजार रूपों में इस सहस्रनाम में प्रकट होता है। इसलिए प्रणव के साथ पाठ आरंभ होना चाहिए और प्रणव के साथ ही उसका समापन।

भारत संहिता के प्रणेता भगवान् व्यास और भूरिदक्षिण भीष्म पितामह के हम चिर ऋणी हैं जिन्होंने पांचभौतिक सत्ता के सार प्रणव का मृदुल हास हमारे सामने इतने सुग्राह्य, सुबोध, सुलभ और सुन्दर शब्दों में प्रस्तुत किया है कि उनका उच्चारण मात्र हमें जीवन की बृहत् परीक्षा में उत्तीर्ण (और वह भी सयश) बना देता है। परीक्षा में जाने के पहले परीक्षार्थी जिस प्रकार पढ़े गए विषयों की रूप रेखा पर सरसरी निगाह से देखकर आत्म-विश्वास के साथ परीक्षा देने जाता है, उसी प्रकार आचार्य भीष्म के द्वारा प्रस्तुत यह 'दिव्य नाम सहस्र' प्रत्येक साधक और जिज्ञासु को अक्षय संबल प्रदान करता है। 'सहस्रनाम' का प्रत्येक नाम मनन का अक्षय स्रोत है।

"शास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिय'

२. विश्व ही भगवान् विष्णु

सहस्रनाम की भूमिका से स्पष्ट है कि ये हज़ारों नाम एक ही अक्षर 'प्रणव' अथवा ओंकार से निकले नाम कुसुम हैं। प्रत्येक नाम उसी आद्यक्षर के आकार प्रकार का सांगोपांग वर्णन करता है जिसे जानने पर सब कुछ जाना जा सकता है। इसीलिए सहस्रनाम का आरंभ प्रणव से होता है और पहला श्लोक इसी बीजाक्षर को पल्लवित कर उसी का उपाख्यान सुनाता है—

विश्वं विष्णुर्वषट्कारो भूतभव्यभवत्प्रभुः।
भूतकृद् भूतभृद् भावो भूतात्मा भूतभावनः॥

इस श्लोक में कुल मिलाकर नौ नाम हैं—विश्व, विष्णु, वषट्कार, भूतभव्यभवत्प्रभु, भूतकृत्, भूतभृत्, भाव, भूतात्मा और भूतभावन। इस नाम नवमी के साथ नामसहस्र का आरंभ होता है। अतः इसे सहस्रनाम का मंगलाचरण या नांदी श्लोक माना जा सकता है जिसमें केवल नाम सहस्र का ही नहीं, बल्कि समस्त वेदांत का सार निहित है।

पहला नाम 'विश्व' ब्रह्म का वाचक है। यह सारा संसार, जिसे यहां पर 'विश्व' कहा गया है, उसी विश्वात्मा का व्यक्त रूप है। मूल विराट् परमात्मा का न कोई रूप है और न रंग। प्रणव नाद की तरह वह केवल शब्द ब्रह्म के रूप में आकाश में सर्वत्र फैला हुआ है। जब तक वह आकाश रूपी ब्रह्म में व्याप्त रहता है, उसे न कोई सुन सकता है, न छू सकता

है, न देख सकता है न पा सकता है और न ले सकता है। वही निराकार, निर्लिप्त, निरंजन और निस्स्वन जब सुनने-छूने, देखने-परखने और लेने-देने का जीता जागता रूप धारण करता है, तब वह विश्व के रूप में हमारे सामने आता है। 'विश्व' शब्द की व्युत्पत्ति विश् धातु से होती है जिसका मतलब है—प्रवेश करना। निराकार ब्रह्म साकार जगत् की रचना करके उसमें प्रवेश करता है। लेकिन यह प्रवेश कुछ अजीब ढंग का होता है। स्रष्टा अपनी सृष्टि में इस प्रकार समा जाता है कि सृष्टि भी स्रष्टा में समाविष्ट-सी दिखाई देती है। विश्वात्मा विश्व में प्रविष्ट होता है और विश्व भी विश्वात्मा का अभिन्न अंग बन जाता हैं। 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तैत्तिरीय)—यह श्रुति वाक्य इसी तथ्य की ओर संकेत कर रहा है।

यह ध्यान देने की बात है कि सहस्रनाम का पहला नाम 'विश्वम्' नपुंसक लिंग है। ब्रह्म शब्द भी नपुंसक लिंग है। "ब्रह्मैवेदं विश्वम्" (मुंडक) के अनुसार ब्रह्म और विश्व समानार्थ वाचक शब्द हैं। असल में देखा जाए तो विश्व रूपी परब्रह्म न तो पुरुष है, न स्त्री। जब जैसा रूप धारण करता है, तब उसी रूप में दिखाई देता है। "नैव स्त्री न पुमानेषः नचैवायं नपुंसकः" वाली बात को पहला ही नाम स्पष्ट कर देता है। गीता में भगवान् का जो विश्व रूप आत्मयोग के अधिकारी अर्जुन के सामने प्रकट हुआ था, उसी का अनुगायन सहस्रनाम में मिलता है। इसी लिए 'विश्वम्' से इस स्तोत्र का आरंभ होता है।

दूसरा नाम 'विष्णु' भी विश्वात्मा के विश्वतोमुखी रूप को ही प्रकट करता है। यह भी 'विश्' धातु से निकला हुआ

शब्द है जिसके बाद निश्चयवाचक 'नुक्' प्रत्यय जुड़ा हुआ है। विश्व शब्द में मंगल व प्रशंसा का सूचक वकार है तो विष्णु शब्द में निश्चयवाचक नुकार का होना उपयुक्त है। निराकार प्रणव जब साकार होकर विश्व का रूप धारण करता है तो उसका पालन पोषण करने का दायित्व भगवान् विष्णु अपने ऊपर ले लेते हैं। यह मनन करने की बात है कि विष्णु सहस्रनाम में भगवान् विष्णु का नाम दूसरा है, पहला नहीं। पहला नाम विश्व है और दूसरा विष्णु है। जब तक विश्व की सृष्टि नहीं होती तब तक स्थिति कारक विष्णु का कोई प्रयोजन नहीं होता। प्रणव का पहला तत्व—विश्व—जब अपना प्रसार करता है तब उसको नियमित और सुरक्षित रखने का भार सर्वव्यापी विष्णु के ऊपर आता है। विष्णु का परम पद जिसको विद्वान् लोग अपने अंतरंग में निरंतर देखा करते हैं प्रणव का ही प्रकट और प्रभूत रूप है। विश्व जितना व्यापक है, भगवान् विष्णु भी उतने ही व्यापक हैं। एक ही महती सत्ता अनेक रूपों में दिखाई देती है और वही सत्ता भगवान् विष्णु की सनातन शक्ति है।

तीसरा नाम 'वषट्कार' बहुत ही सारगर्भित और सार्थक है। यज्ञ करते समय अग्निहोत्र में आहुति डालते समय 'वषट्' का उच्चारण होता है। इस मंत्र का उच्चारण करने वाले होता को वषट्कार कहते हैं। यहां पर भगवान् को वषट्कार की संज्ञा दी जा रही है। जिस संसार की रचना वह स्वयं कर लेता हैं, उसमें वह प्रविष्ट होता है, पालन-पोषण करता है और उसी को सब कुछ आत्मसात् करने वाली ज्वाला-माला में विलीन भी कर देता है। पहले नाम में सृष्टि का, दूसरे नाम में स्थिति का और तीसरे में लय का संकेत देकर पहले

तीन नामों में तीनों मूर्तियों की प्रतिष्ठा की गई है। लय की ओर संकेत करते हुए वषट्कार शब्द का प्रयोग करने में एक और विशेषता यह है कि परमात्मा को यज्ञ के साथ संपृक्त कर दिया गया है। नारायण उपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा भी गया है कि भगवान् स्वयं यज्ञ हैं और यज्ञ में उच्चरित होने वाले मंत्र भी वही हैं, यज्ञ में बाधा उपस्थित करने वाले इंद्र भी वही हैं, बाधाओं को पार करने के लिए मन में उत्पन्न होने वाली उद्विग्नता भी वही हैं—(त्वम् यज्ञः त्वम् वषट्कारः त्वम् इंद्रः त्वम् रुद्रः)। कार्य, कारण, कर्त्ता सब में वही महाकर्मा काम करता है। इस मूल विराट् की मूर्तित्रयी का मनोहर वर्णन इन पहले तीन नामों में मिलता है।

इसके बाद चौथा नाम है—भूतभव्यभवत्प्रभुः। नाम काफी लम्बा है। इतना लम्बा नाम देना शायद जरूरी भी हो गया था क्योंकि तीन मूर्तियों का वर्णन करने के बाद तीन कालों का संकलित रूप प्रस्तुत करना सहस्रनाम के प्रणेता का संकल्प था। अतीत, वर्तमान और भविष्य के प्रभु प्रणव के प्रकाश से ही इन तीनों कालों का संचालन कर रहे हैं। ध्यान देने की बात यह है कि इस नाम में जो चार शब्द हैं, वे चारों 'भू' धातु से निकले हैं। भू धातु का प्रयोग सत्ता के अर्थ में किया जाता है। प्रभु की सत्ता न केवल बीती हुई सत्ता है न चालू सत्ता है और न आगे चलने वाली सत्ता है। वह सनातन सत्ता है—पहले भी थी, अब भी है और आगे भी रहेगी। अनंत काल तक—जब काल स्वयं विलीन हो जाता है उसके बाद भी—वह सत्ता अक्षुण्णा रहेगी। जैसा कि उपनिषद् में कहा जा चुका है, वह तीनों कालों से परे है (त्रिकालातीतम्)। इसी मंत्र में इस नाम के शब्दों को दोहराते हुए कहा गया है "भूतम्

भवद्भविष्यत्—इति सर्वम् ओंकार एव"। प्रणव से ही अतीत, वर्तमान और भविष्य का निर्माण होता है। अगर इन तीनों कालों के परे किसी विलक्षण काल की कल्पना की जा सके तो वह भी प्रणव का ही परिणाम है। पहले तीन नामों में मूर्तित्रयी और चौथे नाम में कालत्रयी का वर्णन करके भगवान् का गुणगान करने वाले तीन वेदों की ओर संकेत किया गया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को त्रयी कहा जाता है। सहस्रनाम का प्रत्येक नाम महर्षियों से गाया गया दिव्य नाम है। वैदिक मंत्रों का सार इन हज़ार नामों में समाया हुआ है। यह बात पहले चार नामों का विश्लेषण करने से ही मालूम हो जाती है। चौथा वेद अथर्ववेद भी इसमें आ गया है और उसका महत्व पहले तीनों वेदों से किसी प्रकार से कम नहीं है, इसी बात को स्पष्ट करने के लिए पहले आठ अक्षरों में पहले तीन नाम और बाद के आठ अक्षरों में चौथा नाम दिया गया है।

पांचवां नाम 'भूतकृत्' इसी श्लोक की दूसरी पंक्ति का प्रारंभिक नाम है। प्राणियों का प्रणयन करने वाला 'भूतकृत्' कहलाता है। प्राणियों का संहार करने वाला भी 'भूतकृत्' कहा जाता है। असल में प्रणयन और प्रलय एक ही क्रिया के दो पहलू हैं। जब किसी वस्तु का निर्माण होता है तो उसी में उसका विनाश भी सम्मिलित रहता है। हमारा शरीर शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध का उपभोग करते हुए जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, उसी मात्रा में उसी उपभोग के द्वारा वह घट भी जाता है। घटना और बढ़ना एक साथ एक ही प्रक्रिया में घटित होता है। विकास और विनाश का यह सुन्दर समन्वय भगवान के भतकृत् नाम से व्यंजित होता है। यहां

पर भूत शब्द से केवल प्राणी ही नहीं बल्कि धरती, पानी, प्रकाश, हवा और आकाश इन पांच तत्वों की ओर भी संकेत है। मिट्टी, पानी, आग, हवा और अंतरिक्ष को भगवान् की देन समझनी चाहिए। खड़े होने के लिए धरती का आधार मिला है, पीने के लिए पानी मिला है, चलने फिरने के लिए प्रकाश और ताप मिला है, सांस लेने के लिए हवा मिली है और आवाज़ सुनने के लिए आकाश भी मिला है। हमारे शरीर के अंदर जो पांच तत्व हैं, वही ये बाहर के तत्व भी हैं। जो भीतर है, वही बाहर है (तदंतरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः)। प्राणी के अंदर जिन तत्वों का समावेश किया गया है, बाहर भी उन्हीं तत्वों को फैलाकर प्राणियों का पोषण किया गया है। यह अनोखी व्यवस्था भगवान् की प्रतिभा की द्योतक है।

इसके बाद 'भूतभृत्' यह छठा नाम, इसी पालन-पोषण की प्रक्रिया का समर्थन करता है। भूतकृत् में जहां तमोगुण प्रधान दिखाई देता है, वहां भूतभृत् में रजोगुण प्रधान रूप से प्रकट होता है। रजोगुण से प्रेरित होकर ही प्राणी अपनी रक्षा कर लेता है, दूसरों के पालन की व्यवस्था भी करता है। सभी प्राणियों के अंदर विराजमान परमात्मा कभी तमोगुण का आश्रय लेकर प्राणियों को उत्पन्न और विलीन करते हैं तो कभी रजोगुण से प्रेरित होकर उनकी रक्षा की व्यवस्था करते हैं। आवश्यक होने पर प्रतिरोधी तत्वों का सामना करके प्राणों की रक्षा करते हैं।

इसके बाद का नाम 'भाव' सत्वगुण का द्योतक है। यह सातवां नाम है। भाव अपने आप में हमेशा सात्विक होता है। मन में सहज रूप से जो भाव उठता है, वह हमेशा सात्विक

होता है। कभी किसी पर गुस्सा होता है, किसी के प्रति अनुराग पैदा होता है, किसी को देखकर भयभीत होते हैं और किसी के प्रति ईर्ष्या पैदा होती है या किसी पर लड़ पड़ते हैं तो समझना चाहिए कि यह सब मन की सात्विकता के राजस या तामस रूप हैं। वे क्षणभंगुर हैं, हमेशा टिकने वाले नहीं हैं। थोड़ी देर मन को झकझोरते हैं, फिर शांत हो जाते हैं। मन का निजी गुण सात्विकता है। मनुष्य स्वभाव से अच्छा है, यही भाव भगवान् का 'भाव' रूप प्रकट करता है। भगवान् को 'भाव' कहने में विभाव, अनुभाव आदि के मूल में जो स्थायी भाव है, उसके साथ भगवान् की सात्विकता को जोड़ा जा रहा है। परमात्मा को आनन्द या रस का स्वरूप माना जाता है। चिंता, शोक या दु:ख क्या होता है, यह भगवान् को मालूम नहीं है। वे केवल आनन्द ही आनन्द को पहचानते हैं। आनन्द के सिवा और कोई रस या कोई अनुभूति उनमें नहीं है। इसीलिए भगवान् के आनन्द को ब्रह्मानन्द कहा जाता है। वह शिवतम रस है, उत्तम से उत्तम रस है, सबको कल्याण प्रदान करने वाला रस है। वह अखण्ड है। इस रस की निष्पत्ति के लिए 'भाव' आधार बनता है। आनन्दमय भगवान् के आनन्द का आधार यही 'भाव' है जिसको भगवान् का दूसरा नाम माना गया है। कहीं-कहीं भगवान् विष्णु को भाव-नारायण के रूप में प्रतिष्ठित कर उनकी आराधना की जाती है। भाव ही नारायण है। भाव के माध्यम से ही हम नारायण तक पहुंच सकते हैं। नर को नारायण से मिलाने वाला सूत्र भाव में है। इसलिए किसी को अपने भावों को कलुषित नहीं बनाना चाहिए। भाव जितने निर्मल हों, पावन हों, मानव उतना ही महान् बन जाता है। यह स्थिति सत्व, रज और तम तीनों गुणों से परे होने पर प्राप्त हो जाती है।

इन तीन नामों में त्रिगुणातीत व्यक्ति के लक्षण बताए गए हैं। पहले तीन नामों में तीन मूर्तियों का, चौथे नाम में तीन कालों का, और उसके बाद वाले तीन नामों में तीन गुणों का इतना प्रबंधात्मक वर्णन हमें मिला है कि सहस्रनाम को बिखरे हुए नाम कहने की अपेक्षा स्वच्छ हृदय में खिले हुए विचार-कुसुमों की रमणीय माला के रूप में समझना समीचीन होगा।

आठवां नाम है—'भूतात्मा'। परमात्मा की कोई अलग आत्मा नहीं है। सभी भूतों में, सभी प्राणियों में, जड़ में, चेतन में, पानी में, आग में, हवा में, आकाश में सब जगह उनकी आत्मा फैली हुई है। "त्वयि मयि चान्यत्रैको विष्णुः सर्वस्मिन्नपि पश्यात्मानम्"। (जो आत्मा मुझ में है, वही तुममें है, वही बाहर है और वही सब में है। इसलिए आत्मा को हर जगह देखो।) जो सभी प्राणियों में एक ही आत्म-तत्व को देख सकता है, वही सही देख रहा है। बाकी लोग देखते हुए नहीं देखते हैं। अंधे की आंख खुली हो या बंद हो, कोई अंतर नहीं पड़ता। सबको अपने में और अपने को सब में देखने पर ही परमात्मा हमारे सामने भूतात्मा के रूप में प्रकट होता है। भूतात्मा शब्द की एक और विशेषता यह है कि वह भगवान् के स्वयं भूत स्वरूप को स्पष्ट करता है। परमात्मा को किसी ने बनाया नहीं। वह अपने आप बन गया है। अगर आप बनाना भी चाहें तो वह वही रूप धारण करने को तैयार हो जाते हैं जो रूप आपके मन में हो। आपकी जैसी कल्पना हो, वैसा ही भगवान् का रूप होगा। आप मनुष्य के रूप में भगवान् को देखना चाहते हैं तो वह महा मानव के रूप में दिखाई पड़ेंगे। आप वृक्ष के रूप में

देखना चाहें तो वह वृक्षराज के रूप में दिखाई पड़ेंगे। उनका कोई निश्चित रूप नहीं है। सभी रूप उनके हैं, सभी नाम उनके हैं।

इस श्लोक का अंतिम नाम है 'भूत भावन'। जैसे उनकी आत्मा स्वयं प्रकट होती है, वैसे उनके विचार, संकल्प, आशय, उद्देश्य, प्रयोजन सभी अपने आप उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक प्राणी के अंदर जो विचार-जगत् है, वह उनकी ही देन है। अगर हमारे मन में अच्छे विचार आ रहे हैं तो हमें गर्व नहीं करना चाहिए, बल्कि बड़ी विनम्रता के साथ यह समझना चाहिए कि यह उनकी ही देन है। सब के भाव जगत् को नियंत्रित करने वाले महा निदेशक वही महादेव हैं जो हमारे भावों में हमेशा विचरण करते रहते हैं। मानव के भाव-जगत् में जब महामानव भगवान् का प्रवेश होता है तो मनुष्य का भाव बढ़ता जाता है। परमात्मा के भाव जैसे-जैसे बढ़ते हैं, जीवात्मा के भाव उसी अनुपात में घटते जाते हैं। धीरे-धीरे जीवात्मा अपना पूरा भाव खोकर परमात्मा के भाव में विलीन हो जाता है। "जीवो ब्रह्मैव नापरः"—यह स्थिति बड़े भाग्यशाली व्यक्तियों को प्राप्त होती है। इसी ब्राह्मी स्थिति की ओर संकेत करते हुए सहस्रनाम का यह पहला श्लोक समाप्त होता है। इसके अंदर जो नौ नाम हैं उनमें चिरनवीन रमणीयता का दर्शन करने वाले द्रष्टा ही सहस्रनाम की सच्ची गरिमा को समझ सकते हैं। इसी नाम-नवमी के साथ सहस्रनाम का मंगलाचरण होता है।

३. अक्षर परब्रह्म

सहस्रनाम के पहले नौ नामों में, जिसका हमने नाम-नवमी के रूप में मनन किया है, विश्वात्मा की सृष्टि, स्थति और लय के रूप में प्रकट मूर्तित्रयी, अतीत, वर्तमान और भविष्य में व्याप्त कालत्रयी तथा सत्व, रज और तम के रूप में संभावित गुणत्रयी का मंगलमय संगम हमने हृदयंगम कर लिया है। अपनी रचना में अपनी इच्छा से अपने आप रममाण होने वाला यह भूतात्मा वास्तव में निर्लिप्त है। सबके साथ सबके अन्दर सब कुछ करते हुए भी वह सबसे अलग है, पर सबके साथ उसका लगाव है। इसीलिए वह पूतात्मा कहलाता है। भूतात्मा होते हुए भी पूतात्मा का पुरातन और पुनीत रूप धारण करने की क्षमता केवल परमात्मा में ही हो सकती है। वही सबके लिए परम आराध्य है। उसी परम पिता परमात्मा की असीम अनुकंपा से परम पद को प्राप्त किया जा सकता है। सबको सब कुछ देने पर भी उसका कुछ भी नहीं घटता। वह कभी न घटने वाला पर सबको घटाने वाला अव्यय पुरुष संसार की सारी घटनाओं को देखने वाला साक्षी सभी व्यक्तियों के व्यक्तित्व में, शरीरधारियों के शरीर में क्षेत्रज्ञ के रूप में निरंतर विद्यमान रहता है। क्षेत्र मात्र में नित्य निवास करने वाला यह क्षेत्रज्ञ वास्तव में अक्षर है। अक्षर के रूप में वह

सर्वत्र सदा और सर्वथा अपनी पूतात्मा की भावना संचरित करता रहता है। इसी नित्य शुद्ध, बुद्ध और मुक्त आत्मा का वर्णन सहस्रनाम स्तोत्र के दूसरे श्लोक में पाया जाता है :

"पूतात्मा परमात्मा च मुक्तानां परमा गतिः।
अव्ययः पुरुषः साक्षी क्षेत्रज्ञोऽक्षर एव च ॥"

भूतात्मा और पूतात्मा में इतना शब्द-साम्य है कि दोनों एक जैसे लगते हैं। पहले श्लोक का भूतात्मा दूसरे श्लोक में पूतात्मा का रूप धारण करता है। असल में, ये दोनों एक ही सत्ता के दो रूप हैं। जो आत्मा 'भूत' है, चाहे वह स्वयंभूत हो, प्रभूत हो या विभूत या आविर्भूत, उसका सनातन स्वरूप प्रकृत्या 'पूत' है। सार्वभौम सत्ता भूमा के समस्त भूत तत्वतः पूत हैं, पुनीत हैं। प्रत्येक प्राणी में एक पावन और सनातन पक्ष होता है और उसके साथ ही कुछ अपावन और अशाश्वत पक्ष भी होता है। अपावन और अशाश्वत पक्ष को देखकर प्राणी को अपनी क्षणभंगुरता का आभास होता है। पर वास्तव में वह परम पावन परमात्मा का ही प्रकट अंश है। प्राणी के प्राण-प्रणयन का यह परम रहस्य प्रकट करने के लिए भगवान् को यहां 'पूतात्मा' का नाम दिया गया है। भगवान् अपने आप में पवित्र हैं, पुनीत हैं, पूत हैं। उनकी इस नैसर्गिक पवित्रता के कारण ही सारे संसार में पवित्रता का संचार होता है। भगवान् के स्मरण मात्र से भक्त का हृदय पवित्र विचारों से आप्लावित हो जाता है। भगवान् की विशुद्धता को इस प्रकार अपने अंतःकरण में उतारने वाला भक्त भी पूतात्मा बन जाता है। सहस्रनाम में भगवान् का गुणगान करने वाले जितने नाम हैं, वे सबके सब पहुँचे हुए भक्त के संबंध में भी लागू होते हैं। पहुँचा हुआ भक्त वही है जो भगवान् की दिव्य विभूति में

अपने को समा लेता है। इस प्रकार जब भक्त और भगवान् के बीच का अंतर लुप्त हो जाता है, तब भूतात्मा पूतात्मा बन जाता है और धीरे-धीरे परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है। जीवात्मा का 'भूत' तत्व जब 'पूत' (पवित्र) बन जाता है, तभी वह परमात्मा में अपने को और अपने में परमात्मा को देख सकता है। इसीलिए पूतात्मा के बाद परमात्मा का नाम इस श्लोक में परिभावित किया गया है। परमात्मा के नाम के बाद 'च' (और) का जो प्रयोग किया गया है, उसका भी अपना विशिष्ट प्रयोजन और महत्व है। लौकिक और स्थूल दृष्टि से देखने पर जीवात्मा और परमात्मा अलग-अलग दिखाई देते हैं। पर लोकोत्तर और पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर वही भूतात्मा पूतात्मा का रूप धारण कर पर्यवसान में अपना परमात्मा का रूप प्रकट कर देता है। द्रष्टा की दृष्टि जैसे-जैसे परिमार्जित होती जाती है, वैसे-वैसे भेद अभेद में परिणत हो जाता है, अनेक एक में विलीन हो जाता है और आत्मा परमात्मा का अभिन्न अंग बन जाती है। परमात्मा की ओर आत्मा के इस अभियान में वह कभी अमेयात्मा बन जाती है, कभी प्रकाशात्मा बन जाती है, कभी अनंतात्मा बन जाती है और कभी वह एक साथ निवृत्तात्मा और अनिवृत्तात्मा भी बन जाती है। नैकात्मा की इस अनेकात्मकता को प्रकट करने वाले चौबीस नाम सहस्रनाम में सुनाई देते हैं और प्रत्येक नाम आत्मा के कुलनाम से संपन्न होता है। इन सभी नामों को एकत्र किया जाए तो आत्मा की आत्मकथा प्रस्तुत हो जाएगी। इसी आत्मकथा का आरंभ, भूतात्मा, पूतात्मा और परमात्मा—इन तीन नामों से किया गया है और परमात्मा के बाद 'च' का प्रयोग कर आत्मा की इस बृहत् कथा का आगे का विस्तार सूचित किया गया है।

अनेक रूपों में भासित और प्रतिभासित होने पर भी यह आत्मा तत्वतः विविक्त और विमुक्त है। यह स्वयं मुक्त ही नहीं, दूसरों को भी मुक्ति प्रदान करने वाली परम सत्ता है। मुक्त आत्माओं को परम गति प्रदान करने वाले परमात्मा की यही दिव्य विभूति "मुक्तानां परमा गतिः"—इस दिव्य नाम में प्रकट होती है। संसार की संसरण शीलता से मुक्त होने पर जो परम गति प्राप्त होती है, वही परंधाम का परम धाम है जहां पर न सूर्य का प्रकाश होता है, न चांदनी की चमक होती है और न आग में जलाने वाली शक्ति। एक बार वहां पहुंचने पर फिर वापस आने की आशंका भी नहीं होती। इसीलिए वह परम गति कहलाती है। धर्म, अर्थ और काम की आराधना करने वाले सामान्य जन स्वर्ग तो प्राप्त कर लेते हैं, पर उनके पुण्य के क्षीण होते ही वे फिर मर्त्य लोक में पहुँच जाते हैं। संसार की संसरणशीलता से स्वर्ग की क्षरण शीलता की ओर ले जाने वाले अर्थ, धर्म और काम के वर्गत्रय से भिन्न अपवर्ग की प्राप्ति होती है—विश्वात्मा की विविक्त आराधना से। इसी अपवर्ग (मोक्ष) की ओर संकेत करते हुए गीताचार्य कहते हैं—"यद्गत्वा न निवर्तंते तद्धाम परमं मम" (जहां से लोग वापस नहीं आते हैं, वही मेरा परम धाम है)। परमात्मा की शरण लेने पर इस परम गति की प्राप्ति भी हो जाती है और साथ ही माया का आवरण भी हट जाता है। "मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंति ते"—भगवान् का यह वचन भक्तों के लिए अभय का अक्षय संबल प्रदान करता है।

परमात्मा के द्वारा प्रदत्त इस परम गति की एक और विशेषता यह है कि वह न केवल उनके भक्तों तक सीमित है,

बल्कि उनके विरोधियों का भी उद्धार करती है। जो रास्ते से भूले भटके फिरते हैं, उनको भी ठिकाने पहुँचा देती है। जैसे अहल्या, वैसे ताटका, जैसे शबरी, वैसे तारा और मंडोदरी, जैसे विभीषण, वैसे ही रावण—सबने प्रभु की कृपा प्राप्त की। जो उनकी आंखों की अमलिन रेखा के समीप आए, वे सब परम पद को प्राप्त कर गए, सदा के लिए अमर बन गए।

प्रभु की परम गति की इसी अविनश्वरता को प्रकट करने वाला दिव्य नाम है—'अव्यय'। जीवन्मुक्त और मुक्त जीवियों को विविक्त आनंद प्रदान करने वाली यह अक्षय निधि कभी नहीं घटती है, कभी नहीं मिटती है। पुष्पक विमान की तरह उसमें जितने लोग पहुँच जाते हैं, उतनी जगह और बन जाती है। उस निधि का जितना विनियोग होता है, उतना ही योग जुड़ जाता है। इसलिए उसका नाम 'अव्यय' हो गया। अव्यय शब्द 'इ' (जाना) धातु से बना है। अ+वि+अय इन तीनों के संयोग से अव्यय बनता है। 'अय' का मतलब है—मिलना, बनना, पहुंचना। जो चीज़ मिली है, बनी है और पहुंची है, उसका घटना, मिटना या हटना 'व्यय' कहलाता है। जिसमें इस प्रकार का व्यय नहीं होता है, उसको यहां पर अव्यय की संज्ञा दी गई। यह एक ऐसी निधि है जिसमें मिटने का नाम नहीं, घटने का काम नहीं और हटने का भय नहीं। 'न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गति तात गच्छति' (कल्याण कार्य में लगे हुए प्राणी का कभी कुछ नहीं बिगड़ता)। भगवान् प्रतिज्ञा करके कहते हैं—"कौन्तेय प्रतिजानीहि, न मे भक्तः प्रणश्यति।" (हे अर्जुन, यह तुम निश्चय समझ लो कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता)।

यही सारी बात भगवान् के इस दिव्य नाम—अव्यय—के माध्यम से बताई गयी है। असल में यह नाम 'मुक्तानां परमा गतिः' की ही संक्षेप में पुनर्व्याख्या कर रहा है।

जो इधर उधर नहीं जाता है, मन की चंचलता के कारण माया के पीछे भागता फिरता नहीं और मंगलमय भगवान् को छोड़कर अमंगल कामनाओं में अपने को भुला नहीं देता है, वह भी 'अव्यय' है। संत त्यागराज ने भी इसी चंचलता की ओर संकेत करते हुए कहा, 'इधर उधर क्यों चलता रे मन। कोटि-कोटि नदियां मिल जुलकर धनुष कोटि में वहलातीं मन।' अतः 'अव्यय' शब्द में परमात्मा के परधाम की अविनश्वरता के साथ-साथ निष्ठावान् आराधक की निश्चयात्मकता भी ध्वनित होती है। भगवान् की अव्यय विभूति में जिसका अटल विश्वास है, उसी को प्रत्येक पुरुष में परम पुरुष के दर्शन होते हैं। भगवान् को 'पुरुष' मात्र में पहचानने वाला मन उनको केवल 'पुरुष' मानकर संतुष्ट हो जाता है। भगवान् की अनंत विभूति 'पुरुष' शब्द में निहित है। इसीलिए 'अव्यय' के बाद 'पुरुष' नाम का स्मरण किया है।

'पुरुष' शब्द की सुन्दर व्याख्या महाभारत के शांतिपर्व में प्रस्तुत है :

"नवद्वारं पुर पुण्यं एतैर्भावैः समन्वितम्।
व्याप्य शेते महात्मा यः तस्मात् पुरुष उच्यते।"

यह नौ दरवाजे वाला शरीर ही पुर है; पुण्य नगरी है जिसमें नाना प्रकार के भाव निवास करते हैं। इस भाव नगरी का महान् नागरिक इसे अपना चिरनिवास बना कर इसमें हमेशा विराजमान होता है, इसलिए वह पुरुष कहलाता है।

लेकिन भावपुरी का यह महापौर शरीरधारी साधारण पुरुष से भिन्न है, हालांकि वह भी इसी के साथ और इसी के अंदर बैठा हुआ है। आंख, नाक, कान और हाथ-पैर वाले इस स्थूलाकार पुरुष के अंदर अंगूठे के प्रमाण का एक सूक्ष्माकार पुरुष विराजमान है जो पार्थिव को अपार्थिव बना देता है और पार्थिव तत्व से भी पहले यहां पर आ बैठा है। नौ द्वार वाली इस विचित्र पुरी में पहले से घुस बैठे इसी परम पुरुष के बारे में कहा जाता है, "पुरुषान्न परं किंचित्, सा काष्ठा सा परा गतिः" (पुरुष से परे और कुछ नहीं है, वही पराकाष्ठा है और वही परम गति है)। यह मूल और विराट् पुरुष अपने को स्वयं इस अनंत आवास का आदिवासी घोषित करते हुए कहता है—"पूर्वमेवाहमिहासम्" (मैं यहां पर पहले से ही बैठा था)। असल में यह सारा संसार, संसार का प्रत्येक प्राणी, प्राणी का प्राणप्रिय शरीर और शरीर का प्रत्येक अंग उसी का सदन है और उसी से वह पूर्ण है। इसीलिए महाभारत के उद्योग पर्व में पूरण और सदन से पुरुष शब्द की व्युत्पत्ति बताई गई है। सभी पुरुषों में परम पुरुष के रूप में विराजमान इसी परमात्मा की परम रमणीय गाथा को प्रकट करने वाला यह दिव्य नाम अपने में एक पुरुषसूक्त है।

यह विराट् पुरुष अपनी विशाल सृष्टि में प्रत्येक प्राणी के अंदर किस आशय से बैठा है, यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है। इसके बाद का 'साक्षी' नाम इस प्रश्न का उत्तर देता है। मुक्तात्माओं को मोक्ष प्रदान करने के उद्देश्य से नश्वर शरीर में अविनश्वर (अव्यय) रूप में विराजमान यह परम पुरुष सबका साक्षी बन कर संसार के कण-कण में समाया हुआ है। वह हमारे साथ हमारे अंदर ही बैठकर हमारे काम-काज,

आचार-विचार, राग-द्वेष, योग-क्षेम सब कुछ देखता रहता है। वह स्वयं देखता है। दूसरों की देखी सुनी बातों के भरोसे नहीं बैठता है। इसलिए वह साक्षी है 'साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्'—इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार वह प्रत्यक्ष देखने वाला, पर दिखाई नहीं देने वाला विचित्र द्रष्टा है। 'अदृष्टो द्रष्टा'—देखने वाला दिखाई नहीं देता।

यह परम पवित्र पुरुष केवल देखने वाला 'साक्षी' ही नहीं, बल्कि सब कुछ देखकर समझने वाला क्षेत्रज्ञ भी है। वह जानता है कि यह क्षेत्र क्या है, किसलिए बना है, कैसे चलता है और कहां कब पलता है और फलता है। ज्ञान, कर्म और इच्छा से प्रेरित और अनुप्राणित यह शरीर ही क्षेत्र कहलाता है जिसका सम्यक् ज्ञान शरीर धारी को या शरीर स्वामी को क्षेत्रज्ञ बना देता है। क्षेत्र शब्द भी बड़ा विचित्र है। क्षीयते, त्रायते—इन दोनों के सम्मिश्रण से क्षेत्र बनता है। इस शरीर में क्षीण होने वाला, घटने वाला या मिटने वाला तत्व भी है और साथ ही उसे इस क्षय से बचाने वाला अमर तत्व भी उसी के साथ उसके अभिन्न अंग के रूप में विद्यमान है। मिट्टी-पानी के इस पुतले के अन्दर जो तेज और वायु है वह अनल और अनिल है। इसलिए वह मर कर भी अमर ही रहता है। "वायुरनिलं, अमृतमथेदं भस्मांतं शरीरं"—यह श्रुति वाक्य इस बात का प्रमाण है। जो मिटता है, वह मिट्टी का ढांचा है। इस ढांचे के अंदर संचरित होने वाला समीर सर्वव्यापी है, शाश्वत है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के बीच में यही अंतर है कि क्षेत्र अपनी क्षमता को पहचान नहीं पाता, पर क्षेत्रज्ञ सबका सनातन साक्षी होने के कारण सब कुछ देख पाता है और सब कुछ समझ पाता है।

इस प्रकार क्षेत्र का सत्वसार ग्रहण करने वाला क्षेत्रज्ञ अक्षर बन जाता है। क्षेत्रज्ञ अक्षर—इन दोनों नामों की अभिन्नता को प्रकट करने के लिए इस श्लोक के अंत में "क्षेत्रज्ञोऽक्षर एव च" कहा गया है। 'एव' और 'च' का प्रयोग यहां पर केवल पादपूरण के लिए नहीं हुआ है। दोनों का प्रयोग सार्थक और सारगर्भित है। 'एव' (ही) में अभेद और 'च' (और) में भेद का अलग-अलग प्रतिपादन करते हुए दोनों को साथ-साथ लाकर भेद में अभेद को स्थापित किया गया है। क्षरणशील क्षेत्र में ही अक्षर रूप परमात्मा विराजमान है, यही 'अक्षर' नाम का आशय है। समस्त क्षेत्र जगत् में जो अविनश्वर तत्व है, वही अक्षर है। 'अ' से लेकर 'क्ष' तक की जो वर्णमाला है वह भी अक्षर है। यह सारी वर्णमाला 'अ' कार से निकली है। "अक्षराणां अकारोऽस्मि" कहकर भगवान् ने अपने को सर्वप्रभवाक्षर 'अकार' से आत्मसात् कर लिया है। भगवान् पाणिनि अपनी अष्टाध्यायी के अंत में एक विचित्र सूत्र प्रस्तुत करते हैं—"अ अ इति"। संसार में जो भी अक्षर भारती है, वह सब अकार से ही प्रसूत, प्रभूत और प्रसारित है। सृष्टि के आरंभ में अकार अंतर्मुखी और संवृत होता है। उसी का विवृत रूप सारा वाग्विलास प्रस्तुत कर देता है। अंत में यही अकार अपने में विलीन हो जाता है। परमात्मा की पवित्रता, अविनश्वरता, अपरिमेयता और अनंतता का इस श्लोक में जो वर्णन है, उसका अक्षर शब्द में समाहार समझना चाहिए। सहस्रनाम का यह दूसरा श्लोक भगवान् की दिव्य विभूति को प्रत्यक्षर में प्रत्यक्ष बनाने वाला अक्षर गान है। इस श्लोक से आगे हम भगवान् की भव्य भाव भूमिका को पार कर अक्षय और अक्षर आलोक में प्रवेश करते हैं।

४. पुरुषोत्तम योग

सकल चराचर जगत् में क्षरणशील शरीर रूपी क्षेत्र के अन्दर क्षेत्रज्ञ के रूप में विद्यमान अक्षर परमात्मा की दिव्य विभूति का पिछले श्लोक में वर्णन करने के बाद उसी भूतात्मा, पूतात्मा और परमात्मा के विशिष्ट योग की व्याख्या प्रस्तुत श्लोक में की जा रही है।

योगो योगविदां नेता प्रधानपुरुषेश्वरः।
नारसिंहवपुः श्रीमान् केशवः पुरुषोत्तमः।।

भगवान् स्वयं अपने में एक योग है, एक जोड़ है, अलग अलग चीजों को मिलाने वाली एक कड़ी है। क्षर को अक्षर से, क्षण-भंगुर को शाश्वत से, प्रकृति को पुरुष से और नर को नारायण से मिलाने वाला योगेश्वर योग का ही मूर्तरूप है। बार बार कोशिश करने पर भी हमेशा क्षण-भंगुर शरीर की ओर दौड़ने वाले चंचल मन को आत्मा के अनन्त आलोक में ले जाने वाला योग भगवान् का ही दूसरा रूप है। मन की प्रवृत्ति को रोक कर उसे आत्मा के निकट ले जाना ही योग है। मनुष्य जीवन भर शरीर और आत्मा के बीच भटकता रहता है। शरीर से उसको मन लुभाने वाली अनुभूति प्राप्त होती है तो आत्मा से उसे ऊपर उठने

वाली विभूति प्राप्त होती है। इसी अनुभूति और विभूति के बीच में मन घूमता रहता है। कभी श्रेय की ओर और कभी प्रेय की ओर मनुष्य का मन प्रेरित, प्रवृत्त और प्रवर्तित हो जाता है। बहुत कम भाग्यशाली ऐसे होते हैं जो श्रेय में ही प्रेय का दर्शन कर लेते हैं। स्थूल दृष्टि से देखने पर योग तो मन की एक ऐसी अवस्था है जहाँ पर सत्य और असत्य, अक्षर और क्षर, श्रेय और प्रेय का भेदभाव मिट जाता है और सब कुछ समतल और समरस दिखाई देता है। अगर यह बात सच है तो मन की इस अवस्था को मन का मालिक अपने प्रयत्न से प्राप्त कर सकता है। पर वास्तव में बात इतनी सरल नहीं है। मन की इस अवस्था पर पहुंचने में मनस्वी को मनस्विता प्रदान करने वाला एक महामनीषी है जिसको उपनिषदों में कवि, मनीषी, परिभू, स्वयंभू आदि की संज्ञा दी गई है। योगी योग को प्राप्त करता है तो समझना चाहिए कि योग के रूप में वह भगवान् को ही प्राप्त करता है क्योंकि योग और भगवान् में कोई अन्तर नहीं है। इसीलिए यहाँ पर भगवान् को 'योग' कहा गया है।

स्वयं योग होते हुए भी योगियों के योग में सहयोग देने वाले योगेश्वर सभी योगियों के नेता हैं। 'योगविदां नेता'—यह दिव्य नाम इस महान् अर्थ को व्यंजित करता है। प्रायः पहुंचा हुआ योगी अपने अनुयायी साधकों को रास्ता दिखा सकता है। उनको अपने साथ ले जा सकता है। लेकिन जिनको भगवान् का सहारा मिला है, उनको और किसी के सहारे की जरूरत नहीं पड़ती है। जो भगवान् में योग के दर्शन करते हैं, उनके लिए भगवान् नेता (साथ ले जाने वाला) बन जाते हैं। योग को अच्छी तरह से पहचानने वालों को वे सहारा देते हैं।

अपने प्रियजनों को योग के चरम लक्ष्य तक पहुंचने में पूरा सहयोग देकर भी भगवान् इसका कोई श्रेय नहीं चाहता, वह सारा श्रेय अपने भक्त को ही देता है। जैसे कोई आदर्श नेता अपनी सफलता का श्रेय अपने ऊपर न लेकर जनता को ही देता है, भगवान् भी एक ऐसा नेता है जो न केवल नर नारी बल्कि पशु-पक्षी, जड़-चेतन सबको सब प्रकार का सहारा देता है। उनके नेतृत्व को प्राप्त करने के लिए केवल इतना जान लेना काफी है कि भगवान् योग सिखाने वाले योगी ही नहीं, बल्कि स्वयं योग भी हैं। इसी जानकारी ने अर्जुन को विश्व रूप के दर्शन का अधिकारी बनाया था। भगवान् ने अर्जुन से बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा कि मैंने अपना यह रूप प्रकट कर तुम्हारे ऊपर कोई बहुत भारी कृपा नहीं की। यह तो तुमने स्वयं ही देखा है। योग जैसे कठिन मार्ग में जिसको ऐसे नेता का सहारा मिला हो, वह सचमुच बड़भागी है। इसीलिए कहा गया है,

"यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥"

जहां पर योग और योगियों के नेता भगवान् कृष्ण विराजमान हैं और जहां धर्म की रक्षा करने के लिए धनुर्धारी अर्जुन शर बद्ध हो, वहां पर निश्चय ही संसार की समस्त शोभा, सफलता और संपत्ति अपने आप एकत्रित हो जाती है।

योगेश्वर परमात्मा न केवल योग का ईश्वर है, बल्कि सारी सृष्टि का प्रभु और संसार का स्वामी, प्रकृति और पुरुष को प्रेरित करने वाले परमेश्वर है। प्रकृति प्रधान है

श्रौर पुरुष उसका प्रेरक है। पिछले श्लोक में भगवान् को केवल 'पुरुष' कहा गया है। वहां पर जिस पुरुष की ओर संकेत था वह प्रधान और पुरुष दोनों को नियंत्रित करने वाले अव्ययशील पुरुष हैं। योगियों का मार्ग प्रशस्त कर उनको आगे ले जाने वाला यह श्लोक उसी अव्यय पुरुष को 'प्रधान पुरुषेश्वर' की संज्ञा देकर उसे 'पुरुषोत्तम' के परम पद पर प्रतिष्ठित करता है। इस श्लोक का श्रंतिम नाम 'पुरुषोत्तम' है और पहला नाम 'योग' है। इन दोनों का संयोग प्रधान पुरुषेश्वर के नाम में है। पुरुष की अध्यक्षता में ही प्रकृति सचराचर जगत् की सृष्टि करती है। सृष्टि कार्य की अधिष्ठात्री प्रकृति और इस श्रधिष्ठात्री के प्रेरक पुरुष दोनों को अपने साथ ले जाने वाले परमेश्वर सबके ईश्वर हैं।

यहां पर सहज ही जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि चर-श्रचर क्षर-अक्षर, नर-नारी, प्रकृति-पुरुष सभी प्रकार के युगलों को प्रेरित करने वाला परमात्मा कैसा होता है। उसके स्वरूप और स्वभाव, चाल-चलन, अंग-भंगिमा, मुख-मुद्रा आदि की कल्पना योगी के अंतःकरण में तरह तरह के रंग भर देती है। अंतरंग की इसी कल्पना को साकार बनाता है—'नारसिंहवपुः' यह दिव्य नाम। एक दृष्टिकोण से देखा जाए तो उसमें नर की नारायणता श्रौर दूसरी दृष्टि से देखने पर सिंह की गंभीर उदात्तता दिखाई देती है। वह नर भी है और सिंह भी, मनुष्य भी है और पशु भी, सीधा भी है और टेढ़ा भी, आगे भी देखता है श्रौर पीछे भी मुड़ता है। यह एक ऐसी कल्पना है जो सामान्य बुद्धिजीवियों के मन में उठ नहीं सकती। सर्व व्यापक और सर्वान्तर्यामी भगवान् विष्णु से अपने को बचाने के लिए बिचारे हिरण्य

कशिपु ने कई प्रकार के उपाय किए, अनेक वरदान प्राप्त कर लिए—मानव से, दानव से, जानवर से, जड़ से, चेतन से, सभी प्रकार के कल्प-विकल्पों से—अपने प्राणों को सुरक्षित कर लिया। पर भगवान् की भव्य भावना हिरण्यकशिपु की क्षुद्र कल्पना से कहीं बढ़कर थी। पापी का पाप मिटाने के लिए परमात्मा ने एक ऐसा अनोखा रूप धारण कर लिया जिसको न मानव कहा जा सकता था, न जानवर। भगवान् का यह स्वरूप एक ऐसे समय पर प्रकट हुआ जिसको न दिन कहा जा सकता था, न रात। पापी पर प्रहार करने के लिए परमात्मा ने एक ऐसे सर्व साधारण शस्त्र का प्रयोग किया जिसको न जड़ कहा जा सकता था, न चेतन। लेकिन भगवान् का यह प्रकट रूप द्वंद्वात्मक संसार के दो परस्पर विरोधी तत्वों का संगम था। इसलिए भगवान् का यह रूप अनिर्देश्य और अपूर्व संगम का दर्शन कराता है। यही संगम योगेश्वर के योग का साकार रूप है। इसी प्रकार का संगम इस नाम के माध्यम से यहां पर प्रकट किया गया है।

समय-समय पर सृष्टि के सभी तत्वों के साथ विचरने वाले विश्वात्मा को 'श्रीमान्' की संज्ञा दी गई है। जहां 'श्री' हो, वहां श्री के स्वामी रहते हैं। मानव में, पशु में, पक्षी में, वृक्ष में, धरती में, पहाड़ में, दिन में, रात में, सबमें जहां कहीं कुछ विशिष्ट अनुभूति या विभूति है, वहां पर भगवान् श्रीमान् के रूप में विराजमान होते हैं। गीता में स्पष्ट कहा गया है—

"यद्यद् विभूतिमत् सत्व श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम् ॥"

जहां कुछ विशेषता हो, विशिष्ट प्रकार की संपदा, शोभा,

प्रतिभा या शक्ति हो, वहाँ भगवान् का अंश विद्यमान होता है। इसलिए उनको श्रीमान् कहा गया है। 'श्री' में सारा संसार आश्रय लेता है। समस्त संसार को आश्रय प्रदान करने वाली 'श्री' के साथ रहने के कारण भगवान् को श्रीमान् कहा गया है। श्रीमान् शब्द में भी योग है। लक्ष्मी को श्री कहा जाता है। लक्ष्मी के पति भगवान् विष्णु श्रीमान् हैं, हमेशा श्री के साथ रहने वाले श्रीमान् हैं। इसलिए श्रीमान् शब्द में श्री और श्रीपति का चिरंतन योग व्यंजित होता है। असल में इस श्लोक के प्रत्येक नाम में किसी न किसी रूप में योग की भावना प्रकट होती है। कहीं प्रकृति और पुरुष का योग है तो कहीं मनुष्य और पशु का योग है। श्रीमान् के इस नाम में परा प्रकृति और परम पुरुष का योग है।

सबसे उत्तम योग केशव नाम से प्रकट होता है। साधारण तौर पर केशव भगवान् विष्णु का दूसरा नाम समझा जाता है। पर केशव शब्द में ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर तीनों की प्रतिष्ठा है। 'क' ब्रह्मा का प्रतीक है, 'अ' विष्णु का प्रतीक है और 'ईश' भगवान् शंकर का नाम है। क, अ और ईश—तीनों मिलकर 'केश' बन जाते हैं। इन तीनों की सम्मिश्रित रूप कल्पना से सुशोभित होने वाले 'केशव' हैं। 'केश' शब्द का साधारण अर्थ होता है—केशराशि। सुन्दर केशराशि से शोभित होने वाले भी केशव कहला सकते हैं। केश शब्द का प्रयोग किरण के अर्थ में भी होता है। भगवान् के दिव्य मुख मंडल से विकीर्ण होने वाली रमणीय किरणमाला के कारण भी वे केशव कहे जा सकते हैं।

योग का गुण-गान करने वाले इस श्लोक में केशव नाम का योग सबसे उत्तम योग को प्रकट करता है। सृष्टि,

स्थिति और लय इन तीनों का अपूर्व संयोग केशव के नाम में विद्यमान है। प्रति दिन संध्या वंदना के समय भगवान् के जिन २४ नामों का स्मरण किया जाता है, उनमें से पहला नाम केशव है। यह ध्यान देने की बात है कि भगवान् विष्णु के हज़ार नामों में विष्णु और केशव सही स्थान पर प्रतिष्ठित हैं और इनकी आवृत्ति भी अनुरूप परिवेश में होती है।

इसके बाद पुरुषोत्तम का नाम आता है। केशव की उपर्युक्त रूप कल्पना उनको पुरुषोत्तम के रूप में प्रकट कर देती है। सभी पुरुषों में जो उत्तम है वह पुरुषोत्तम है। पुरुष शब्द का अर्थ है—'आगे बढ़ने वाला' और पुरुषोत्तम आगे बढ़ने वालों में सबसे आगे है। आगे बढ़ने वाले कभी-कभी आगे तो बढ़ जाते हैं पर रास्ते में फिर पिछड़ भी जाते हैं। पर पुरुषोत्तम जब आगे बढ़ते हैं तो आगे बढ़ते ही जाते हैं, न रुकते हैं, न थकते हैं। इसीलिए पुरुषोत्तम ने स्वयं कहा था, "मैं क्षर से भी आगे हूं और अक्षर से भी आगे हूं। इसीलिए लोक और वेद दोनों मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं।" यहां पर स्मरणीय है कि गीता में पुरुषोत्तम के ऊपर एक अलग अध्याय है जिसको पुरुषोत्तम प्राप्ति का योग कहा गया है। यह पुरुषोत्तम नाम भगवान् के हजार नामों में चौबीसवां है। विश्व को पुरुषोत्तम तक ले जाने वाले चौबीस सोपान इन चौबीस नामों में परिकल्पित हैं। पुरुषोत्तम के नाम में पुरुषोत्तम की ही प्राप्ति होती है।

५. धाता विधाता उत्तम

सहस्रनाम के पहले २४ नामों में विश्वात्मा की दिव्य विभूति का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसके बाद चौथे श्लोक में उसी सर्वात्मक सत्ता की शिवात्मकता का प्रतिपादन किया जा रहा है।

सर्वः शर्वः शिवः स्थाणुर्भूतादिर्निधिरव्ययः।
संभवो भावनो भर्ता प्रभवः प्रभुरीश्वरः॥

इसमें सबसे पहला नाम 'सर्व' नाम है। सहस्रनाम का पहला नाम भी सर्वात्मकता का द्योतक सर्वनाम 'विश्वम्' है। जिस प्रकार विश्वशब्द संज्ञा और सर्वनाम दोनों रूपों में प्रयुक्त हो सकता है, उसी प्रकार 'सर्व' नाम भी है। संसार में जड़-चेतन, चर-अचर, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे—सब के अलग-अलग नाम हैं। लेकिन ये नाम केवल व्यावहारिक हैं। तात्विक दृष्टि से देखने पर सबका नाम एक है और वही भगवान् का नाम है। संसार की समस्त भाषाओं में जितने शब्द हैं और जितने नाम हैं, वे सब भगवान् के ही द्योतक हैं। इसलिए वह सर्वनाम है। संसार का सर्वस्व उसी सर्वात्मा में समाया हुआ है।

इसी सर्व को शर्व भी कहा जा सकता है। शर्व शब्द शीर्णता

का द्योतक है जो समस्त संसार को मर्यादित करती है, विकास की मात्रा को नियंत्रित करती है और सृष्टि में लय का तत्व मिलाकर संसार की प्रतिष्ठा बनाए रखती है। 'सर्व' शब्द के बाद 'शर्व' नाम का उच्चारण करने से सर्वात्मा की शिवात्मकता हृदय के अंदर प्रतिष्ठित हो जाती है। पहले तीन श्लोकों में भगवान् विष्णु के ही नाम पाए जाते हैं जब कि प्रस्तुत श्लोक में शिव के रूप में विष्णु का गुणगान किया जाता है। सर्व और शर्व इन दोनों नामों में शिव का रूप उभरता है जब कि तीसरे नाम 'शिव' में शिव जी का साक्षात्कार ही होता है। शिव ही जीवन का सर्वस्व है, वही जीवन को मर्यादित करता है, सारा संसार उसी में लीन हो जाता है। पर वह स्थाणु है, विचलित नहीं होता। सब कुछ नष्ट होने पर भी वह अविनश्वर बच रहता है। लय कारक अपनी लय का स्वामी होता है, उसमें लीन नहीं होता। जो सृष्टि के अंत में रह सकता है, वह सृष्टि के आरंभ में भी रहता है। सभी प्राणियों के, सभी जीवों के सभी भूतों के प्रारंभ में प्रवर्तित होने वाला सर्वात्मा भूतादि कहा जाता है। भूतादि शब्द में एक और चमत्कार है। इसका मतलब भूतों को अर्थात् प्राणियों को अपने में लीन करने वाला भी हो सकता है। और प्राणों के प्रणयन के प्रारंभ में और पर्यवसान में परिवर्तित होने वाला प्रधान प्राण भी हो सकता है। इसीलिए उनकी निधि कभी नहीं क्षीण होने वाली है, न घटती है, न मिटती है। वह अव्यय निधि है। निधि शब्द में भी सब कुछ निहित है। सारी चराचर सृष्टि जिसमें लीन हो जाती है, वही निधि है और परमेश्वर की निधि सबको आश्रय देने वाली है और सबको आश्रय देने पर भी वह कभी

नहीं घटती है। इसीलिए भगवान् को 'अव्यय निधि' कहा गया है।

'संभव' नाम भी भगवान् का है। वैसे 'भव' शब्द से ही ईश्वर का बोध होता है और भव शब्द से संसार का भी बोध होता है। सारा संसार जहां से निकलता है और जिसकी सत्ता से संभव होता है उसको संभव कहा गया है। भगवान् ने स्वयं कहा था "संभवामि युगे युगे"। रुद्र प्रश्न में भगवान् शंकर को 'शंभव' कहा गया है। 'शं' से उत्पन्न होने वाला। यह 'संभव' उसी 'शंभव के प्रतिरूप हैं। चाहे वह संभव हो या शंभव हो, उसकी भव्यता को आत्मसात् करने के लिए 'भावना' आवश्यक है। इसीलिए उसका नाम 'भावन' रखा गया है। भक्तों की परम पावन भावना के अधीन रहकर उसी भावना के माध्यम से अपने को प्रकट करने वाला प्रभु 'भावन' है। श्रुति भी बताती है कि भावनामय भगवान् का बोध न बौद्धिक विकास से संभव है, न बहुत कुछ पढ़ने लिखने से और न ज्यादा सोचने समझने से। परमात्मा का रूप तभी उभरता है, जब भावना की विशुद्धता और अंतः-करण की सरलता आराधक को अभीष्ट अर्हता प्रदान करती है। अशुद्ध भावनाओं का विलयन और विशुद्ध भावनाओं का उदयन परमात्मा के साक्षात्कार का सूचक होता है। परिष्कृत, परिमार्जित और पवित्र भावनाओं के रूप में सभी प्राणियों में प्रतिष्ठित परमात्मा का साक्षात्कार करने का एकमात्र साधन भाव शुद्धि है क्योंकि परमात्मा भावगम्य है।

चाहे हमारे अंदर पावन भावनात्मक परमात्मा के परम परमणीय रूप को देखने की क्षमता हो या न हो, इच्छा हो

या न हो, वह सबका पालन पोषण करता है, सबका भरण करता है और सब का भार वहन करता है। हम सब अपने मन का बोझ उनके ऊपर डालकर निश्चित हो सकते हैं। पर मनुष्य जब अपने को कर्ता समझता है तो भगवान् को भर्ता के रूप में देख नहीं पाता। अज्ञान और अहंकार के कारण वह अपने को सबका कर्ता, धर्ता समझता है। जब वह हृदय से समझ लेता है कि वह जो कुछ कर रहा है, देख रहा है, सुन रहा है, वह सब किसी आंतरिक प्रेरणा से हो रहा है, तभी भगवान् के भर्तृत्व को वह पूर्ण रूप से समझ पाता है। उस दशा में सब पर शासन करने वाला प्रभु उनके लिए सब कुछ बन जाता है। वही उसकी मर्यादा का रक्षक, कल्याण का विधायक, प्रारंभ और परिणति का निर्णायक और जीवन की अक्षय निधि बन जाता है। उसी से सब कुछ संभव होता है। वही हमारे तन-मन-वचन को प्रेरित करता हैं।

इसीलिए वह प्रभव है। संसार में ऐसी किसी वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती जो उससे संभव नहीं हो सके। सब के प्रारंभ में प्रकट होकर सब कुछ उत्पन्न करने वाला प्रभु 'प्रभव' नाम से प्रख्यात है। 'प्रभव' प्रारंभ का द्योतक है। श्रव्य सृष्टि में प्रणव का जो महत्व है, दृश्य सृष्टि में वही प्रभव का है।

इसी श्लोक का अंतिम नाम ईश्वर है जो प्रभु के साथ समान रूप से अधिकृत है। प्रभु ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रभु। जिसका प्रादुर्भाव प्रकृष्ट है, वही इस संसार के ऐश्वर्य का विधायक है। प्रभुता और ऐश्वर्य का उसमें मणि कांचन

संयोग है। गीताचार्य कहते हैं कि ईश्वर कहीं बाहर नहीं है। सबके हृदय के अंतस्तल में प्रतिष्ठित है। वह प्राणियों के अंदर रहकर उनको नियंत्रित करता है। यही ईश्वर यहां सर्वेश्वर के रूप में चित्रित है। इस श्लोक का पहला नाम सर्व और अंतिम ईश्वर है। दोनों को मिलाने से सर्वेश्वर का रूप निष्पन्न होता है। इसी सर्वेश्वर की ओर संकेत करते हुए मांडूक्योपनिषद् कहती है—"एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोंतर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।" यही सर्वेश्वर सब कुछ जानता है, सबके अंदर रहता, सबका कारण बनता है और सबको प्रेरित, प्रणीत और प्रबुद्ध करता है।

समस्त संसार के प्रभव के आधार, इस सर्वेश्वर के लिए किसी अलग कारण की आवश्यकता नहीं है। वे अपने आप उत्पन्न होते हैं और संसार की भलाई के लिए उत्पन्न होते हैं। समस्त संसार को अपने विशाल नयनों से देखते हैं, सबकी आवाज़ सुनते हैं और अपनी आवाज़ सबके पास पहुंचाते हैं। उनका न कोई आदि है, न अंत। सबका धाता और विधाता वही है। इसीलिए वे सबसे उत्तम धातु के बने हुए माने जाते हैं। धाता की इसी स्वयंप्रभा का वर्णन अगले श्लोक में होता है।

स्वयंभूः शंभुरादित्यः पुष्कराक्षो महास्वनः।
अनादिनिधनो धाता विधाता धातुरुत्तमः॥

स्वयंभू परमेश्वर का गुणगान अनेक उपनिषदों में किया गया है। ईशोपनिषद् में इसी ईश्वर को कवि, मनीषी, परिभू

और स्वयंभू कहा गया है। कठोपनिषद् में भी सभी प्राणियों को बहिर्मुख बनाकर शरीर के अंदर बैठे हुए इसी स्वयंभू का वर्णन है। "परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः।" मनुस्मृति भी कहती है "वह अपने आप उद्भासित होता है—स एव स्वयमुद्‌बभौ।" परमेश्वर का उद्‌भव अपने आप क्यों होता है, यह जिज्ञासा सहज ही उत्पन्न होती है। अगला नाम 'शंभु' इस जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत करता है। 'शं' का मतलब है—कल्याण। लोक-कल्याण के लिए परमेश्वर का प्रादुर्भाव होता है। गीता का स्पष्ट प्रमाण है।

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥"

मंगलमय भगवान् संसार को मंगलमय बनाने के लिए प्रकट होते हैं। लोक-मंगल की यह साधना कैसे संभव होती है, इसका संकेत 'आदित्य' नाम में मिल जाता है। यहां पर भगवान् को आदित्य कहा गया है। आदित्य वैसे संख्या में बारह होते हैं। शक्र, अर्यमा, धाता, त्वष्टा, पूषा, सविता, मित्र, वरुण आदि आदित्यों में सबसे उत्कृष्ट रूप विष्णु का है। गीता में भी कहा गया है "आदित्यनामहं विष्णुः"। वैसे आदित्य का लौकिक अर्थ सूर्य होता है। अगर शब्दार्थ देखा जाए तो आदित्य शब्द अदिति से निकलता है। दिति शब्द दैन्य का द्योतक है। जो दीन है, हीन है और क्षीण है उसको दिति कहा जाता है। जो अदीन है अहीन है, और अक्षीण है वह अदिति है। अदीनता, अहीनता और अक्षीणता की भावना ही आदित्य नाम से प्रकट होती है। भगवान् कभी दीन नहीं होते। बल्कि वह दीनों के नाथ, दीनबंधु, हैं। हीनता

और क्षीणता का उनमें नाम तक नहीं होता। इसीलिए उनको 'आदित्य' कहा गया है। यहां पर आदित्य का लौकिक अर्थ सूर्य भी लिया जा सकता है क्योंकि वह समस्त संसार को प्रकाश प्रदान करने वाले भास्कर के रूप में विद्यमान हैं। वह न केवल सब कुछ देखता है, बल्कि दूसरों को देखने की शक्ति भी प्रदान करता है। सूर्य की कांति के सहारे ही हम किसी भी वस्तु को देख सकते हैं। अगर सूर्य का प्रकाश नहीं है तो चारों ओर अंधेरा छा जाएगा, सामने की वस्तु भी नहीं दिखाई पड़ेगी। देखने लायक वस्तुओं को देखने की शक्ति प्रदान करने वाला दृष्टि-दाता होने के कारण वह आदित्य कहा गया है।

इसी श्लोक के अगले नाम 'पुष्कराक्ष' में यही विचार और पल्लवित हो जाता है। कमलनयन भगवान् की आखें प्रसन्नता, प्रफुल्लता और प्रशांतता को चारों तरफ प्रसारित करती हैं। 'पुष्कर' शब्द में बड़ी गहरी भावना है। उसको हम सरोवर के रूप में देखें या सरोवर में खिलने वाले फूल के रूप में देखें या फूलों से भरे हुए किसी नंदन वन के रूप में देखें, सभी दृष्टियों से पुष्कर शब्द भगवान् के नयनों की कमनीयता का सशक्त व्यंजक होता है। उनकी आंखें इतनी फैली हुई हैं कि कोई भी वस्तु उनकी दृष्टि से छूट नहीं सकती। भगवान् की आड़ में कोई कुछ नहीं कह सकता, कुछ नहीं कर सकता। मन, कर्म और वाणी की कोई भी चेष्टा भगवान् की दृष्टि से बाहर नहीं जा सकती। वह सब कुछ देखता है, दिखलाता है।

वह देखने में जितने पटु हैं, सुनने में भी उतने ही पटु हैं।

इसीलिए उनका नाम महास्वन रखा गया है। उनकी आवाज़ बहुत ऊंची होती है। हल्की-सी आवाज़ को भी बुलन्द करने की महती शक्ति उनके अंदर है। हम अपने मन के अंदर ही कोई बात करें तो भी वह उनके यहां तक पहुंच जाती है। आपस में होने वाली कानाफूसी भी उनके कानों में तत्काल पहुंच जाती है। हम दूर हों या नज़दीक, अकेले हों या इक्ट्ठे, हमारी आवाज़ हमारे अंदर ही बैठे हुए भगवान् के श्रुतिपथ से दूर नहीं जा सकती। जैसे हमारी आवाज़ उनके यहां तक आसानी से पहुंच जाती है, वैसे ही भगवान् की आवाज़ भी हमारे सुनने में आती है। असल में जितना वैदिक वाङ्मय हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद आदि, वह सारा का सारा उन्हीं के मुखकमल से निकला हुआ स्वर-समीर है।

अपने आप उत्पन्न और संसार की भलाई के लिए निरंतर हजारों आंखों से और हजारों कानों से प्रयत्नशील परमात्मा का न कोई आदि है, न अंत। इसीलिए उनको 'अनादिनिधन' कहा गया है। वह न तो जन्म लेता है और न निधन पाता है। उनके जितने अवतार हैं, उनमें जन्म और निधन का विधान लौकिक दृष्टि से परिकल्पित है। रामनवमी, जन्माष्टमी आदि जो पर्व हम मनाते हैं, वे केवल अपने आनंद के लिए मनाते हैं। असल में प्रतिदिन रामनवमी है और प्रत्येक निशा जन्माष्टमी है। जिस दिन मध्याह्न को प्रखर किरणों में हमारा अंतःकरण निर्मल विचारों को देख पाता है, वही रामनवमी है। जिस दिस अर्धनिशा की प्रशांत वेला में नक्षत्रों के बीच में चमकने वाली रोहिणी की मधुर रागिनी में हम अपने आपको भूल जाते हैं, वही

जन्माष्टमी है। मन ही की भावना मनुष्य को मनस्वी बनाती है। यही भावना 'धाता' नाम में भी निहित है।

नारायण-उपनिषद् में इसी धाता का वर्णन मिलता है। "धाता पुरस्ताद्यमुदाजहार शक्रः प्रविद्वान् प्रदिशश्चतस्रः।" इस धाता के धातृत्व को जो सही-सही पहचान लेता है, वह अमर बन जाता है और उस धाता तक पहुंचने के लिए और कोई रास्ता नहीं है। उन्हीं के प्रसाद से, उन्हीं के अनुग्रह से और उन्हीं के बल पर उन तक पहुंचना संभव है। कठोपनिषद् का निश्चित मत है—"तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः।" जिनके मन में किसी प्रकार की कामना, भावना या वासना नहीं है, उनको दुख दर्द नहीं छू सकता, उन्ही पर भगवान् प्रसन्न होता है, उसी धाता की महिमा से आत्म-दर्शन संभव है।

धाता सृष्टि का निर्माण करता है तो विधाता उनके गुण-कर्म के अनुसार कर्म फल का निर्णय करता है। भगवान् धाता भी है और विधाता भी है। कर्म फल के अनुसार ही जन्म मिलता है। फिर इस जन्म में जैसा कर्म और जैसा गुण होता है, उसी के अनुसार अगला जन्म बन जाता है। इस प्रकार मानव जीवन के अंदर ही एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अनुसार उसको अपने गुण और कर्म का पूरा पूरा फल मिलता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति के अंदर एक चित्रगुप्त बैठा हुआ है जो उस प्राणी के गुण और कर्म का चित्रण परम गोपनीय रूप से अंकित करता रहता है। और उसी चित्रांकन के अनुसार आगे का जीवन-विधान अपने आप बनता चला जाता है। यह विधाता का विचित्र विधान है।

आम तौर पर कहीं न्याय और अन्याय का निर्णय करना हो तो न्यायाधीश को कई बातों की छानबीन करनी पड़ती है। कई प्रकार के साक्ष्य की आवश्यकता होती है। कई बातों को प्रमाणित सिद्ध करने के लिए आधार की आवश्यकता पड़ती है। पर भगवान् के विधि-विधान में ऐसा कोई प्रतिबंध नहीं है। देह के अंदर ही देही के पाप-पुण्य का निर्णय करने वाली एक स्वयंचालित प्रक्रिया मौजूद है। इसीलिए वह धाताओं में उत्तम धाता बताया गया है। 'धातुरुत्तम' में उत्तम धातु का आशय भी लिया जा सकता है। संसार में जितने धातु-रूप हैं—जैसे लोहा, तांबा, पीतल, सोना आदि इन सबसे विलक्षण धातु के बने हुए हैं—परमात्मा। सभी धातु नष्ट हो जाते है, पर धातुओं के धाता और विधाता विश्वात्मा कभी न घटते हैं, न मिटते हैं।

६. मंगलं परम्

सर्वात्मा की विश्वात्मकता का विस्तार से वर्णन करने के बाद प्रभु की अप्रमेयता और अग्राह्यता का मंगलमयरूप अगले दो श्लोकों में प्रस्तुत किया जाता है।

अप्रमेयो हृषीकेशः पद्मनाभोऽमरप्रभुः ।
विश्वकर्मा मनुस्त्वष्टा स्थविष्ठः स्थविरो ध्रुवः ॥

अग्राह्यः शाश्वतः कृष्णो लोहिताक्षः प्रतर्दनः ।
प्रभूतस्त्रिककुब्धाम पवित्रं मंगलं परम् ॥

भगवान् कितने बड़े हैं, कहां से कहां तक फैले हुए हैं और कहां तक उनकी पहुँच है, यह कोई नहीं बता सकता क्योंकि किसी भी मापदंड के अंतर्गत उनकी विभूति सीमित नहीं हो सकती। इसीलिए उनको 'अप्रमेय' कहा गया है। किसी पार्थिव साधन से मापने में जो चीज़ नहीं आती है, वही अप्रमेय है। भगवान् के विराट् रूप की कल्पना मानव मन की सीमित भावना के लिए संभव नहीं है क्योंकि उनके बारे में सोचने वाले मन के नियंता भी वह स्वयं हैं। मन को सोचने की शक्ति जहां से प्राप्त हो रही है, उसकी रूप रेखा मन के अंदर समा नहीं सकती। वह आंखों को देखने की शक्ति प्रदान करता है, पर आंखें उसे देख नहीं पातीं। इसी

तरह वह कानों को सुनने की शक्ति प्रदान करता है, पर उसकी आवाज़ साधारण कान सुन नहीं पाते। उन्हीं के बल पर मन सोचता है, पर मन उनके बारे में नहीं सोच सकता। इसी अप्रमेयता को केनोपनिषद् के ऋषि बड़े सुन्दर और संतुलित शब्दों में कहते हैं, 'जहां तक न मन की पहुँच है, न वाणी की पहुँच है, न दृष्टि की पहुँच है उसकी जानकारी की बात दूर रही, उसकी कल्पना तक अल्पमति मानव के लिए संभव नहीं है।'

यद्यपि प्रभु की कल्पना हमारे लिए संभव नहीं है, फिर भी हमारा शरीर, हमारा मन और हमारी समस्त इंद्रियां उन्हीं से अभिकल्पित हैं। उन सबका वह स्वामी है। असल में सारी इंद्रियां शरीर के अंदर बैठी हुई अंतरात्मा को संतुष्ट, पुष्ट और हृष्ट बनाने के लिए हैं। जिन इंद्रियों के माध्यम से इंद्रियों का स्वामी हर्ष प्राप्त करता है, उनको 'हृषीक' कहा जाता है। हर्ष के आधार होने के कारण इंद्रियों को हृषीक कहा जाता है और इन हृषीकों के प्रभु को हृषीकेश। 'हृषीकेश' शब्द का एक दूसरा अर्थ भी हो सकता है। जिनकी केश राशि अथवा कांति किरणों का समूह हमेशा प्रसन्न हो, जिनके चारों तरफ का वायुमंडल निरंतर आनंद प्रदान करने वाला हो, उनको भी हृषीकेश कहा जा सकता है। जैसे सूर्य और चन्द्रमा जहां रहते हैं, वहां उनकी किरणों से स्वच्छंद प्रकाश प्राप्त होता है, उसी प्रकार भगवान् के सान्निध्य मात्र से चारों तरफ का अंधकार नष्ट हो जाता है और प्रकाश ही प्रकाश दिखाई देता है। यह प्रकाश केवल दिन में नहीं, रात में भी होता है। हम चाहे चलते फिरते हों, खाते पीते हों या सोते उठते हों, उसी प्रकाश की किरणें हमको

चलाती हैं, खिलाती हैं, सुलाती हैं और उठाती हैं। यह सनातन प्रकाश है और सर्वत्र विद्यमान है। जिसकी जैसी भावना है और जितनी साधना है, उसी के अनुरूप और उतनी मात्रा में यह प्रकाश प्रकट होता है।

इंद्रियों के स्वामी के रूप में प्रभु को प्रस्तुत करने से एक और आशय यह निकलता है कि भगवान् कहीं बाहर नहीं हैं, शरीर के ही अंदर हैं, इंद्रियों के ही साथ हैं। अपनी इंद्रियों के द्वारा हम जो कुछ करते हैं, उन सभी क्रियाओं के असली कर्ता वही हैं। हम केवल चाबुक की मार खाकर चलने वाले घोड़े जैसे हैं। रास्ता हम जरूर तय कर लेते हैं, पर उस रास्ते पर चलाने वाला वही इंद्रायण है।

अगला नाम 'पद्मनाभ' है। कहते हैं कि भगवान् की नाभि में कमल है। लेकिन यह कमल साधारण फूल नहीं है। कीचड़ से निकलकर कोने-कोने में कोमलता का कमनीय रूप प्रदर्शित करने वाला यह विश्व कमल है। वैसे देखा जाए तो संसार या सांसारिक प्राणी मिट्टी के अलावा और कुछ नहीं है। सारी धरती मिट्टी की बनी हुई है। लेकिन इसी मिट्टी के पुतले से एक ऐसा रूप प्रस्फुटित होता है, जिसकी कोई उपमा नहीं है। यही कमल प्रभु की नाभि से निकला हुआ है। एक बात और है। कमल की जगह यहां पर पद्म शब्द का प्रयोग हुआ है। 'पद्म' का शब्दार्थ है—समस्त संसार के लिए परम प्राप्य वस्तु। वही पद्म प्रभु की नाभि में है। और नाभि सभी इंद्रियों से विलक्षण है। वह अंतर्मुखी है और माता को उसकी संतान से जोड़ने वाली ग्रंथि है। संसार की संसरणशीलता का सार नाभि में छिपा हुआ है। इसीलिए

प्रभु की नाभि में पद्म की कल्पना की गई है। प्रभु के चरण, प्रभु के नयन, प्रभु का मुखमण्डल और प्रभु की नाभि सभी पद्म की आकृति लिए हुए हैं। प्रभु का प्रत्येक अंग पद्म की तरह परम रमणीय और परम प्राप्य होता है।

प्रभु की यह प्रभविष्णुता केवल मानव संस्कृति तक सीमित नहीं है, बल्कि स्वर्गलोक तक फैली हुई है। वे अमरों के भी स्वामी हैं, देवों के भी देवता हैं। इसीलिए उनका नाम 'अमरप्रभु' है। अमर विशेषण भी है और संज्ञा भी है। इस प्रभु का प्रभाव काल की गति से क्षीण होने वाला नहीं है। भगवान् को विश्वकर्मा कहा गया है। विश्वकर्मा देवताओं के लिए निर्माण का कार्य करते हैं। वह अमरों के अभियंता (इंजीनियर) हैं। प्रभु को विश्वकर्मा इसलिए कहा गया है कि वह समस्त संसार के अभियंता हैं। प्रत्येक प्राणी एक यंत्र है। इन सभी यंत्रों को नियंत्रित करने वाला स्वामी विश्वकर्मा विश्वात्मा है, विराट् पुरुष है। विश्वकर्मा से यह भी आशय निकलता है कि वह सब कुछ कर सकता है। संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं है जो उनके कार्य-क्षेत्र के अंतर्गत नहीं आता हो। व्यापक कार्य-क्षेत्र में काम करने वाले प्रभु को विश्वकर्मा कहा गया है।

इतने महान् कार्य को संपन्न करने के लिए बड़ी मनस्विता चाहिए। सोचने वालों में सबसे अधिक सोचने वाला और सही-सही सोचने वाला होने के कारण भगवान् को 'मनु' कहा गया है। भगवान् जो कुछ करता है, सोच-समझकर करता है। जगदीश्वर की हर इच्छा में एक निश्चित योजना होती है। अज्ञान के कारण लोग प्रायः समझते हैं कि संसार

में इतना अन्याय, अत्याचार और अनाचार हो रहा है जबकि तथाकथित भगवान् आंखें मूंद कर बैठे हुए हैं। पर संसार की प्रत्येक घटना उन्हीं की इच्छा के अनुसार किसी महती योजना के अनुसार होती है। इसलिए उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय और धर्म-अधर्म का विवेचन करने का भार भगवान् के ऊपर छोड़कर अपने लिए नियत कार्य का आचरण करना बुद्धिमान् का लक्षण है। हम सबकी ओर से इन बातों के बारे में सोचने का भार प्रभु ने अपने ऊपर ले लिया है। प्रभु की प्रेरणा से और अंतःकरण के आदेश से जो कर्तव्य हमारे सामने है, उसका पालन करना ही हमारा धर्म है। बार-बार भगवान् ने कहा, "काम करने में ही तुम्हारा अधिकार है सभी धर्म छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ, मैं तुमको सभी पापों से मुक्ति प्रदान करता हूं।" फिर भी हम अज्ञान के कारण कभी-कभी अपने को कर्ता समझते हैं, अपनी बुद्धि का प्रदर्शन करने का प्रयत्न करते हैं।

इसीलिए भगवान् हमको मर्यादा में रखता है। वह जानता है कि हमें कितना बढ़ना चाहिए, कितना फैलना चाहिए और कितने में समा जाना चाहिए। जंगल की लकड़ी को लेकर बढ़ई कुर्सी, मेज़, पलंग आदि सुन्दर सामान बनाता है। लकड़ी कहां से कैसे काटनी चाहिए, कैसी वस्तु का आकार गढ़ना चाहिए, यह बढ़ई को मालूम है। लकड़ी का काफी हिस्सा कट जाता है। सारी काट छांट के बाद अभिलषित वस्तु गढ़ी जाती है और आखिर वह मिट भी जाती है। फिर भी लकड़ी को इसकी चिंता नहीं होती है, सारी चिंता बढ़ई की है। लगभग यही काम भगवान् भी करता है। इसीलिए उनको 'त्वष्टा' कहा गया है। त्वष्टा का

मतलब है काटने वाला, छांटने वाला, बढ़ई । सूर्य भगवान् को भी त्वष्टा कहा जाता है और बारह सूर्यों में त्वष्टा भी एक है । विश्वकर्मा भी बारह सूर्यों में से एक है ।

इतना बड़ा काम करने वाला कितना बड़ा होगा, यह जिज्ञासा उठती है । आकार में उनकी समता करने वाला शायद कोई नहीं होगा । इसीलिए उनको 'स्थविष्ठ' कहा गया है जिसका मतलब है सबसे मोटा, सबसे बड़ा, सबसे विशाल, सबसे फैला हुआ और सबमें फैला हुआ । इतने बड़े आकार का होते हुए भी वह विचलित नहीं होता । इसीलिए उनको 'स्थविर' भी कहा गया है । जैसे पहाड़ धरती से सटे हुए अचल रहते हैं, टिके रहते हैं, उसी प्रकार भगवान् भी अपनी जगह पर हमेशा प्रतिष्ठित रहते हैं । 'वह चलता भी है और नहीं भी चलता, वह दूर भी है और नज़दीक भी है । हर जगह पहुँचने पर भी अपनी जगह से हटता नहीं, यह प्रभु की माया है ।

इस श्लोक का अंतिम नाम 'ध्रुव' है जिसका मतलब है—अटल । ध्रुव नक्षत्र को हम आकाश में देखते हैं । नक्षत्र मण्डल के सारे नक्षत्र अपनी जगह से हट कर परिक्रमा करते हैं । पर ध्रुव तारा हमेशा एक ही जगह पर दिखाई देता है । सभी नक्षत्र उसी ध्रुव तारे के चारों तरफ घूमते हैं । यही स्थिति भगवान् की भी है सभी प्राणी उन्हीं की परिक्रमा करते हैं ।

सनातन स्थविष्ठ और स्थविर होते हुए भी भगवान् किसी की पकड़ में नहीं आते हैं । बचपन में मां यशोदा ने उनको पकड़ने की चेष्टा की, ऊखल से उनको बांधने की कोशिश की ।

लेकिन वह पकड़ में नहीं आये। रस्सी के बंधन में रहते हुए भी उन्होंने दूसरों को बंधन से मुक्त कर दिया, खुद बंधन में नहीं आए। वात्सल्य की भावना से प्रेरित होकर माता यशोदा ने जैसी चेष्टा की, वैसी ही चेष्टा ईर्ष्या से प्रेरित होकर दुर्योधन ने भी की थी। वह भी सफल नहीं हो पाया। इसीलिए भगवान् को 'अग्राह्य' कहा जाता है। कोई उसको ग्रहण नहीं कर सकता, न पकड़ सकता है, न समझ सकता है। यही बात मांडूक्य में भी मिलती है—'अदृष्टम् अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम् अलक्षणम्, अचिंत्यम्।'' प्रपंच के उपशमन के बाद ही यह आत्मसार ग्राह्य बन जाता है।

हमारी पकड़ में न आने पर भी वह हमेशा हमारे सामने ही रहते हैं, शाश्वत हैं। 'शाश्वतम्, शिवम्, अच्युतम्' इन्हीं शब्दों में उपनिषद् उनका गुणगान करते हैं। वह हमेशा पास रहते हैं, फिर भी हम उनको पकड़ नहीं पाते। यह अजीब आंख-मिचौनी का खेल है जो भगवान् अपने भक्तों से हमेशा खेला करते हैं। कभी-कभी बिलकुल नज़दीक आते हैं तो भक्त अपने को धन्य समझता है। भगवान् के भव्य दर्शन से वह अपने आपको भूल जाता है। पर जैसे ही भगवान् का रूप आंख से ओझल हो जाता है, भक्त व्याकुल बन जाता है। जैसे रात को देखा हुआ सपना दिन में याद नहीं रहता, वैसे ही भगवान् की दिव्य अनुभूति बाद में शेष नहीं रहती। पर वह शाश्वत है, सनातन है, चिरंतन है। इस चिरंतन सत्य की खोज में जो चलता है, उसे ऐसा लगता है कि यह सत्य अब मिला, अब मिला। यहां पर 'शाश्वत' शब्द में एक चमत्कार है। संस्कृत में 'श्व' का मतलब होता है—कल। कुछ दुकानदार अपने को बहुत चालाक समझते हैं। वे किसी

को उधार देना नहीं चाहते हैं और अपनी दुकान पर एक सूचना पट्ट लगा देते हैं—उधार कल, नकद आज। भगवान् की दुकान पर भी यही क्रम चलता है। कल कल कहते हुए वह हमेशा बात टालते रहते हैं। "बहूनां जन्मनामते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते" (अनेक जन्मों के बाद ही ज्ञानी वहां तक पहुँच पाते हैं)। अगला नाम 'कृष्ण' है। कृष्ण तो चतुर है ही—बात टालने में और चाल चलने में। कृष्ण शब्द 'कृष' (खींचना) धातु से निकलता है। आकर्षण कृष्ण का लक्षण है। समस्त संसार को वह अपनी ओर खींच लेता है। कृष्ण का जन्म रात को हुआ और राम का दिन में। रात सबको अपनी ओर खींच लेती है और दिन सबको अपने-अपने काम में लगा देता है। रात में लोग अपने में लीन हो जाते हैं, सपनों की नई दुनियां में प्रवेश करते हैं जब कि दिन में लोग बहिर्मुख हो जाते हैं, बाहर के कामों में लग जाते हैं इस प्रकार राम और कृष्ण एक दूसरे के पूरक हैं—वैसे ही, जैसे दिन और रात। भगवान् विष्णु के हज़ार नामों में कृष्ण सबसे प्रसिद्ध नाम है क्योंकि आचार्य भीष्म ने युधिष्ठर को बार-बार समझाने की कोशिश की कि कृष्ण स्वयं भगवान् हैं। जहां धर्म है वहां कृष्ण है और जहां कृष्ण है वहां जय है, यही महाभारत का सार है। धर्म को विजय प्रदान करने वाला साधन कृष्ण है। यही नहीं, समस्त धर्मों के सार के रूप में गीतामृत कृष्ण के ही मुंह से निकला है।

'कृष्' धातु भू की सत्ता का द्योतक है और 'न' निर्वृति का वाचक। सत्ता और निर्वाण के संयोग से कृष्ण शब्द की व्युत्पत्ति होती है। कृष्ण को मिट्टी में बहुत स्वाद मिलता था और सारे गोकुल को अपनी रागमाधुरी में भुला देता था। इसमें यही रहस्य

छिपा हुआ है। वह आनंद और लय के मूर्तरूप हैं।

भगवान् को 'लोहिताक्ष' कहा गया है। 'लोहित' माने लाल होता है। लाल आंखें वाले को लोहिताक्ष कहा जाता है। भगवान् की आंखें लाल हैं। इस लालिमा के पीछे क्या रहस्य है, यह सोचने की बात है। लालिमा अनुराग का प्रतीक है, करुणा का भी प्रतीक है और क्रोध का भी। सहज रूप से भगवान् के मन में प्राणिमात्र के प्रति अनुराग होता है, प्रेम होता है। लेकिन जब लोगों में अच्छे लक्षण नहीं दिखाई देते तो उन पर दया आती है। बार-बार समझाने पर भी जो समझ नहीं पाते और लगातार गलत काम करते जाते हैं, उनके ऊपर क्रोध भी होता है। इस प्रकार अनुराग करुणा और क्रोध के कारण उनकी आखें लाल हो जाती हैं।

अगला नाम 'प्रतर्दन' है। प्रतर्दन माने ताड़ने वाला, दंड देने वाला है। सुधार के पहले तीन साधन—साम, दान और भेद जब असफल हो जाते हैं, काम नहीं करते हैं तब चौथे उपाय—दंड—का आश्रय लिया जाता है। जब दंड देना ही है तब संकोच नहीं करते हैं। शिशुपाल, कंस, पूतना आदि दुर्जनों को सबसे कठोर दण्ड दिया गया है।

यह नहीं समझना चाहिए कि दंड देना ही भगवान् का काम है। असल में लाचार होकर वह दंड देते हैं। दूसरों को संपत्ति और सुख प्रदान करना उसका प्रधान काम है। उनके पास काफी निधि है जिसे वह दूसरों को दे सकते हैं। इसीलिए उनका नाम 'प्रभूत' रखा गया है। उनके पास बहुत कुछ है, किसी चीज़ की कमी नहीं है। वह किसी से कोई चीज़ मांगते नहीं हैं, बल्कि दूसरों को देते हैं।

भगवान् का लीला-क्षेत्र तीन जगहों पर है, तीन दिशाओं में है। इसीलिए उनको 'त्रिककुब्धाम' कहा गया है। वह तीन क्षेत्रों में प्रकाशित होते हैं। ये क्षेत्र कौन-कौन से हैं, यह यहां पर स्पष्ट नहीं बताया गया है। हो सकता है, वे प्रणव के तीन अक्षर हों—जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति नाम की तीन अवस्थाएं हों या तीन संध्याएं हों। कुछ भी हो, वह तीन जगह प्रकाशित होने वाले त्रिविक्रम हैं, त्रिभंगीलाल हैं।

वह चाहे कहीं भी हों, वे परम पवित्र हैं। वह स्वयं पवित्र हैं और दूसरों को पवित्र बना देते हैं। जहां वे रहते हैं वहां का वायुमण्डल अपने आप पवित्र हो जाता है।

"अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोपि वा।
यः स्मरेत् पुंडरीकाक्षं स बाह्याभ्यंतरः शुचिः ॥

कमल नयन के स्मरण-मात्र से सब कुछ पवित्र हो जाता है।

प्रभु की इसी प्रभविष्णुता का गुणगान करने वाले इन्हीं नामों में अंतिम नाम है मंगलम् परम्। मंगलमय भगवान् के स्मरण-मात्र से सब कुछ मंगलमय हो जाता है। स्मृति कहती है—

"अशुभानि निराचष्टे तनोति शुभसंततिम्।
स्मृतिमात्रेण यत् पुंसां ब्रह्म तन्मंगलं विदुः ॥

७. मेधावी माधव

मंगलमय भगवान् की महती विभूति का वर्णन करते हुए अगले श्लोक में उनकी ज्येष्ठता और श्रेष्ठता पर प्रकाश डाला जाता है।

ईशानः प्राणदः प्राणो ज्येष्ठः श्रेष्ठः प्रजापतिः।
हिरण्यगर्भो भूगर्भो माधवो मधुसूदनः ॥

इसमें सबसे पहला नाम है 'ईशान'। समस्त संसार का पालन-पोषण और शासन उन्हीं के द्वारा होने के कारण उनको 'ईशान' कहा गया है। इसी अर्थ में 'ईश', 'ईश्वर' आदि नाम भी आते हैं, पर ईशान शब्द की एक और विशेषता है। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान नाम के पांच प्राण हैं जिनसे पांचभौतिक प्राणियों का प्रणयन होता है। इन पांच प्राणों के मूल में एक मुख्य प्राण प्रतिष्ठित है जिसके शासन में ये सभी प्राण चलते हैं। विविध प्राणों को नियंत्रित करने वाले विशिष्ट प्राण को यहां पर 'ईशान' कहा गया है। केनोपनिषद् में भी परमात्मा को प्राणों का प्राण (प्राणस्य प्राणः) कहा गया है। यहां पर ईशान शब्द का यही प्रधान अर्थ प्रतीत होता है क्योंकि इसके आगे जो नाम आते हैं, वे इसी प्राण-शक्ति का परिचय देते हुए इसी बात की पुष्टि करते हैं।

अगला नाम है 'प्राणद'। प्राण देने वाले और प्राण हरने वाले दोनों को प्राणद कहा जा सकता है। 'दा' धातु से दोनों अर्थ निकलते हैं। पांच प्राणों के प्रभु उन प्राणों का प्रणयन भी करते हैं और उनका विलयन भी, क्योंकि वे प्राणेश हैं। है उनको मालूम है कि प्राणों का स्पंदन कहां किस रूप में और किस समय होना चाहिए। इसी विधि विधान के अनुसार प्राणियों को वे प्राण प्रदान करते हैं और प्रदत्त प्राणों का उपसंहार भी कर लेते हैं। वास्तव में प्राणियों में जिन प्राणों का प्रवेश होता है और कुछ समय के बाद जिनका उत्क्रमण होता है, वे प्राण भी स्वयं ईश्वर के प्रतिरूप हैं। इसीलिए इस श्लोक में तीसरा नाम है—'प्राण'।

प्राणों के स्वामी ईशान हैं। प्राणों को लेने देने वाला प्राणद भी वही प्रभु हैं और प्राण भी स्वयं उसी प्रभु के प्रतीक हैं। 'प्राण' शब्द भी 'अन्' धातु के साथ 'प्र' उपसर्ग के संयोग से बनता है। जीवित रहना, सांस लेना, चलना फिरना, देखना, सुनना यह सब अन् धातु से उत्पन्न क्रियाएं हैं। ये सब क्रियाएं जिस मूल शक्ति से प्रेरित होकर चलती हैं, वही प्राण है। प्राण कहने मात्र से मुख्य प्राण या महान् प्राण या प्राणेश्वर का बोध होना चाहिए। इसलिए पहले के दो नाम ईशान, और प्राणद प्राण के ही पारिभाषिक रूप हैं। उन्हीं का सूक्ष्म रूप प्राण शब्द में निहित है। इस प्राण का क्या स्वभाव है, इसकी क्या विशेषता है, इससे कौन कौन से प्रयोजन सिद्ध होते हैं और इसके अंदर क्या प्रभाव है, ये सब बातें इस श्लोक के बाकी सात नामों से प्रकट होती है।

इसी प्राण की प्रशस्ति में सबसे पहले 'ज्येष्ठ' नाम आता है। ज्येष्ठ का मतलब है सबसे 'बड़ा'। सबसे बड़ा वही

होता है जो सबसे पहले पैदा हुआ हो। भगवान् सबसे पहले पैदा हुए थे या यों कहना चाहिए कि सबसे पहले विद्यमान थे। उनसे पहले प्राण नाम की कोई चीज़ नहीं थी। केवल आत्मा थी—

"आत्मा इदमेकमेव अग्र आसीत्
नान्यत् किंचन मिषत्"

आत्मा ही सबसे पहले विद्यमान होने के कारण सबसे बड़ी है, अग्रज है। परमात्मा के संकल्प ने इस आत्मा को अनेक रूप दिए हैं। इसीलिए परमात्मा सबके लिए अग्रज हैं। गणेश की वंदना करते समय उनको 'ज्येष्ठराज' कहा जाता है। सबसे पहले प्रकाश में आने वाले देवता होने के कारण गणेश को ज्येष्ठराज कहा गया है। लेकिन परमात्मा को ज्येष्ठराज कहने की कोई आवश्यकता नहीं। केवल ज्येष्ठ कहने से उनकी ज्येष्ठता का सही सही बोध हो सकता है।

परमात्मा न केवल ज्येष्ठ है, बल्कि श्रेष्ठ भी है। ज्येष्ठता में केवल वृद्धत्व या वर्षीयता की भावना है। पर श्रेष्ठता में सबसे बड़ा होने के साथ-साथ सबसे बढ़िया होने की बात भी शामिल है। भगवान् केवल बड़े ही नहीं, बढ़िया भी हैं। भगवान् से बढ़कर पांचभौतिक संसार में और कोई वस्तु नहीं हो सकती। भगवान् राम का आदर्श चरित्र अंकित करते हुए महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—"ज्येष्ठम् श्रेष्ठगुणैर्युक्तम्।" दशरथ के चार पुत्रों में राम सबसे बड़े थे। केवल सबसे बड़े नहीं, गुण में, आचरण में और आदर्श में भी सबसे श्रेष्ठ थे। ज्येष्ठता और श्रेष्ठता का यह अभीष्ट संगम भगवान् के ही अंश में देखा जा सकता है।

इसी वरिष्ठता के कारण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ परमात्मा को प्रजापति कहा गया है। वह समस्त प्रजा के पति हैं। जो संसार में जन्म लेता है उसको प्रजा कहा जाता है। प्राणी मात्र प्रजा की परिधि में आते हैं। समस्त प्राणियों के प्रभु प्रजापति हैं। वैसे सामान्य परिभाषा के अनुसार प्रजापति शब्द से सृष्टिकर्ता के भी प्रेरक स्वतंत्र कर्ता का आशय लेना चाहिए।

फिर प्रश्न उठता है कि समस्त प्राणियों के प्राणों को परिचालित करने वाले इस प्रभु को इतनी शक्ति कहां से मिली है। इसी प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत करता है, अगला नाम 'हिरण्यगर्भ'। मोटे तौर पर हिरण्य शब्द का अर्थ होगा—सोना। भगवान् के गर्भ में बहुत सारा सोना है। संसार की जो संपत्ति है, वह उन्हीं के पेट से निकली हुई हैं। प्राचीन ऋषियों ने इसी हिरण्यगर्भ को सृष्टि का मूल पुरुष बताते हुए कहा—

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्"

सृष्ठि के आरंभ में केवल यही हिरण्यगर्भ विद्यमान थे, उन्हीं से सारी प्रजा उत्पन्न हुई। वही इनके एक मात्र पति थे, प्रभु थे। हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष आदि राक्षसों ने इसी हिरण्य को अपने अधीन बनाने की कोशिश की। उनको मालूम नहीं था कि हिरण्यगर्भ की विनम्र आराधना से ही भूमण्डल वासी प्राणी हिरण्य बन सकता है। उसी हिरण्य गर्भ को भूगर्भ भी कहा जा सकता है।

अगले नाम में यही कहा गया है। एक दृष्टि से देखा जाए

तो भगवान् हिरण्य गर्भ है और दूसरी दृष्टि से वही भूगर्भ है। पृथ्वी के अंदर परमात्मा का जो अंश है, वही पृथ्वी से बाहर भी है। 'भूगर्भ' शब्द में एक चमत्कार है। परमात्मा के अंदर सारी पृथ्वी है, इसीलिए वे भूगर्भ कहे जा सकते हैं और पृथ्वी के अंदर परमात्मा हैं, इस कारण से भी वे भूगर्भ हो सकते हैं। वे पृथ्वी के अंदर हैं और पृथ्वी उनके अंदर है, यह एक विचित्र संयोग है। पृथ्वी और परमात्मा एक दूसरे में इस प्रकार समाए हुए हैं कि यह कहना कठिन है कि बाहर का आवरण क्या है और अंदर की वस्तु क्या है। वही प्राण हैं और वही प्राणेश्वर हैं। वही संपत्ति हैं और वही संपत्ति के दाता भी हैं। वही सोना हैं और वही मिट्टी भी हैं। मिट्टी को सोना बनाने वाली महती विद्या में वह पारंगत हैं।

यही अपूर्व रहस्य बताने के लिए आगे उनको 'माधव' कहा गया है। माधव शब्द का सीधा अर्थ है—लक्ष्मी के पति। महाभारत के उद्योग पर्व में 'माधव' शब्द की बड़ी मार्मिक परिभाषा दी गई है। मौन, ध्यान और योग के समन्वय से माधव शब्द को निष्पन्न बताया गया है। इन्हीं तीन के संयोग से जीवन की मधुरिमा अनुभव में आती है। जैसे मनु तत्व या मननशीलता से मानव शब्द निष्पन्न होता है, वैसे ही मधु तत्व या मधुर भावना या साधना से माधव शब्द निष्पन्न होता है। असल में राधा माधव की प्रेम भावना में इसी मधुर साधना की पराकाष्ठा दृष्टिगोचर होती है। मा या लक्ष्मी के पति होने के अतिरिक्त माधव इसी मधु विद्या के अधिष्ठाता भी हैं। पिछले नाम में भू देवी के साथ भगवान् का संबंध जोड़ा गया है। अब श्री देवी के साथ उनका संबंध

बताया जा रहा है ! श्री सूक्त में श्री देवी को 'हिरण्यवर्णा' कहा गया है। हिरण्यगर्भ और भूगर्भ के बाद माधव नाम का स्मरण कराने में कोई विचित्र सूत्र प्रतीत होता है। 'माधव' शब्द का संबंध मधु विद्या से भी जोड़ा जा सकता है। भगवान् की भावना हमको एक ऐसी मधुमती भूमिका में ले जाती है जहां पर पहुंचने के बाद सुख-दुख, हानि-लाभ, शीत-उष्ण, राग-द्वेष आदि का द्वंद्व एकदम मिट जाता है। वह एक ऐसा समतल है जहां पर हर चीज़ मधुर लगती है, कटुता का नाम तक नहीं होता। माधव की यही मधुमती भूमिका इस नाम से अभिव्यक्त होती है।

इससे बिलकुल विपरीत लगता है—अगला नाम 'मधुसूदन'। मधुसूदन का अर्थ होता है—मधु का शत्रु, मधु का संहार करने वाला। माधव शब्द में जिस मधु को हितकर बताया गया है, उससे भिन्न मधु मधुसूदन में है। मधु और कैटभ दो राक्षसों के नाम हैं जिनका भगवान् ने संहार किया था। इसीलिए उनको 'मधुसूदन' कहा जाता है। पर यह तो एक कहानी है। इस कहानी के पीछे जो तत्व है, उसको समझने से मधुसूदन शब्द की सार्थकता हृदयंगम हो जाती है। संसार में कई चीजें हमको अच्छी लगती हैं, पर वे कहां तक हमारे लिए हितकर हैं, इसका बोध बहुत कम लोगों को होता है। मानव मन को आत्मा की ओर अग्रसर करने वाली चीजें अच्छी होती हैं, विषय वासना की ओर ले जाने वाली चीजें अच्छी लगने पर भी हितकर नहीं होतीं। स्थूल दृष्टि से दोनों मधुर हैं। लेकिन एक प्रकार के माधुर्य में श्रेय है और दूसरे में केवल प्रेय है। जो चीज़ हमें प्रिय हो, उसका सेवन उसी सीमा तक करना चाहिए जब तक वह

हमारे लिए हितकर भी सिद्ध हो। जो हितकर नहीं है वह, चाहे कितनी भी अच्छी लगे, सर्वथा त्याज्य है। यही तत्व माधव और मधुसूदन—इन दो नामों में स्पष्ट होता है।

ईश्वर की प्रधानता और प्रणयनशीलता को दस नामों में स्पष्ट करने के पश्चात् अगले श्लोक में प्रभु के पराक्रम और प्रभाव का वर्णन किया जाता है—

"ईश्वरो विक्रमी धन्वी मेधावी विक्रमः क्रमः।
अनुत्तमो दुराधर्षो कृतज्ञः कृतिरात्मवान्॥

इस श्लोक के आरंभ में भी फिर 'ईश्वर' का साक्षात्कार होता है। पर पिछले श्लोक में जो 'ईशान' शब्द आया है, उससे यह ईश्वर कुछ भिन्न है। 'ईश्' धातु में वरच् प्रत्यय लगने से ईश्वर शब्द निष्पन्न होता है जब कि ईशान शब्द ईश और अन दो शब्दों से बना हुआ समास है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ईशान शब्द में ईश्वर की प्रधानता और मुख्य प्राण के रूप में उनकी प्रणयनशीलता को स्पष्ट किया गया है जब कि ईश्वर शब्द में उसी परमात्मा की वरेण्यता और प्रभविष्णुता पर प्रकाश डाला जा रहा है। प्रारंभिक श्लोकों में भी इस ईश्वर का नाम प्रकारांतर से आया है। प्रधान-पुरुषेश्वर में जो ईश्वर है, वह प्रकृति और पुरुष के अधीश्वर है। इसी प्रकार प्रभुरीश्वर में जो ईश्वर हैं वह अपनी प्रभविष्णुता के कारण सारे संसार को प्रभूत और प्रसूत करने वाले हैं। आचार्य शंकर ने प्रभु और ईश्वर को अलग-अलग नाम माना है। लेकिन जैसे 'निधिरव्ययः' एक ही नाम माना गया है, वैसे ही प्रभुरीश्वर को एक ही नाम मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अगर आचार्य शंकर के अनुसार प्रभु और ईश्वर को अलग-अलग नाम मान

लिया जाए तो इस श्लोक में जो ईश्वर का नाम आता है उसको दुबारा आया हुआ समझना चाहिए। वैसे सहस्रनाम के अनेक नाम दो बार, तीन बार और चार-पांच बार भी दुहराए गए हैं। प्रसंग के अनुसार इनके अलग-अलग अर्थ होते हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो यहां के ईश्वर पराक्रमी और कर्मपरायण परम सत्ता के रूप में प्रकट होते है। ये सारे गुण श्लोक के पहले नाम 'ईश्वर' में समाविष्ट हैं। इसी की विस्तृत व्याख्या बाकी दस नामों में की गई हैं। अगला नाम है 'विक्रमी'। क्रम का मतलब है 'चलना'— ढंग से चलना, नियमित गति से चलना किसी उद्देश्य को लेकर चलना आगे बढ़ने के लिए चलना। भगवान् का क्रम एक विशिष्ट प्रकार का होता है, निर्दिष्ट प्रयोजन को लेकर होता है। आम जनता के चाल-चलन से यह कुछ विलक्षण होता है। इसीलिए उनको विक्रमी कहा गया है। यह विक्रम पराक्रम से कुछ भिन्न है। भगवान् का एक और नाम है 'त्रिविक्रम'। वामन के अवतार में भगवान् ने छोटे ब्राह्मण का रूप धारण कर राजा बलि से तीनों लोकों को दान के रूप में ग्रहण किया था। दान में प्राप्त तीनों लोकों में लोकेश्वर इस तरह से छा गए कि राजा बलि के लिए कोई जगह ही नहीं रही। यह भगवान् के विक्रम की पराकाष्ठा है। सहस्रनाम में त्रिविक्रम की चर्चा आगे यथा-स्थल विस्तार से होगी। यहां पर यही समझना काफी है कि भगवान् के चलने का ढंग अजीब होता है। उसकी हम कल्पना नहीं कर सकते। किधर, किस रूप में, किस उद्देश्य से और किस समय उनके चरण चल पड़ते है, यह केवल उन्हीं को मालूम है, यही विक्रम भगवान् को विक्रमी बना देती है।

भगवान् जब चल पड़ते हैं तो खाली हाथ नहीं चलते, उनके हाथ में धनुष होता है। इसीलिए उनका नाम 'धन्वी' है। हाथ में धनुषबाण लिए कोदण्ड राम गोस्वामी तुलसी दास के लिए इतने अभीष्ट थे कि मथुरा में भी उनको द्वारकाधीश की मूर्ति धनुषबाण लिए दिखाई पड़ी। चाहे राम हो या कृष्ण, दोनों को धन्वी कहा जा सकता है क्योंकि यहां पर जिस धनुष की ओर संकेत है, वह केवल युद्ध में काम आने वाला धनुष नहीं है। बाहर के शत्रु से लड़ने के लिए जिस धनुष की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार का एक और धनुष भीतर के शत्रु पर विजय पाने के लिए आवश्यक है। इसी धनुष की ओर संकेत करते हुए कठोपनिषद् में कहा गया है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

प्रणव रूपी धनुष पर आत्मा रूपी तीर चढ़ाकर ब्रह्म रूपी लक्ष्य को भेदना अप्रमादी साधक का परम कर्त्तव्य होता है। इसी साधना का आधार, धनुष, भगवान् के हाथ में है, हमारे हाथ में नहीं। जो धनुष भगवान् के हाथ में है, उसका सहारा लेकर हमें आत्मा रूपी शर का संधान करना है। यह वास्तव में बड़ा जटिल और दुष्कर कार्य है। इसके लिए न केवल अलौकिक पराक्रम की आवश्यकता है, बल्कि असाधारण मेधा शक्ति की भी आवश्यकता है। फिर यह मेधा भी भगवान् के हाथ में हैं।

अगला नाम है 'मेधावी'। संसार की समस्त मेधा, सारी बुद्धि, भगवान् की अपनी संपत्ति है। अगर किसी को यह

मिल जाती है तो भगवान् की कृपा से ही मिलती है। गीता में भगवान् ने स्वयं कहा था—"ददामि बुद्धियोगं तें"। सच्चे मार्ग पर चलने वाले साधक के लिए आवश्यक बुद्धि प्रदान करने वाले वही परमात्मा हैं जिनको सविता के माध्यम से हम प्रतिदिन नमस्कार करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि बुद्धि के सहारे वे हमको आगे ले चलें। "सबको सन्मति दे भगवान्", यही आज के संत की भी पुकार है। पराक्रम और प्रतिभा भगवान् की ही देन है। अगर हम इनको अपना ही पुरुषार्थ समझते हैं तो इनसे जिस लक्ष्य की प्राप्ति होनी चाहिए, वह हो नहीं पाती।

इसीलिए अगले दो नाम विक्रम और क्रम भगवान् के पर्यायवाची बताए गए हैं। हमारे जो विशिष्ट कार्य हैं और साधारण कार्य हैं, दोनों भगवान् से ही प्रेरित हैं। जीवन में कभी-कभी कुछ ऐसे विशिष्ट क्षण आते हैं जिनको हम उपलब्धि के क्षण मानते हैं। यही विशिष्ट क्रम विक्रम है जो भगवान् का ही व्यक्त रूप है। इस विशेष उपलब्धि में भगवान् का रूप प्रकट होता है, पर जीवन के सारे कर्मों में भी भगवान् ही बोल उठता है। उनकी इच्छा के बिना हम एक कदम आगे नहीं बढ़ सकते। पैर चलते हैं तो उन्हीं के बल पर, अपने बल पर नहीं। आंखें देखती हैं तो उन्हीं की कृपा से, देखने की अपनी कोई क्षमता है नहीं। यही क्रम प्रत्येक इंद्रिय के प्रसंग में समझना चाहिए। हमारे समस्त कार्यक्रम को क्रमबद्ध बनाने वाला और कभी-कभी विक्रम का प्रदर्शन करने वाला वही विक्रमी है जिसको हम ईश्वर कहना पसंद करते हैं।

वह अनुत्तम है, उनसे बढ़कर कोई उत्तम नहीं। अगर

संसार में किसी श्रेष्ठ व्यक्ति की हम कल्पना करें तो उससे भी श्रेष्ठ होते हैं—भगवान्। उत्तमता की पराकाष्ठा पुरुषोत्तम में हम देखते हैं। वैसे पुरुषोत्तम नाम इसके पहले आया है। यहाँ पर अनुत्तम नाम से उससे भी गहरा भाव प्रकट किया गया है। उत् का मतलब होता है ऊपर, उत्तम का मतलब होता है सबसे ऊपर और अनुत्तम का मतलब होगा इतने ऊपर कि, उससे ऊपर की कल्पना संभव नहीं है। आदमी जितने ऊपर चढ़ सकता है, जितनी पूर्णता को प्राप्त कर सकता है, उसी परकाष्ठा का नाम परमात्मा है। वही अनुत्तम है।

इतनी ऊँची स्थिति पर आसीन परम सत्ता को कोई विचलित नहीं कर सकता। उसमें कोई दखल नहीं दे सकता। उसको कोई प्रभावित नहीं कर सकता। हाँ, उनकी कृपा प्राप्त की जा सकती है। इसीलिए उनको 'दुराधर्ष' कहा गया है। उन पर विजय प्राप्त करना या उनको अपना बना लेना असंभव हो, ऐसी बात नहीं है। संभव अवश्य है, पर सबके लिए नहीं। जिनकी गहरी साधना हो, जिनकी सच्ची तपस्या हो, जिनकी निखरी हुई निष्ठा हो, उनके लिए वह सुलभ हो जाते हैं। सच्चे भक्तों के लिए भगवान् सब कुछ करने को तैयार हो जाते हैं। वे भक्तों के अधीन हैं। सूरदास के स्वामी बांह उठाकर कहते हैं "हम भक्तन के भक्त हमारे।" भक्तों को अपवाद सिद्ध करने के उद्देश्य से, यहां पर भगवान् को दुराधर्ष कहा गया है।

'कृतज्ञ' भगवान् का एक विचित्र नाम है। वैसे कृतज्ञ शब्द का अर्थ होता है—एहसानमंद। भगवान् सबका एहसान मानते हैं, आभार प्रकट करते हैं। हम भगवान् की आराधना

में जो करते हैं, उसको वे भूलते नहीं। पाई-पाई का हिसाब लगाकर वे उसका फल हमें दिलाते हैं। यह कृतज्ञता का साधारण रूप है। पर इसका एक रूप यह भी है कि हम जो कुछ करते हैं, वह सब भगवान् जानते हैं। अच्छा काम करते हों या गलत काम करते हों, सच बोलते हों या झूठ बोलते हों, आराधना कर रहे हों या अपराध कर रहे हों, इसका सारा लेखा-जोखा भगवान् के पास है। उनके सामने किसी प्रकार का छलकपट काम नहीं कर सकता। इसके साथ-साथ जो सच्चे साधक हैं, वे आश्वस्त भी हैं कि उनकी साधना कभी व्यर्थ नहीं जाती। अर्जुन को शंका हुई कि अगर साधना के मार्ग में चलते-चलते आधे रास्ते में ही साधक की साधना रुक जाती है तो क्या होगा। इस शंका का समाधान करते हुए भगवान् स्पष्ट शब्दों में कहते हैं "न हि कल्याण-कृत् कश्चित् दुर्गति तात गच्छति" (कल्याण मार्ग पर चलने वाले साधक की दुर्गति कभी नहीं हो सकती)। वह प्रगतिशील ही होगा, आगे ही बढ़ता रहेगा, पीछे हटने की कोई गुंजाइश नहीं है। विश्व कवि रवीन्द्र ने भी इसी प्रकार के उद्गार अपनी गीतांजलि में प्रकट करते हुए कहा—

जीवने जतो पूजा होलो न सारा
जानि हे जानि ताउ होय नि हारा

(जीवन में जितनी आराधना अधूरी रह जाती है, वह व्यर्थ नहीं जाती। यह भगवान् की कृतज्ञता का उत्कृष्ट रूप है।)

'कृतज्ञ' के बाद 'कृति' भी भगवान का एक नाम है। कृति को याद रखने वाला भगवान् है, यह कृतज्ञ के नाम से स्पष्ट होता है। पर जिस कृति को वे याद रखते हैं, वह

कृति भी स्वयं वही हैं, यह इस नाम से स्पष्ट हो जाता है। जो कुछ किया जाता है, वह भी भगवान् है और करने से जो कुछ होता है वह भी भगवान् है। करने वाला भी वही है, क्योंकि शरीर और मन से ऊपर जो आत्मा है वह उन्हीं के हाथ में है, वह आत्मवान् है।

'आत्मवान्' इस श्लोक का अंतिम नाम है। प्रत्येक जीव की आत्मा जिनके अधीन है, वह परमात्मा है। भूतात्मा, पूतात्मा और परमात्मा ये तीनों नाम इसके पहले आ चुके हैं। इन तीनों से भी अधिक आत्मतत्व को स्पष्ट करने वाला नाम यह 'आत्मवान्' है। महर्षि वाल्मीकि नारद से जानना चाहते थे कि संप्रति कौन ऐसा व्यक्ति है जिसको हम आत्मवान् कह सकते हैं (आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः)। जो आत्मवान् होता है, वह अपने क्रोध को नियंत्रण में रखता है। उसके अंग-अंग में प्रकाश झलक उठता है। वे किसी से ईर्ष्या नहीं करते, किसी के गुणों की उपेक्षा नहीं करते और दोषों को अतिरंजित नहीं करते, बल्कि दूसरों की गलती माफ करते हैं और उन्होंने थोड़ा सा भी अच्छा काम किया हो तो उसकी बड़ी प्रशंसा करते हैं। ये सब आत्मवान् के लक्षण हैं। भगवान् को आत्मवान् कह कर सभी आदर्श गुणों का एक साथ वर्णन किया है। हमारी कोई अलग आत्मा नहीं है। सभी जीवात्मा परमात्मा के अधीन हैं—आत्मा एक है, पर आकार अनेक हैं।

८. सर्वदर्शी सर्वेश्वर

परम वरेण्य परमात्मा की प्रणयनशीलता और प्रभविष्णुता की प्रशस्ति के पश्चात् उनकी प्रपन्नता और प्रसन्नता का अनंत वैभव आगे के श्लोक में स्पष्ट किया जाता है—

सुरेश: शरणं शर्म विश्वरेता: प्रजाभव: ।
अहः संवत्सरो व्याल: प्रत्यय: सर्वदर्शन: ।।

इस श्लोक में कुल मिलाकर दस नाम हैं जिनमें सबसे पहला है—सुरेश । पिछले दो श्लोकों के प्रारंभिक नाम हैं—ईशान और ईश्वर। यह श्लोक भी ईश संबंधी नाम से ही आरंभ होता है । यहाँ ईश्वर केवल प्राणेश या लोकेश नहीं है, बल्कि सुरेश हैं। देवताओं के भी वे स्वामी हैं। "पवित्राणां पवित्रं, मंगलानां मंगलं तथा देवतानां दैवतं" वही परमपिता परमात्मा हैं जो अशरण शरण हैं, अनाथ नाथ हैं, अक्षय हैं, अव्यय हैं और अनंत हैं। 'सुरेश' शब्द में भगवान् के ये सभी गुण विद्यमान हैं। 'सुर' शब्द में 'सु' पूजा या पूज्यता का बोधक है और 'रे' 'रा' (देना) धातु से निष्पन्न है। अतः परम पूज्य या अत्यंत शोभनीय सुख प्रदान करने वालों को सुर कहा गया है। इन्हीं सुरों को देवता या अमर भी कहा जाता है। अलौकिक दीप्ति से विराजित होने वालों को देवता कहा जाता है और अनंतकाल तक जीवित रहने वाले को अमर। अतः कभी न मिटने वाले, हमेशा चमकने वाले और

दूसरों को भी चमक-दमक, सुख-शांति, हास-विकास आदि प्रदान करने वाले प्रभु को यहां पर सुरेश कहा गया है। अगर 'सुर्' धातु से सुर शब्द को निष्पन्न माना जाए तो 'सुर' का अर्थ शासक होता है और सुरेश का अर्थ होगा—शासकों का शासक। भगवान् विष्णु को सुरेश कह कर यहां पर उनको सर्वश्रेष्ठ शासक, दाता और देवता सिद्ध किया गया है।

दूसरा नाम है—शरणम्। जहाज़ पर बैठा हुआ पंछी जैसे इधर-उधर उड़ान भर कर अंत में जहाज़ पर ही आ पहुँचता है, वैसे संसार के समस्त प्राणियों को अंततः भगवान् की ही शरण लेनी पड़ती है। भगवान् ने स्वयं कहा है—"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" (सभी धर्मों को छोड़कर मेरे यहां पहुँच जाओ)। वही एकमात्र शरण्य हैं, आश्रय हैं।

'शरणम्' के बाद जो 'शर्म' नाम आता है, वह भी भगवान् की शरणागति की भावना को आगे बढ़ाता है। भगवान् की शरण में आने से शर्म या परम सुख की प्राप्ति होती है। अन्य देवी देवताओं की उपासना से क्षणभंगुर सुख मिल सकता है। पर शासकों के शासक, दाताओं के दाता और संधाताओं के अनुसंधाता सुरेश की शरण में जाने से अक्षय, अखंड और अनंत सुख की प्राप्ति होती है जिसे परमानंद कहा जाता है।

भगवान् का यह अधिकार क्षेत्र किसी देश विशेष तक सीमित नहीं है। वे विश्वरेता हैं। सारे संसार का प्रसार उन्हीं से होता है वही सचराचर सृष्टि के बीज हैं। विश्व को बीज प्रदान करने वाले पिता वही परम पिता परमात्मा हैं।

इसीलिए उनको 'प्रजाभव' कहा गया है। 'प्रजापति' नाम पहले आ चुका है। 'प्रजापति' में परम पिता का आधिपत्य प्रकट होता है। 'प्रजाभव' में उनकी सृजनात्मकता और विभवात्मकता अभिव्यक्त होती है। प्रजा के भव का ही नहीं, अभव का कारण भी वही प्रजाभव हैं। यही बात अगले तीन नामों में बताई जाती है।

अहस्, संवत्सर और व्याल—ये तीनों नाम लोकनाथ भगवान् को काल पुरुष के रूप में प्रस्तुत करते हैं। अहस् या दिन भगवान् का ही व्यक्त रूप है। रात के समाप्त होने पर दिन निकलता है और दिन के बाद रात शुरू होती है। इस प्रकार दिवा-रात्रि का जो चक्र निरंतर चलता रहता है, इसके मूल में भगवान् की ही क्रिया शक्ति या प्रेरणा विद्यमान है। उनकी इच्छा से ही दिन रात होते हैं। इसलिए यह दिनमान भगवान् का ही नाम है। वाल्मीकि रामायण में सुमंत्र अपने स्वामी दशरथ को जगाते हुए कहते है—

"गता भगवती रात्रिः अहः शिवमुपस्थितम्"

(भगवती रात्रि बीत चली है और शिव रूपी दिन आ खड़ा है।) यह बहुत ही सारगर्भित वाक्य है। रात में भगवती का रूप प्रकट होता है तो दिन में भगवान् का। आखिर भगवान् और भगवती एक ही मूल शक्ति के दो अभिन्न रूप हैं। यहां पर 'अहस्' नाम में भगवान् के इस काल रूपी मूल स्वरूप को बड़े सूक्ष्म रूप में प्रकट किया गया है। अहस् या दिन प्रकाश और प्रगति का द्योतक है। भगवान् सबको प्रकाश देते हुए प्रगति-पथ पर अग्रसर होनेवाले काल के समान हैं।

आगे का नाम 'संवत्सर' अहस् से कुछ अधिक व्यापक है।

कई दिन बीतने पर एक वर्ष होता है जिसको संवत्सर कहा जाता है। सात दिन का एक सप्ताह होता है, चार पांच सप्ताह बीतने पर महीना होता है और बारह महीने का एक संवत्सर होता है। कई दिनों की, कई सप्ताहों की और कई महीनों की और कई ऋतुओं की पुनरावृत्ति के बाद संवत्सर का चक्र एक बार घूमता है। समान गति से निरंतर चलने वाला हो तो संवत्सर (सं-वत्-सर) है। यह सवत्सर भी भगवान् के अपेक्षाकृत अधिक व्यापक रूप को प्रकट करता है। संवत्सर के सार का ज्ञाता सर्वेश्वर की वास्तविकता सत्ता का भी ज्ञाता बन जाता है, इस बात का प्रमाण श्रुति भरती है—

"यः संवत्सरस्यायतनं वेद ।
आयतनवान् भवति ।"

ये दिन, ये महीने, ये ऋतु-चक्र और ये संवत्सर किस महान् प्रयोजन को लेकर चल रहे हैं और उनका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह सूत्र रूप में 'व्याल' शब्द प्रकट करता है। भगवान् को दिन और वर्ष के रूप में देखने के वाद दिव्य नामों के उन्नायक आचार्य को दृष्टि में वह काल रूपी भगवान् 'व्याल' (भयानक वन्यमृग या सर्प) के रूप में दिखाई देते हैं। समय बीतता जा रहा है तो मनुष्य को प्रसन्न और आश्वस्त होने की अपेक्षा अधिक सतर्क और अप्रमत्त रहने की आवश्यकता है क्योंकि उसकी आयु के कुछ क्षण घट गए हैं। "आयुःक्षीणं न जानासि तस्माज्जाग्रत, जाग्रत" वाली चेतावनी में भी यही भावना है।

पर 'व्याल' शब्द काल को सर्प के रूप में प्रस्तुत करता है। हिन्दी में वर्ष के लिए जो 'साल' शब्द प्रयुक्त होता है,

वह इसी व्याल से मेल खाता है। हो सकता है संवत् और व्याल या संवत् और काल का यह मिला जुला रूप हो। महाव्याल या महाग्रास के रूप में समस्त प्राणियों को ग्रसने वाले काल का प्रायः वही रूप सर्वत्र मान्य है। विश्वरूप प्रदर्शित करने के बाद भगवान् कृष्ण भी अपने को काल बताते हैं। 'काल' शब्द से सब कुछ खा जाने की या खपाने की भावना का बोध होता है।

भगवान् को जब इस विकराल काल के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो घबराने की कोई बात नहीं है। युक्त-अयुक्त, उचित-अनुचित, समय-असमय की विवक्षा के बिना वह सब को अपने अंदर समाता नहीं है। इस बात का आश्वासन देते हुए ईश्वर के विधि-विधान की नियमित व्यवस्था में विश्वास पैदा करने के लिए अगले नाम में भगवान् को 'प्रत्यय' कहा गया है। प्रत्यय का अर्थ होता है—प्रतीति या विश्वास। भगवान् कठोर नियंता होते हुए भी क्रूर या दारुण नहीं हैं। उनकी हर चेष्टा नियमित और न्यायपूर्ण होती है। अतः हम आश्वस्त रह सकते हैं। हमारा श्रेय प्रेय, योगक्षेम, सुख-दुख सब उन्हीं के पास बीमा कराए गए हैं। जो मिले, उसे भगवान् का प्रसाद मानकर स्वीकार करने में ही हमारा हित है। यही 'प्रत्यय' हमें मिलना चाहिए और वह भी भगवान् की कृपा से ही संभव है।

'प्रत्यय' व्याकरण में प्रयुक्त एक पारिभाषिक शब्द भी है। जब तक धातु में प्रत्यय नहीं लगता तब तक किसी शब्द का रूप नहीं बन सकता। धातु और प्रत्यय का संयोग शब्द को पद की संज्ञा देता है। इसी प्रकार भगवान् के स्वरूप में जब तक हमारा प्रत्यय नहीं जुड़ता, तब तक धातुरुत्तम (उत्तम

धातु) से भी हमें कोई पदलाभ नहीं हो पाता। इसलिए प्रत्यय बहुत आवश्यक है। संशय हमें सर्वशक्तिमान् परमात्मा से दूर ले जाता है और प्रत्यय से हम उनके निकट पहुँच जाते हैं। संशय का जितना अंश मिट जाता है, प्रत्यय का उतना अंश जुट जाता है और धातु के प्रसाद से आत्मा की महिमा उतनी ही अधिक हृदयंगम होने लगती है।

इस प्रत्यय को प्राप्त करने के लिए हमें और कहीं भागने की आवश्यकता नहीं है। हम जहां कहीं भी हों, वहीं पर हमें वह प्रत्यय मिल सकता है क्योंकि वह 'सर्व दर्शन' है। इस श्लोक का अंतिम नाम है 'सर्वदर्शन'। भगवान् प्रत्यय के रूप में सर्वत्र विद्यमान हैं, सब कुछ देख पाते हैं और सब लोग उनको देख सकते हैं, पर प्रत्यय चाहिए। "सर्वः पश्यति, सर्वं पश्यति" वाला उपनिषद् वाक्य सर्वदर्शन की इसी सर्वव्यापिनी दृष्टि का परिचय कराता है। इसी सर्वदर्शिता में भगवान् की समदर्शिता भी है। भगवान् भास्कर की किरणें जब प्रभात की प्रारंभिक घड़ियों को चीर कर घर-घर में घट-घट में प्रवेश करती हैं तो उनका लाभ वे सभी लोग उठा सकते हैं जो जगे हुए हैं। इसी प्रकार भगवान् सब को देखते हैं, सब को देख-भाल करते हैं और सब को दिखाई भी देते हैं बशर्ते कि हमारे अंदर उनको देखने की उत्कट कामना हो।

"जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू
सो तेहि मिलै न कछु संदेहू।"

परमेश्वर की प्रपन्न परायणता के पीछे उनकी जो सहज सिद्ध सर्वेश्वर भावना है, वह अगले श्लोक में वर्णित है —

अजः सर्वेश्वरः सिद्धः सिद्धिः सर्वादिरच्युतः ।
वृषाकपिरमेयात्मा सर्वयोगविनिस्सृतः ॥

भगवान् 'अज' हैं। उनका जन्म न पहले कभी हुआ है, न अब होता है और न आगे होगा। सारे संसार की उत्पत्ति उन्हीं से हुई है तो उनको उत्पन्न करने की क्षमता और किसी में नहीं हो सकती। संसार की प्रत्येक घटना और चेतना के वे मूल कारण हैं, अतः उनके अस्तित्व का और कोई कारण नही हो सकता। वे कारणों के कारण और स्वतंत्र कारक हैं। अगर उनकी उत्पत्ति किसी से मान भी ली जाए तो वह केवल 'अ' कार से मानी जा सकती है। इसीलिए उनको 'अज' कहा गया है। 'अकारो वै सर्वा वाक्'—इस श्रुति वाक्य से भी इस धारणा की पुष्टि हो जाती है। जब 'अ' कार से सारी सृष्टि निकली है तो इस सृष्टि के बीज रूप परमेश्वर भी 'अ' कार के ही मूर्त्त रूप माने जा सकते हैं।

'अज' शब्द का एक और अर्थ होता है 'बकरी'। बड़ी उमंग के साथ उछल उछल कर चलने वाला जीवजन्तु होने के कारण बकरी को 'अज' कहा जाता है। इस दृष्टि से भी भगवान् का 'अज' नाम सार्थक होता है। ज्योतिश्चक्र की बारह राशियों में सबसे पहली राशि है, मेष। इसको भी अज कहते हैं। यह राशि चक्र का उद्गम स्थान है। इसी श्लोक में सर्वादि, सर्वेश्वर, अच्युत आदि नाम होने के कारण अज शब्द का आद्यता बोधक अर्थ लिया जाए तो भी अनुचित नहीं है।

अगला नाम है—'सर्वेश्वर' अर्थात् 'सब का ईश्वर'। स्थावर जंगम, पशु-पक्षी, जड़-चेतन, सुर-असुर सबका वही

स्वामी है। इसलिए वह सर्वेश्वर कहा गया है। लेकिन सर्वेश्वर शब्द मांडूक्य उपनिषद् में एक विशिष्ट अर्थ में आता है। जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं को पार कर जब व्यक्ति की चेतना चौथी अवस्था में पहुँच जाती है तो वही सर्वेश्वर, सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी का अवस्थान बताया जाता है।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष
योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्

जागृति में वैश्वानर का रूप प्रकट होता है तो स्वप्न में तैजस का और सुषुप्ति में प्राज्ञ का। इन तीनों से परे है सर्वेश्वर, जो सब का प्रभु है, सब कुछ जानता है, सभी में समाया हुआ है और सबके पीछे मूल कारण के रूप में छिपा हुआ है। यही उत्पत्ति और लय के प्रधान कारक हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो 'सर्वेश्वर' नाम 'अज' की भावना को आगे बढ़ाने वाला सिद्ध होता है। जिनको जन्म लेने की आवश्यकता नहीं है और जिनमें दूसरों को जन्म देने की क्षमता होती है, वे ही सच्चे अर्थों में सर्वेश्वर बन सकते हैं। इसके पहले प्रधान पुरुषेश्वर, प्रभुरीश्वर, ईश्वर, ईशान, सुरेश आदि जो नाम आये हैं वे भी प्रभु की ईश्वरीयता या ऐश्वर्य के द्योतक हैं। पर सर्वेश्वर इन सब से विलक्षण हैं। उनका ऐश्वर्य स्वयंसिद्ध है और वह स्वयं 'सिद्धि' हैं। अगले दो नाम 'सिद्ध' और 'सिद्धि' हैं।

भगवान् का नाम संसार में प्रसिद्ध है, इसलिए वह सिद्ध है। सच्चे साधकों का साथ देने में वह हमेशा सिद्धहस्त हैं, इसलिए भी वे सिद्ध हैं। भगवान् को किसी वस्तु को प्राप्त

करने के लिए साधना करने की आवश्यकता नहीं होती। साधना और सफलता उनके लिए सहज रूप से सिद्ध हैं। इसलिए वे सिद्ध हैं। आगे चलकर भगवान् के नामों में सिद्धार्थ सिद्धसंकल्प, सिद्धिद, सिद्धिसाधन आदि का संकीर्तन होने वाला है। यहां पर यह सिद्ध नाम उसी भावना का बीज रूप है।

हम प्रायः सिद्ध उसको कहते हैं जिसने सिद्धि प्राप्त की है। लेकिन परमात्मा एक ऐसे सिद्ध व्यक्ति हैं जो अपनी सिद्धि से भिन्न नहीं हैं। वही सिद्ध हैं और वही सिद्धि भी हैं। जैसे विक्रम और विक्रमी उन्हीं के नाम बताए गए हैं, उसी प्रकार सिद्ध और सिद्धि दोनों भगवान् के ही दो रूप हैं। सिद्धि में भी भगवान् हैं और सिद्ध व्यक्ति में भी भगवान् हैं लेकिन यह किस प्रकार की सिद्धि है और किस प्रकार की साधना से यह सिद्धि संभव हो सकती है, यह अगले दो नामों से स्पष्ट हो जाता है।

अगला नाम है 'सर्वादि' जिसका मतलब है 'सबका आरंभ'। संसार में जो भी घटना होती है, उसके प्रवर्तक भगवान् हैं। ईश्वर के संकल्प से ही प्रत्येक कार्य होता है। इसलिए आदर्श भक्त का लक्षण बताते हुए गीता में कहा गया है वह 'सर्वारंभपरित्यागी' अर्थात् सभी प्रकार के आरंभ या संकल्प को भगवान् के ऊपर छोड़कर वह निश्चिंत होता है। सच्चा भक्त कभी नहीं समझता कि यह मेरा संकल्प है, यह मेरा इरादा है या मैंने यह काम किया है। वह यही समझता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ—"नैव किंचित् करोमि"। वही सच्चा योगी है क्योंकि जब किसी आचरण का आरंभ ही भगवान् के संकल्प से प्रसूत माना जाता है तो

उसके फल की अपेक्षा रखने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः आदर्श साधक की दृष्टि में भगवान् ही सर्वादि है।

भगवान् का संकल्प काफी प्रबल होता है। वह अपने संकल्प में तनिक भी ढिलाई नहीं दिखाते। इसलिए उनका नाम 'अच्युत' है। वह कभी भी अपने मार्ग से च्युत नहीं होता, नहीं हटता। अच्युत, अनंत और गोविन्द भगवान् के तीन ऐसे नाम हैं जो उनकी दिव्यता का परिचय कराते हैं। इसीलिए कहा गया है कि इन तीन नामों के उच्चारण मात्र से मानव का मन पावन बन जाता है। भगवान् की निधि कभी नहीं घटती है, इसीलिए उनको अव्यय निधि कहा गया है। भगवान् की सिद्धि कभी क्षीण नहीं होती, इसलिए वह अच्युत है। सामान्य साधक अपनी साधना के बल पर किसी सिद्धि को प्राप्त करता है तो वह सिद्धि अनंतकाल तक उसके साथ नहीं रह सकती। कुछ समय तक वह स्वर्गीय सुख का अनुभव करता है और उसके बाद पुण्य के क्षीण होने पर मर्त्यलोक में पहुँच जाता है। पर भगवान् की सिद्धि ऐसी नहीं है। वह अनंतकाल तक अक्षुण्ण रहती है। इसलिए उनका नाम अच्युत हो गया।

इस श्लोक की पहली पंक्ति में भगवान् की स्वतंत्रता और सिद्धि की विशेषता बताई गई हैं और दूसरी पंक्ति में उनकी अपार करुणा का वर्णन है। पहला ही नाम है 'वृषाकपि'। यह बड़ा विचित्र नाम है। साधारण भाषा में 'वृष' का मतलब होता है—बैल और कपि का मतलब होता है—बंदर। बैल और बंदर को एक साथ मिलाने वाला यह शब्द भगवान् के किस गुण का वर्णन कर रहा है, यह विचारणीय है। बड़ी

गहराई के साथ सोचने विचारने पर पता चलता है कि यहां पर 'वृष' का मतलब केवल बैल नहीं है और 'कपि' का मतलब सिर्फ बंदर नहीं है। 'वृष' शब्द में बरसने की भावना है, अपनी संपत्ति अपने साथियों तक पहुँचाने की भावना है। बादल बरसते हैं, पर किसी के मांगने पर नहीं। बरसना बादल का लक्षण है, स्वभाव है। इसी प्रकार भगवान् का स्वभाव है—भक्तों को अनुगृहीत करना, अपनी करुणा से उनको आप्लावित करना, आनंद का रस बरसाना। इसके लिए मांगने की आवश्यकता नहीं है, पर आवश्यकता है साधना की, निष्ठा की और श्रद्धा की। वैसे वृष या वृषभ धर्म का प्रतीक माना जाता है। धर्म का काम भी दूसरों को कर्मों का उचित फल देना है। धर्म ही मानव की रक्षा करता है। धर्म से ही आनंद, हर्ष और उल्लास की वर्षा होती है। जो धर्म की रक्षा करते हैं, धर्म उनकी रक्षा करता है। इस प्रकार संसार को संपन्न बनाने वाली धार्मिक भावना और साधक को सफलता प्रदान करने वाली सरस करुणा ये दोनों वृष शब्द में निहित हैं।

अब देखना चाहिए कि 'कपि' शब्द की क्या सार्थकता है। 'क' का मतलब है—जल या पानी। जल की रक्षा करने वाला, जल को नियंत्रित करने वाला और जल का आस्वादन करने वाला कपि है। वृष शब्द में पानी बरसाने की भावना है तो कपि शब्द में बरसे हुए पानी को सही ढंग से काम में लाने की भावना निहित है। इसलिए दोनों शब्द जब मिल जाते हैं तो भगवान् की उदारता और नियंतृता का सामंजस्य प्रकट होता है। वह संसार को सब कुछ देता है और दी गई संपत्ति के सही-सही विनियोजन की व्यवस्था भी कर लेता है।

महाभारत के शांति पर्व में इसी वृषाकपि शब्द की सुन्दर परिभाषा मिलती है —

कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते ।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह काश्यपो मां प्रजापतिः ।।

इससे स्पष्ट होता है कि 'वृषाकपि' से आशय है, उच्चकोटि का धर्म। वास्तव में भगवान् के द्वारा स्थापित, प्रचलित और परिपालित धर्म बहुत ही उच्चकोटि का है क्योंकि उसी में लेन देन की भावना का स्वयं चालित नियम निहित है। भगवान् ही हमें संपत्ति देता है और चाहता है कि उस संपत्ति का सदुपयोग हो। इस प्रकार वह चाहता है कि उनकी दी गई बुद्धि भी लोक-कल्याण के काम आ जाए। लेकिन यह सारा शासनतंत्र नियंत्रित रूप से कैसे चल रहा है, इसको हम समझ नहीं सकते। यह हमारे किसी मापदण्ड के अंतर्गत नहीं आ सकता। इसीलिए उनका नाम 'अमेयात्मा' हो गया है। उनकी आत्मा का मापन या विश्लेषण करना हमारी क्षमता से परे है। उनके प्रभाव का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसे हम अपनी मेधा को परिधि में बांध नहीं सकते।

यही नहीं, संसार में जितनी साधना चलती है उस सब का फल स्वयं भगवान् हैं। यही विचार अगले नाम और इस श्लोक के अन्तिम नाम 'सर्वयोगविनिःसृत' में व्यक्त हुआ है। सभी प्रकार की योग साधना का परिणाम या फल श्रुति स्वयं भगवान् हैं। भगवान् रामचन्द्र जब शवरी के आश्रम में पहुँचते हैं तो उनसे कुशल प्रश्न के रूप में पूछते हैं 'क्या तुम्हारी साधना ठीक-ठीक चल रही है ?' इसके जवाब

में शबरी कहती है, "आपके आगमन से मेरी साधना सफल हुई है।" संत त्यागराज भी कहते हैं "मेरी योग-तपस्या का फल तू ही बन आ जाए"। गीता में भी कहा गया है कि जो कुछ करते हो, देते हो, जपते हो और तपते हो, सब भगवान् को अर्पित करने में ही तुम्हारा हित है। याग, योग, ध्यान, समाधि, साधना आदि से जो सिद्धि संभव है, उसी का मूर्त्त रूप भगवान् है। वही सिद्धि हैं वही सिद्ध हैं, वही योग हैं और वही योगी हैं।

सर्वे वेदा यत्पदमामनंति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदंति
यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरंति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि—
ओमित्येतत्

९. सत्य सम्मित समात्मा

जैसे सारा योग भगवान् की देन है, वैसे सारा भोग भी वासुदेव का वरदान है। त्याग और भोग दोनों में परमात्मा विराजमान हैं और उन्हीं के स्पर्श से दोनों पावन बन जाते हैं। भगवान् वासुदेव की इसी सर्वास्यता और सुवासिता का सुन्दर प्रतिपादन अगले श्लोक में पाया जाता है —

वसुर्वसुमनाः सत्यः समात्मा सम्मितः समः।
अमोघः पुंडरीकाक्षो वृषकर्मा वृषाकृतिः॥

इस श्लोक का पहला नाम है—'वसु'। संसार के कोने-कोने में हरदम निवास करने वाला सर्वान्तर्यामी प्रभु 'वसु' है। 'वसु' का शब्दार्थ है—बसनेवाला। भगवान् सब में निवास करता है और सारी सृष्टि भगवान् में निवास करती है। इसलिए भगवान् के निवास में विशेषता यह है कि वह अपनी ही सृष्टि की नस-नस में प्रवेश कर उसे इस तरह बसाता है कि वह खुद बसनेवालों का बसेरा बन जाता है। 'वस्' — धातु का दूसरा अर्थ है—आवरण या आच्छादन डालना। सभी प्राणियों को प्राणों का जो आवरण मिला है, वह भगवान् की ही देन है। नौ दरवाज़ों का यह शरीर रूपी बसेरा उन्हीं की रचना है। पग-पग पर प्राणियों को बचानेवाला और

माया के आवरण में उनको आराम, आलोक और आनंद प्रदान करने वाला वही वसु है। वसु का मतलब संपदा भी है। भगवान् सारी संपत्ति की खान हैं, संपन्नता के मूर्त्तरूप हैं और आनंद के धाम हैं।

दूसरा नाम 'वसुमना' 'वसु' शब्द की ही विस्तृत व्याख्या करता है। भगवान् का मन हमेशा संपन्न और प्रसन्न रहता है। वह चाहते हैं कि सभी लोग हमेशा प्रसन्न रहें। प्रसन्न रहना योग की पहली आवश्यकता है। जो मन से प्रसन्न और संपन्न है, वह तन-धन की कमी बेशी को खुशी से सह लेता है और आत्मयोग का अधिकारी बन जाता है। जो मन से प्रसन्न नहीं है, वह तन धन से भरपूर होने पर भी हमेशा व्याकुल रहता है। संपत्ति का होना ही काफी नहीं है, संपन्न होना भी ज़रूरी है। इसीलिए 'वसु' के बाद 'वसुमना' का नाम शामिल किया गया है।

तीसरा नाम है—'सत्य'। अतीत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालों में अविकल रूप से रहनेवाला तत्व सत्य कहलाता है। वह 'सत्' या साकार भी हो सकता है और 'त्यत्' या निराकर भी हो सकता है। इन्हीं दो रूपों में परम सत्य की कल्पना की गई है (तैत्तिरीय्)। प्राण तत्व (सत्), अन्न तत्व (ति) और आदित्य तत्व (यम्) के संयोग से सत्य की निष्पत्ति होती है (ऐतरेय आरण्यक)। पार्थिव अन्न में प्राण भरने वाला अपार्थिव और आलोकमय पुंज आदित्य में है। इसीलिए भगवान् भास्कर को 'आ सत्येन रजसा वर्तमान' सनातन सत्ता के रूप में श्रुति ने प्रतिपादित किया है। अंधकार से परे (तमसः परस्तात्) सूर्य के सुनहले रंग का

(आदित्य वर्ण) जो महान् पुरुष विद्यमान है, वही सत्य नारायण, सत्य देव या सत्य है। इसी सत्य रूप भगवान् का गुणगान इस छोटे से नाम में बड़ी गंभीरता और तत्परता के साथ किया गया है।

सर्वदा, सर्वत्र अपने सच्चे रूप में निवास करने वाला परमात्मा 'समात्मा' है। वह सब के लिए समान है और सब में समान रूप से छाया हुआ है, बसा हुआ है। भगवान् ने अपनी दिव्य वाणी में स्पष्ट कहा है, "मैं सब के लिए समान हूँ, न मेरा कोई दुश्मन है, न दुलारा।" (समोऽहं सर्व भूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः)। जो भगवान् को मानते हैं, उनको भगवान् भी मानते हैं। जो नहीं मानते हैं, उनको भी भगवान् का सहारा मिलता है—उसे मनवाकर उसमें सच्ची मान्यता जगाने के लिए। ब्रह्म तत्व निर्दोष और समरस माना गया है। सभी प्राणियों में एक ही आत्मा, एक ही चेतना अखंड और अभिन्न रूप से व्याप्त है और वही समात्मा है।

एक ही अव्यक्त, अनंत और अपरिमेय आत्मा अनेक जीवों में व्यक्त होकर ससीम और सम्मित बन जाती है। अव्यक्त परमात्मा में और व्यक्त जीवात्मा में एक ही चेतना विराजमान है। अंतर केवल यही है कि अव्यक्त में उसका मापन संभव नहीं है, जब कि व्यक्त आत्माओं में, व्यक्तियों में वह परिमित, सीमित और सम्मित बन जाती है। इसलिए भगवान् को 'सम्मित' कहा गया है। कुछ लोग इस नाम को 'असम्मित' मानते हैं। 'समात्मा' और 'असम्मित' के योग से 'समात्मासम्मित' बन जाता है। 'असम्मित' का मतलब है—अपरिमित, असीम, अप्रमेय। भगवान् सीमित भी हैं और असीम भी। ब्रह्म भाव में अपरिमेय हैं और जीव रूप में

परिमेय। अतः सम्मित और असम्मित दोनों नाम ठीक बैठते हैं।

भगवान् को केवल 'सम' कहा जाए, तो भी काफी है। 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'—जो दोष रहित, निर्मल और सर्व समान हो, वही ब्रह्म भाव है। 'समत्वं योग उच्यते'—समता की भावना ही योग है। राग-द्वेष, सुख-दुःख, मित्र-शत्रु, शुभ-अशुभ आदि में एकरस, निर्विकार और निर्लिप्त रहना ही सच्चा योग है। योगेश्वर इसी समता के मूर्त रूप हैं। अतः 'सम' उनके लिए सार्थक नाम है। 'सम' शब्द में एक और विशेषता है। मा—लक्ष्मी के साथ (मया सह) होने के कारण भी भगवान् विष्णु को 'सम' कहा जा सकता है। जहां भगवान् हैं, वहां भगवती भी हैं। जहां मा, रमा या लक्ष्मी है, वहां माधव, रमापति या नारायण का होना अवश्यंभावी है। इस प्रकार प्रकृति और पुरुष का सामरस्य भी इस 'सम' नाम से व्यंजित होता है।

भगवान् का प्रभाव 'अमोघ' है। वह कभी व्यर्थ नहीं जाता। इसलिए उनका नाम भी 'अमोघ' रखा गया। भगवान् का संकल्प सच्चा और पक्का होता है, इसलिए वह 'अमोघ' हैं।

'पुंडरीकाक्ष' भगवान् का सर्व साधारण और बहुचर्चित नाम है। संध्या वंदन के प्रारंभ में पुंडरीकाक्ष के स्मरण से ध्याता अपने को बाहर और भीतर से पावन बना लेता है। शरीर से पवित्र हो या न हो और चाहे किसी भी अवस्था में हो, पुंडरीकाक्ष का नाम लेने मात्र से सब कुछ पवित्र हो जाता है। इस छोटे-से नाम में इतना बड़ा महत्व कहां छिप

है ? 'पुंडरीक' का अर्थ है—कमल । कमल जैसी आंखें जिनकी होती हैं, उनको 'पुंडरीकाक्ष' कहा जाता है। इसी अर्थ में भगवान् को 'कमलनयन' भी कहा जाता है। पर दोनों में अंतर है। पुंडरीक केवल साधारण कमल नहीं है, हृदय कमल के भीतर का यह अमलिन और पुनीत बनाने वाला पराकाश है जहां भावना अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है। इसी पराकाष्ठा का द्रष्टा और अधिष्ठाता 'पुंडरीकाक्ष' है। 'अक्ष' का मतलब है—पहुंचाने वाला, प्रदान करने वाला, प्राप्ति में सहायक होने वाला। पुंडरीक (हृदय कमल) को प्राप्त करने में सहारा देने वाला ही पुंडरीकाक्ष या भगवान् पांडुरंग हैं।

'वृषकर्मा' भगवान् का अगला नाम है। 'वृषाकपि' की व्याख्या इसके पहले हो चुकी है। वृष का मौलिक अर्थ होता है—बरसना । 'वृषाकपि' में बरसाने और सरसाने का सामंजस्य देखा जा चुका है। 'वृषकर्मा' में बरसकर काम करने की भावना है। बादल बरसते हैं तो अपने किसी प्रयोजन से नहीं, संसार को सरस बनाने के लिए, वसुधा को सस्य श्यामल बनाने के लिए, पृथ्वी का ताप मिटाने के लिए और धरती की प्यास बुझाने के लिए। किसी के मांगने पर यह काम नहीं होता, अपने आप हो जाता है। बादल की तरह भगवान् के कर्म भी अयाचित, अकारण और आपातमधुर होते हैं। जब दया आती है, तो बरस पड़ते हैं और कभी-कभी गरजते हैं। वर्षा में पानी के साथ-साथ चकाचौंध, कड़कड़ाहट आदि भी होते हैं। भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिए भी इसी प्रकार की साधना आवश्यक है। 'वृष' का मतलब धर्म भी है। अतः 'वृषकर्मा' का अर्थ होगा—धर्म के अनुकूल या धर्म सम्मत आचरण करने वाला, कराने वाला और चाहने

वाला। हमारे प्रत्येक कार्य में, जो धर्म के विरुद्ध न हो, भगवान् की ही प्रेरणा होती है। इस पांचभौतिक संसार की प्रत्येक घटना के पीछे भगवान् की वाणी ही बोल उठती है। अगर वह काम धर्म की भावना से प्रेरित हुआ तो समझना चाहिए कि उसमें भगवान् स्वयं विद्यमान है।

'वृषाकृति' नाम इसी 'अस्ति'-त्व को स्पष्ट करता है। धर्म ही भगवान् की आकृति है। 'रामो विग्रहवान् धर्मः' — राम धर्म के मूर्तरूप बताए गए हैं। वृष और वृषभ भी धर्म के प्रतीक हैं। प्रतीक की भाषा में परमात्मा की पारमार्थिक सत्ता का वर्णन करते हुए श्रुति विशारदों ने कहा था —

'चत्वारि श्रृंगास्त्रयो अस्य पादाः
द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति।'

कोई एक वृषभ अपने ऊंचे स्वर में आवाज़ दे रहा है। उसे तीन जगह से बांधा गया है। उसके सात हाथ हैं, दो सिर हैं, तीन पैर हैं और चार सींगें हैं। यही उस वृषभ की आकृति है जिसे यहां पर 'वृषाकृति' नाम से अंकित किया गया है। इस पहेली को वही लोग बुझा सकते हैं जिनकी वाणी में यह 'वृषाकृति' समा गई हो।

'यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च'

प्रसन्नमन भगवान् सबको प्रसन्न रखने का हर प्रयत्न करते हैं, पर कभी-कभी आवश्यक होने पर उनको परेशान भी करते हैं, रुलाते हैं और पछतावे की भावना पैदा करते हैं क्योंकि वह विश्वात्मा हैं, करोड़ों मस्तक वाले हैं, गहरे कानों से सबकी बातें सुनते हैं, अमर हैं, सनातन हैं, स्थायी हैं,

ऊंचे आसन पर बैठे हैं और गंभीर तपस्या में तत्पर हैं। विश्वात्मा के इसी विराट् स्वरूप का हृदयंगम वर्णन अगले श्लोक में मिलता है —

रुद्रो बहुशिरा बभ्रुर्विश्वयोनिः शुचिश्रवाः।
अमृतः शाश्वतस्थाणुर्वरारोहो महातपाः॥

इस श्लोक का पहला नाम है—रुद्र। प्रायः भगवान शंकर को रुद्र कहा जाता है। सृष्टि, स्थिति और लय के प्रतीक तीन देवताओं में लयकारक रुद्र माना जाता है। पर यहां भगवान् विष्णु के नामों में रुद्र शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः 'रुद्र' शब्द का मौलिक अर्थ यहां पर अभिप्रेत है। रुलाने वाला रुद्र (रोदयति) है। परमात्मा अपनी प्रजा को कभी-कभी रुलाते हैं, पर उनको पापों से धुलाकर निर्मल बनाने के लिए। शिवपुराण में 'रुद्र' शब्द की एक और व्याख्या मिलती है। 'रुः' का मतलब दुःख या दुःख का कारण है। उसे मिटाने वाला 'रुद्र' कहलाता है। अतः रुद्ररूप भगवान् दुःख मिटाने के लिए ही दुःख देते हैं। दुःख में ही भगवान् का स्मरण किया जाता है। भगवान् को जब हम भूल जाते हैं, तब दुःख के रूप में भगवान् अपने सान्निध्य का अनुभव कराते हैं। और सुख का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं। यही रुद्र नाम की भद्र भावना है।

'सहस्रशीर्षा' परमात्मा के उतने ही मस्तक हैं, जितने उनके बनाए जीव संसार में होते हैं। अतः उनका नाम 'बहुशिरा' रखा गया है। प्रत्येक शिर के अंदर जो सोचने की शक्ति है, विचार की विभूति है और चिंतन की साधना है, वह सब भगवान् की देन है। 'मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना' होते

हुए भी प्रत्येक मुंड या शिर के अंदर की चेतना एक है। अगर किसी का चिंतन सही दिशा में नहीं चल रहा है तो उसे ठिकाने पर बिठाने का भार भी उन्हीं के ऊपर है। इसी लिए हम वरेण्य सत्ता सविता देवता से प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं कि वे हमें बुद्धि के सहारे सही रास्ते पर आगे ले चलें।

इतना भार वहन कर संसार की सारी चिंताओं को अपने अंदर समा लेने के कारण भगवान् का मस्तक बोझिल हो जाता है और उनका चेहरा लाल हो उठता है। इसीलिए उनका नाम 'बभ्रु' है। भरण पोषण का भार और प्रजा के प्रति प्रेम—दोनों के कारण उनका वर्ण बभ्रु (लाल) हो जाता है। सुन्दर भौंह की शोभा भी इस नाम में व्यंजित है।

समस्त संसार का मूल कारण होने के कारण भगवान् का नाम 'विश्वयोनि' रखा गया है। जहां से संसार के समस्त जीव उत्पन्न होते हैं, जिसकी प्रेरणा से उत्पन्न जीवों का लालन पालन होता है और अंत में ये सभी जीव जिसमें लय हो जाते हैं, वह मूल कारण परंधाम परमात्मा है जिसको 'विश्वयोनि' कहा गया है।

समस्त चराचर सृष्टि के मूल पुरुष कहीं दूर बठते हैं, पर उनके कान इतने साफ और तेज़ है कि वे दूर-दूर तक की बातें बड़ी आसानी से और बारीकी से पकड़ लेते हैं। इसीलिए उनका नाम 'शुचिश्रवा' रखा गया है। इंद्र को 'वृद्धश्रवा' कहा जाता है और उनके घोड़े को 'उच्चैःश्रवा'। इंद्र में धीमी आवाज़ को बुलंद कर सुनने की शक्ति है और इसमें उनका घोड़ा भी सहायक होता है। पर श्रवणशक्ति की

संवर्द्धनशीलता और उच्चता में वह पवित्रता और उदात्तता नहीं है जो 'शुचिश्रवा' शब्द में है। कानों की स्वच्छता और सुनने की सूक्ष्मता 'शुचि' शब्द के द्वारा व्यंजित होती है। भगवान् के कानों में ये दोनों गुण हैं। संसार में चाहे कितना भी कोलाहल मच रहा हो, उसकी संकुलता को मंजुल संगीत के रूप में स्वीकार करने को उदात्तता और सहनशीलता भगवान् में विद्यमान है। 'शुचि' में केवल पावनता ही नहीं, बल्कि पावक आकर्षण भी है। जैसे पावक (अग्नि) पावन मंत्रों की स्वर लहरी ग्रहण करने में तत्पर और सक्षम होता है, वैसे ही भगवान् के शुचिपूर्ण कानों में सभी वर्ण सुवर्ण बन कर आ घुसते हैं। हमारी प्रार्थना, हमारी आराधना और हमारी साधना चाहे किसी भी कोने से निकल चले, वह सीधे भगवान् के कानों में पहुँच जाती है। 'श्रव' का एक और अर्थ है—कीर्ति या यशस्विता। भगवान् का नाम चारों तरफ संसार के कोने-कोने में फैला हुआ है—जैसे निर्मल आकाश में प्रकाश छा जाता है। स्वच्छ और सर्वव्यापी यश से विभूषित होने के कारण भगवान् का नाम 'शुचिश्रवा' सार्थक और सारगर्भित है।

संसार के समस्त प्राणी मर्त्य है, किसी न किसी दिन मर मिटने वाले हैं। पर इनके स्रष्टा, धर्ता और हर्ता भगवान् अमर है। उसी अमृत की संतान तब तक मरती मिटती और फिर पैदा होती रहती है जब तक वह अमृत का दर्शन न कर सके। मर्त्य प्राणी जब अपने अंदर के अमृतत्व का दर्शन कर लेता है, तब वह भी अमर बन जाता है।

भगवान् एक दो दिन के स्वामी नहीं है। वह हमेशा रहने वाले चिरंतन प्रभु हैं। उनका अस्तित्व न केवल शाश्वत

है, बल्कि स्थाणुवत् स्थिर भी है। अविचल रूप में अनंत काल तक रहने वाला आधिपत्य होने के कारण भगवान् का नाम 'शाश्वतस्थाणु' रखा गया है।

यद्यपि भगवान् हमेशा हर रूप में रहते हैं तो भी उनके यहां बहुत कम लोग पहुंच पाते हैं। श्रेष्ठ व्यक्ति ही उस परम पद को प्राप्त करने योग्य बन जाते हैं। इसलिए वह 'वरारोह' हैं। उनकी गोद में स्थान पाना किसी भाग्यशाली व्यक्ति के लिए ही संभव है। जिसको यह सौभाग्य मिलता है, उसे और किसी पद की आवश्यकता नहीं होती। "यद्गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम"—भगवान् के इस वचन के अनुसार उस परंधाम के दर्शन करने वाला फिर वापस नहीं आता। बड़ी तपस्या के फल स्वरूप ऐसा सौभाग्य मिलता है।

जिस परमात्मा के परंधाम पर पहुँचने के लिए लोग आजीवन तपस्या करते हैं, वह भी महान् तपस्वी हैं। हम भगवान् के लिए तपस्या करते हैं और वह हमारे लिए करते हैं। उन्हीं की तपस्या के फलस्वरूप हमारी तपस्या सफल बन जाती है। भक्त और भगवान् के बीच का यह तुल्यानुराग बड़ा अजीब लगता है। भक्त भगवान् के यहां पहुंचने के लिए जितना लालायित होता है, उतना ही व्याकुल भगवान् भक्त का उद्धार करने के लिए होता है। प्राणियों के प्रणयन के लिए परम आत्मा को जो तपस्या करनी पड़ी थी, उसका विशद वर्णन ऐतरेय उपनिषद् में मिलता है। बड़ी गंभीर और सुदीर्घ तपस्या के फल स्वरूप ही आज का मानव इस रूप में हमारे सामने विद्यमान है। इस तपस्या की महनीयता 'महातपा' इस नाम से प्रकट होती है। भगवान् जितने

महान् हैं, उनकी तपस्या भीं उतनी ही महान् है। यह वही ज्ञानमय तपस्या है जिसका परिचय मुंडकोपनिषद् के एक मंत्र में दिया गया है —

> यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
> तस्माद् एतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ।।

वह सब कुछ जानता है, सब कुछ पा सकता है और ज्ञान के तप में तत्पर रहता है। इसी तपस्या के फल-स्वरूप निराकार परब्रह्म साकार बनता है, नाम और रूप धारण करता है, अन्न देता है, लेता है और संभाल कर रखता है।

अन्नाद् वै पुरुषः

१०. वद वेदांग और वेदवित्

प्रभु की लोकोत्तर साधना और तपस्या का वर्णन करने के बाद अगले श्लोक में उनकी सर्वान्तर्यामिता, सर्वज्ञता और सर्वसमर्थता का वर्णन किया जाता है —

सर्वंगः सर्वविद्भानुर्विष्वक्सेनो जनार्दनः।
वेदो वेदविदव्यंगो वेदांगो वेदवित्कविः ॥

अखिल जगत् में ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहां भगवान् नहीं पहुंच पाते हों। जहां सूर्य की किरणें नहीं पहुंच पाती हैं, जहां पर चांद की चांदनी नहीं छा पाती है और जहां बिजली की चमक तक घुस नहीं पाती है, वहां श्रीनिवास ने अपना चिर निवास बना लिया है। ऐसे एकांत टीले पर बैठकर वे सारी सृष्टि में प्रवेश कर जाते हैं। वे हर जगह पहुंच पाते हैं। उनकी यही सर्वान्तर्यामिता 'सर्वंग' नाम से प्रकट होती है।

अगला नाम 'सर्वविद्भानु' उनको सूर्य से अधिक व्यापक सिद्ध करता है। साधारण भास्कर की किरणें पृथ्वी के कोने-कोने में घुस जाती हैं। पर जहां उनकी पहुँच नहीं है, वहां भी भगवान् की पहुँच है। सर्वत्र व्यापक होने वाली भगवान् विष्णु की किरणें 'सर्वविद्' हैं। जहां वाणी, मन, आंखें आदि

प्रवेश नहीं कर पाती हैं, वहां भगवान् बड़ी आसानी से पहुंच जाते हैं।

भगवान् का अगला नाम है 'विष्वक्सेन'। विष्वक्' का मतलब है—चारों तरफ फैला हुआ, बिखरा हुआ, बिछा हुआ। भगवान् की सेना संसार के कोने-कोने में फैली हुई है। अपनी जगह निश्चल बैठकर वे अपनी सेना को चारों तरफ भेज सकते हैं। जैसे सूर्य की किरणें सब तरफ फैलकर अंधकार, तुषार और अन्य अवरोधों को चूर-चूर कर देती हैं, वैसे ही भगवान् की सेना संसार में सर्वत्र जाकर अंधकार को हटाकर आलोक फैलाती है, नश्वर को अविनश्वर बनाती है, असत् को सत् में परिणत कर देती है। साधारण सेनानी की सेना एक ही दिशा में जा सकती है। पर भगवान् की सेना सभी दिशाओं में जाती है। इसलिए उससे बचना किसी के बस की बात नहीं है। आजकल की भाषा में प्रचलित 'सक्सेना' शब्द संभवतः इसी विष्वक्सेन का रूपांतर है।

भगवान् विष्वक्सेन या सक्सेना का काम है—दुष्टों का दमन। इसलिए उनको 'जनार्दन' कहा गया है। जनार्दन का काम केवल लोगों को काबू में रखना है, नष्ट करना नहीं। लोगों को सही रास्ते पर लाने के लिए उनका मर्दन या 'अर्दन' किया जाता है। भगवान् की दंड नीति में साम, दान, भेद और दंड चारों का यथोचित प्रयोग किया जाता है। यह नहीं कि केवल दंड का ही कठोर विधान हो। शिशुपाल की क्रूरता और रावण की दुराचारिता के प्रति भगवान् की सहिष्णुता का उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर सकता है। जहां और कोई चारा न हो, वहीं पर दंड और दमन की नीति अपनाई जाती है।

भगवान् सब कुछ जानते हैं। कौन दुष्ट है, कौन शिष्ट है, कौन साधु है, कौन असाधु है; कौन सरल है, कौन कपटी है, कौन दंड्य है और कौन क्षम्य है, भगवान् भली भांति पहचानते हैं। तभी उनका नाम 'वेद' रखा गया है। वेद का मतलब है—ज्ञान, विज्ञान आदि। वैदिक भाषा लौकिक भाषा से भिन्न है। लौकिक भाषा में प्रयुक्त शब्द केवल पद कहलाते हैं जब कि वैदिक भाषा के शब्द मननीय मंत्र बन जाते हैं। अतः भगवान् को 'वेद' कहने से उनकी वाणी या शासन को अनुल्लंघ्य सिद्ध करने की भावना निहित है। वेद में अनेक महर्षियों या मंत्र द्रष्टाओं के द्वारा रूपायित मंत्रों का संग्रह होता है। ये सभी मंत्र भगवान् के व्यक्त रूप हैं। जैसे प्रणव को भगवान् का वाचक कहा गया है (पातंजल योग सूत्र), वैसे ही वेद के सभी मंत्र भगवान् के मननीय गुणों के मूर्त रूप हैं। इसीलिए 'वेद' को भगवान् का प्रतिरूप माना गया है।

'वेदवित्' भी भगवान् का नाम है। वेद के द्वारा जिस परम तत्व को जाना जाता है, वही भगवान् विष्णु हैं। वेद को जानने वाला और वेद के माध्यम से जाना जाने वाला—दोनों वेदवित् हैं। इन्हीं दो अर्थों को प्रकट करने के लिए प्रस्तुत श्लोक की एक ही पंक्ति में 'वेदवित्' नाम दो बार आया है। वेद ही भगवान् है। वेद के द्वारा ही भगवान् को जाना जा सकता है। वेद को समझना और भगवान् को जानना एक ही चीज़ है। वेद वेत्ता और वेदवेद्य के वेत्ता में कोई अंतर नहीं है। ये सारी बातें 'वेदवित्'—इस छोटे-से नाम में निहित हैं।

'अव्यंग' भगवान् का अगला नाम है। यह भगवान् की सर्वांगीणता को प्रकट करने वाला नाम है। अंग किसी वस्तु

या समग्र सत्ता के भाग को कहा जाता है और विशेष कर शरीर के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होता है। काव्य शास्त्र में प्रधान रस को अंगी और गौण रस को आनुषंगिक या अंग रस कहा जाता है। जिसके अंग समग्र और संपूर्ण हों, वह शुभांग सा समांग कहा जाता है। भगवान् राम का सौंदर्य वर्णन करते समय महर्षि वाल्मीकि ने उनको 'समस्सम-विभक्तांग' कहा है। उनके अंग समान अनुपात में विभाजित हैं। कान, नाक, आंख, हाथ, पैर—सब उचित मात्रा और परिमाण में होने में ही शरीर का सौंदर्य है। जिसके अंग उचित अनुपात में न हों, उसको व्यंग (जोकि व्यंग्य से भिन्न है) कहा जाता है। जिसके अंग अनुचित अनुपात में न होकर समानुपात में हों, उसको 'अव्यंग' कहा जाएगा। यहां पर भगवान् को 'अव्यंग' कहने में यही आशय है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया का समानुपात में सम्मिश्रण ही जीवन की सफलता का आधार है। इसी प्रकार के अन्य कई उपादानों का समुचित और समानुपात सम्मिश्रण भगवान् के आदर्श चरित में पाया जाता है। राम, कृष्ण आदि अवतारों में भगवान् का यही अव्यंग रूप देखने में आता है। परमात्मा के परम रमणीय रूप में किसी अंग की कमी नहीं है। वह समग्र, संपूर्ण और समन्वित सौंदर्य की खान हैं।

अगले नाम में भगवान् को 'वेदांग' कहा गया है। वेद ही जिसके अंग हैं, वही वेद पुरुष वेदांग कहलाता है। वेद के छह अंग माने जाते हैं। इन सभी अंगों को वेदांग कहा जाता है। ये सब अपरा विद्या के अंतर्गत आते हैं। इनसे परे जो परमात्मा की प्रतिष्ठा और पराकाष्ठा है, वही परा विद्या है। इन दोनों प्रकार की विद्याओं के मूर्त रूप हैं वेदांग परम पुरुष

जिसके विभिन्न अंग विविध वेद हैं। केनोपनिषद् में कहा गया है—'तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा, वेदाः सर्वांगानि, सत्यमायतनम्।" तप, दम, कर्म आदि में भगवान् प्रतिष्ठित हैं और वेद उसके विभिन्न अंग हैं और सत्य उनका अधिष्ठान है। 'वेदांग' नाम में इन सभी बातों का समावेश किया गया है।

'वेदवित्' नाम फिर आता है। वेदों को सांगोपांग और सरहस्य जाननेवाला वेदवेत्ता ही वेदांग भगवान् के सच्चे रूप को पहचान सकता है। वेद विज्ञान के माध्यम से जानने योग्य होने से भगवान् को वेदवित् कहा गया है।

'कवि' इस श्लोक का अंतिम नाम है। कवि को ईशोपनिषद् में मनीषी, परिभू और स्वयंभू के समकक्ष माना गया है। अपनी मनस्विता के बल पर वह चारों ओर का संसार बना लेता है। 'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः'—अपार काव्य जगत् का वह स्वतंत्र कर्ता, स्रष्टा और द्रष्टा होता है। यह विश्व भी उसी विश्वात्मा की विशाल कृति है। वेद वेदांग, ज्ञान विज्ञान, ज्ञानेंद्रिय, कर्मेन्द्रिय, अंतःकरण आदि का विचित्र विधान उसी सृष्टि कर्ता का चमत्कार है। प्रायः कहा जाता है कि जहां रवि नहीं पहुँच सकता, कवि वहां भी पहुँच पाता है। पर भगवान् कवियों के कवि (कवीनां कविः) हैं। अतः वह सर्वत्र पहुँच पाता है। 'सर्वग' और 'कवि' इस श्लोक के पहले और अंतिम नाम हैं। दोनों में भगवान् की सर्वांतर्यामिता वर्णित है।

अगले श्लोक में भगवान् की सर्वाध्यक्षता और चतुर्मुखी

महिमा का मनोहर वर्णन है—

> लोकाध्यक्षः सुराध्यक्षो धर्माध्यक्षः कृताकृतः।
> चतुरात्मा चतुर्व्यूहश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः॥

भगवान् की अध्यक्षता तीन प्रकार की है—लोकाश्रयी, सुराश्रयी और धर्माश्रयी। जो दिखाई देता है, वह लोक है। समस्त दृश्यमान जगत् का द्रष्टा, स्वामी और संचालक होने से भगवान् को 'लोकाध्यक्ष' कहा गया है। सारे लोकवासी लोकाध्यक्ष के अधिकार-क्षेत्र में आ जाते हैं। इन लोकों का लालन पोषण करने वाले लोकपाल देवता या सुर कहलाते हैं। उन्हीं से इन लोकों को और लोकवासियों को आलोक (प्रकाश) मिलता है। ये लोकपाल भी परमपिता परमात्मा के अधिकार क्षेत्र में आते हैं। अतः उनको 'सुराध्यक्ष' कहा गया है। यहां पर 'सुर' का अर्थ स्वर भी लिया जा सकता है। 'लोक' शब्द प्रकाश का द्योतक है तो 'सुर' शब्द 'ध्वनि' का सूचक है। प्रकाश और ध्वनि—दोनों को प्रवर्तित, संचालित और नियंत्रित करने वाले भगवान् न केवल लोकाध्यक्ष और सुराध्यक्ष हैं, बल्कि वे धर्माध्यक्ष भी हैं। धर्म इन दोनों को आधार प्रदान करता है। प्रकाश और ध्वनि को जब तक सीमित और साकार नहीं बनाया जाता तब तक उससे लौकिक प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। धर्म के आधार पर लोक कल्याण का यह कार्य संपन्न होता है। न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य, पाप-पुण्य, सत्-असत् आदि का विमर्श धर्म के स्पर्श से ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार भगवान् के अधिकार क्षेत्र में लोकालोक की सृष्टि, स्थिति और लय (साम्य)—तीनों तत्व आ जाते हैं। अस्ति, भांति और प्रिय—इन तीनों शाखाओं के विशिष्ट गुण

हैं। ध्यान देने की बात है कि इन्हीं तीन शाखाओं का आधुनिक रूप हमें विधानांग, कार्यांग और न्यायांग में मिलता है। ये तीनों अंग सर्वांगपूर्ण भगवान् के अव्यंग रूप में विद्यमान हैं। अतः लोकाध्यक्ष, सुराध्यक्ष और धर्माध्यक्ष—इन तीन नामों में भगवान् के अधिकार क्षेत्र का बहुत ही सुन्दर और सारगर्भित प्रतिपादन किया गया है।

इसी अधिकार के आधार पर अगले नाम में भगवान् को 'कृताकृत' कहा गया है। यह सब भगवान् की करनी है, यह मानना इसलिए ठीक नहीं है कि वह कार्य नहीं हैं, कारण हैं। यह भी कहना ठीक नहीं है कि उन्होंने यह सब किया नहीं है क्योंकि कार्य हमारे सामने बिलकुल स्पष्ट है। वह कर्ता भी है और अकर्ता भी। सब कुछ करते हुए भी वह कुछ नहीं करते दिखाई देते हैं। कर्म, विकर्म और अकर्म का जो रहस्य गीता में विस्तार से समझाया गया है, उसी का संकेत इस नाम में मिलता है। "नैव किंचित् करोमि'—(मैं तो कुछ नहीं कर रहा हूँ।) —इस भावना से जो काम किया जाता है, वह अनासक्त निर्लिप्तता के कारण कर्ता को अकर्ता बना देता है। 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत् अकर्मणि च कर्म यः' —जो कर्म में अकर्म की भावना रखता है और अकर्म में कर्म की, वही बुद्धिमान् है, वही सच्चा कर्मयोगी है। कर्मयोग का यह सारा रहस्य या छोटा सा नाम खोलकर रख देता है।

इसके बाद जो चार नाम आते हैं, वे भगवान् की चतुर्मुखी महिमा का गुणगान करते हैं। इनमें से पहला नाम है—चतुरात्मा। परमात्मा की परम आत्मा चतुष्पदी है। जैसे मांडूक्य उपनिषद् में कहा गया है, यह सारा संसार ब्रह्म का

व्यक्त रूप है, जो कि आत्मा की ही अभिव्यक्ति है और यह आत्मा चार पाद वाली (चतुष्पाद्) है। जागरित, स्वप्न, सुषुप्त और तुरीय स्थान ये चार पाद हैं। इस प्रकार चारों पादों में व्याप्त आत्मा का प्रकट रूप परमात्मा का ही द्योतक है। जागरित दशा में हम जो कुछ करते हैं, कहते हैं, खाते हैं, पीते हैं, चलते हैं, फिरते हैं, सोचते हैं और विचारते हैं, यह भी उस परमात्मा की ही लीला है। स्वप्न जगत् में मन की कल्पित लीला भी परमात्मा का ही विलास है। जाग पड़ने पर स्वप्न जैसे सारहीन, कल्पित और क्रीडामय प्रतीत होता है, वैसे ही जागरित दशा का सारा कार्य-कलाप पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या है। प्रत्येक दशा का अपना महत्व, अपनी सार्थकता और अपना सत्य है। ये सब सापेक्ष हैं। इसका निरपेक्ष रूप सुषुप्ति में बहुत कुछ प्रकट होता है और तुरीय अवस्था में, जो कि इन तीनों से परे है, आत्मा का अव्यवहार्य, अग्राह्य, अचिंत्य, अलक्ष्य, अव्यपदेश्य और अखंड रूप प्रकट होता है। परमात्मा की यही चतुरात्मिकता 'चतुरात्मा' नाम में व्यंजित है।

विष्णुपुराण में भगवान् की चार विभूतियों का उल्लेख मिलता है। संसार की सृष्टि, स्थिति और लय इन्हीं चार विभूतियों के माध्यम से संपन्न होती है। सृष्टि के प्रसंग में ब्रह्मा, दक्ष आदि प्रजापति गण, काल और समस्त जीव ये चार विभूतियां सम्मिलित होती हैं। स्थिति के प्रसंग में, विष्णु, मनु, काल और समस्त भूत अंतर्निहित हैं। इसी प्रकार रुद्र, काल, मृत्यु और समस्त जीव भगवान् की प्रलयकारिणी विभूतियां हैं। 'चतुरात्मा' नाम से और भी कई अर्थ निकल सकते हैं। जहां बहुत सी बातें कहनी हों, वहां संकेत मात्र

दिया जाता है। साधक अपने संस्कार और स्वभाव के अनुसार सार ग्रहण कर लेता है।

इसी प्रकार अगले नाम 'चतुर्व्यूह' से भी कई अर्थ निकल सकते हैं। 'चतुर्व्यूह' का सीधा अर्थ है—चार व्यूह वाला भगवान्। वैष्णव संप्रदाय में भगवान् के चार व्यूह बताये जाते हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। भगवान् के शासन तंत्र के ये प्रख्यात विधान हैं।

'चतुर्दंष्ट्र' भगवान् का अगला नाम है। चार सींग वाले परमात्मा की कल्पना तैत्तिरीय आरण्यक में बड़ी रमणीय शैली में प्रस्तुत है। चार सींग, तीन पैर, दो सिर, सात हाथ और तीन जगह से बंधा हुआ एक बैल, जो हमेशा ऊंची आवाज़ करता रहता है, परमात्मा की अक्षरमय सत्ता का सुन्दर प्रतीक बन गया है। चार दाढ़ों से वाणी के चार प्रस्थान भी सूचित होते हैं। परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी—इस वागृषभ के चार सींग हैं।

'चतुर्भुज' भगवान् का सर्व साधारण नाम है। परमात्मा की चतुरात्मिक सत्ता को प्रकट करने वाले चार नामों में यह अंतिम नाम हैं। शंख, चक्र, गदा और पद्म से युक्त भगवान् के चार हाथ सारे संसार के सुख, शांति, अभय और आश्वासन देने वाले मंगल प्रतीक हैं। वैसे भगवान् के अनेक हाथ हैं, अनेक बाहु हैं और अनेक भुजाएं हैं। वे सहस्रबाहु हैं। इसी विराट् रूप की कल्पना में मस्त होकर कबीर कहते हैं—

चार भुजा के भजन में भूलि परे सब संत।
कबिरा सुमिरै तासु को जाके भुजा अनंत॥

११. महाबल की महामाया

चतुरात्मा की चतुर्व्यूह परिकल्पना का वर्णन करने के बाद वीरभोग्या वसुन्धरा के कण-कण में भोगी, भोजन और भोज्य के रूप में प्रतिष्ठित सर्वविजयी सर्वेश्वर की सहिष्णुता का आगे का श्लोक प्रतिपादन करता है—

"भ्राजिष्णुर्भोजनं भोक्ता सहिष्णुर्जगदादिजः
अनघो विजयो जेता विश्वयोनिः पुनर्वसुः ॥

भगवान् सर्वत्र विद्यमान हैं। प्रकाश के रूप में प्रस्तुत परमेश्वर का रूप जहां देखने की इच्छा हो, वहीं देखने को मिलता है। आकाश ही अनंतात्मा का शरीर है और इसी रूप में उनकी शोभा विभ्राजमान है। इसलिए उनका नाम 'भ्राजिष्णु' रखा गया है। अंधकार को चीर कर जैसे आलोक प्रत्येक लोक में पहुंच जाता है, वैसे ही प्रकाश के रूप में प्रसारित होने वाला परमात्मा पार्थिव, अपार्थिव समस्त लोक में फैला हुआ है। अगला नाम 'भोजन' बड़ा ही विलक्षण है। भोजन स्वयं भगवान् है। संसार में जो कुछ अनुभव योग्य है, जिसका अनुभव करने से हमें संतुष्टि मिल जाती है और जिसकी सार्थकता अनुभूत और अनुभुक्त होने में ही है, वह सब भगवान् का ही प्रकट रूप है। मीठी-मीठी ध्वनियां, कोमल वस्तुओं का स्पर्श, रमणीय रूप माधुरी, जड़ को भी चेतन बनाने

वाली समरसता और लोकोत्तर पवित्रता की ओर ले जाने वाली सुगंध—यही हमारी भोजन सामग्री है। इसी संभार के अंदर परमात्मा विद्यमान है। यही नहीं, इस भोजन का रसास्वादन करने वाला भी परमात्मा है। खाने की इच्छा, खाने की वस्तु और खाने वाला व्यक्ति—तीनों परमात्मा के रूप हैं। गीता में कहा गया है "समस्त प्राणियों के शरीर में भगवान् वैश्वानर के रूप में बैठकर प्राण और अपान में तालमेल बैठाते हुए समस्त खाद्य सामग्री का पाचन कराता रहता है। शरीर के अंदर जो भी खाद्य या अखाद्य वस्तु पहुँच जाती है, वह परमात्मा की प्रेरणा से ही प्राप्त होती है। जिस भगवान् ने जीव को शरीर प्रदान किया है, उसी भगवान् का कर्तव्य होता है कि आवश्यक अन्न या खाद्य से उस शरीर का पोषण भी करता रहे। इसलिए शरीर धारी के लिए अन्न की चिंता करने की आवश्यकता नहीं है। अन्नदाता का ध्यान अपने आप अन्न को प्रस्तुत करता है।

भगवान् को 'सहिष्णु' कहा गया है। वह सब कुछ सह लेता है—सुख-दुःख, हानि-लाभ, शीत-उष्ण, जड़-चेतन, मानव-दानव, सब उनके लिए सहनीय हैं। उनकी सहिष्णुता की पराकाष्ठा राम, कृष्ण आदि अवतारों में स्पष्ट दिखाई देती है। वे चाहते तो दुष्टों का संहार पलभर में कर सकते थे। लेकिन वे चाहते थे कि दुष्ट अपने आप शिष्ट बन जाएं। जब शिष्टता की कोई रेखा या सुधार की कोई संभावना नजर नहीं आई, तभी तो उन्होंने दण्ड का आश्रय लिया। लेकिन उनको अपनी विजय में अटल विश्वास था क्योंकि वे सर्वोपरि हैं। इसलिए उनको सहिष्णु कहा गया है।

भ्राजिष्णु और सहिष्णु—दोनों नामों में विष्णु की प्रभविष्णुता का अंश विद्यमान है। ये एक ही वर्ग के नाम हैं।

अगला नाम है—'जगदादिज' जिसका मतलब है—संसार के उद्गम से उत्पन्न। इस नाम को सावधानी से समझना चाहिए। वे जगत् से उत्पन्न नहीं हैं क्योंकि जगत् उनसे उत्पन्न है। लेकिन इस भौतिक जगत् के आरंभ या उपक्रम या उद्गम से उनकी उत्पत्ति है। इसी बात को यों कहा जा सकता है कि संसार का उद्गम ही उनका उद्गम है। वैसे तो वे अनादि और अनंत हैं। जो उनका आदि है, वही संसार का भी आदि है। पार्थिव संसार के जो पांच तत्व हैं—पृथ्वी. पानी, प्रकाश, हवा और आकाश—यही संसार के आदिम या भगवान् के उद्गम स्थान हैं। भगवान् को खोजने के लिए कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं है। वह मिट्टी के रूप में विद्यमान है। वही जल में है, वही हवा में है, वही प्रकाश में है और वही आकाश में है। यही बात 'भ्राजिष्णु' नाम में भो कही गई है। इन्हीं पांच तत्वों के जो गुण हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—इनमें भी भगवान् हैं। इन्हीं पांच तत्वों को भगवान् का प्रतिरूप मानकर संयम और नियम से इनका सेवन करने में ही भगवान् की सच्ची आराधना है। अच्छे, सच्चे और मीठे शब्द कहें, पावन और निर्मल वस्तुओं का स्पर्श करें, सभी वस्तुओं को सही दृष्टिकोण से देखने की आदत डालें, अपना और दूसरों का भला करने वाली चीज़ों का आस्वादन करें और संसार में सर्वत्र फैली हुई सुगंध का सात्विक आनंद लें, यही विश्वात्मा या जगदादिज की सही आराधना है।

भगवान् को 'अनघ' कहा गया है, अघ या पाप उसको

छू नहीं सकता। पाप से वे एकदम दूर हैं। ऊपर आराधना का जो क्रम बताया गया है, उससे किसी भी आराधक को पाप नहीं लग सकता। वह जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है, उसकी विजय अवश्यंभावी है। कहा गया है—

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः।
येषामिंदीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः॥

इसलिए भगवान् का अगला नाम 'विजय' रखा गया है। भगवान् की विजय अवश्यंभावी ही नहीं, सार्वत्रिक होती है। विश्वतोमुखी जय से विभूषित होने के कारण उनका नाम विजय हुआ। गीता के अंत में महर्षि व्यास कहते हैं कि जहां योगेश्वर कृष्ण हों और जहां धनुर्धारी अर्जुन हों, वहां पर विजय अवश्यंभावी है। लेकिन याद रखना चाहिए कि यह विजय हमारी अपनी साधना का फल नहीं है। जीतने वाले वास्तव में हम नहीं हैं, बल्कि हमारे अंदर के चिन्मय भगवान् हैं। उसी जेता का स्मरण अगले नाम में किया गया है। वही जेता हमारे नेता, धाता और विधाता हैं, और वही संसार के संधाता भी हैं। इसलिए उनका नाम 'विश्वयोनि' रखा गया है। संसार के मूल कारण वही हैं। उन्हीं से संसार का प्रसार होता है। यहां पर एक संशय उठ सकता है। संसार का उपक्रम और प्रसार करने वाला उसका उपसंहार भी क्यों करता है? समस्त प्राणियों का विकास जिसके हाथ में है, वही उनका विनाश क्यों करता है? इसी शंका का समाधान अगला नाम 'पुनर्वसु' प्रस्तुत करता है। उजड़े को बसाने वाला पुनर्वसु है। पुनर्वासन मंत्रालय के हाथ में जो काम होता है, लगभग उसी प्रकार

का काम भगवान् पुनर्वसु भी कर रहे हैं। पुरानी चीज समाप्त हो जाए और नई चीज़ उसकी जगह पर बन जाए, यही संसार का संसरणशील स्वभाव है। जैसे पौधे से फसल निकलती है और उसी फसल के कट जाने से नई फसल का बीज मिलता है, वैसे ही नई पुरानी चेतना के बीच में बीज का जो काम होता है, वही भगवान् का काम है। गीता में भगवान् ने अपने को वीज बोने और देने वाला पिता कहा था। इसी आशय को प्रकट करता है यह 'पुनर्वसु' नाम।

पुनर्वसु एक नक्षत्र का भी नाम है। भगवान् राम का जन्म इसी नक्षत्र में हुआ था। चन्द्रमा जब इस नक्षत्र के अंतिम चरण में पहुँचता है तो वह अपने घर में पैर रखता है। कर्क उनका घर है। जिस घड़ी में चन्द्रमा पुनर्वसु के अंतिम चरण में पहुँच गया था, उसी समय भगवान् राम का जन्म हुआ था। शायद यही कारण है कि जहां राम पहुँचे, वहां पुनर्वासन ही हुआ। उजड़े हुओं को बसाना उनका एकमात्र ध्येय रहा। अयोध्या में भरत को, किष्किधा में सुग्रीव को और लंका में विभीषण को प्रतिष्ठित कर वह स्वयं सर्वत्र छा गए थे। वह किसी देश विशेष के स्वामी नहीं थे। सारा संसार उनका था—यही बात वे कैकेयी से कहते हैं "देवी, मैं अर्थ परायण व्यक्ति नहीं हूँ, मैं समस्त लोकवासी हूँ, सारा संसार मेरी प्रतीक्षा कर रहा है।" एक जगह टिक रहना उनका आशय नहीं था। उन्होंने जिस मार्ग को चुन लिया था, उसका उद्देश्य श्रांत भवन में टिक रहना नहीं था, किन्तु उस सीमा पर पहुंचना था जिसके आगे राह नहीं।

इस पुनर्वासन की प्रशंसा के बाद भगवान् की नियमित,

विनीत और संयत प्रशासन पटुता का अगला श्लोक प्रतिपादन करता है।

"उपेंद्रो वामनः प्रांशुः अमोघः शुचिरूर्जितः।
अतीन्द्रः संग्रहः सर्गो धृतात्मा नियमो यमः॥"

आवश्यकता पड़ने पर भगवान् इंद्र से भी छोटा आसन ग्रहण करने या उनका छोटा भाई बनने को तैयार होते हैं। इंद्र की जगह वह इंद्र का ही काम करते हैं। इंद्र सभी देवताओं के राजा हैं। पर भगवान् को इंद्र की राजनीतिकता से कोई संबंध नहीं है। राजकीय पदप्रतिष्ठा में उनकी कोई रुचि नहीं है। लोक कल्याण के लिए वह इंद्र के आधीन रह कर भी काम कर सकते हैं। किसी व्यक्ति की महनीयता उनकी पद-गरिमा पर निर्भर नहीं करती। ऊँचे पद पर रहकर भी आदमी खोटा बन सकता है। छोटे पद का आदमी भी महान् कार्य कर सकता है। यही प्रशासनिक सत्य 'उपेन्द्र' नाम से प्रकट होता है। इंद्र के छोटे भाई होते हुए भी महान् कार्य वह कर सके, इंद्र की त्रुटियों का परिमार्जन वह कर सके और इंद्र का सक्षम प्रतिनिधित्व कर सके। इसी में भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता है।

वह पद के ही नहीं, कद के भी छोटे हुए थे। जब वह वामन बन गए थे तब बोने ब्राह्मण के वेश में वह बलि के यहां पहुँच गए थे। छोटे कद के आदमी ने जब अपने पैर रखने के लिए जगह मांगी तो बलि ने बड़ी खुशी के साथ उनकी मांग स्वीकार की। लेकिन उनको क्या पता था कि यही छोटा सा आदमी सारे संसार को घेर सकता है। वह देखने में वामन था, पर असल में प्रांशु था—बहुत लम्बा,

चौड़ा था, विशालकाय था। उनके शरीर को तीनों लोक संभाल नहीं पाए। भगवान् वामन की यही प्रांशुता वामन और प्रांशु दोनों नामों में प्रकट होती है। इन दोनों नामों को साथ-साथ देखकर किसी भी संस्कृतज्ञ के मन में अचानक कालिदास का यह श्लोक आ बैठता है—

"प्रांशुलभ्ये फले लोभात् उद्बाहुरिव वामन:"

हो सकता है, सहस्रनाम के इन्हीं दो नामों से प्रेरणा पाकर कालिदास ने यह पंक्ति लिखी हो। वास्तव में सहस्रनाम का प्रत्येक नाम हजारों कवियों को प्रेरणा प्रदान कर सकता है।

अगला नाम है 'अमोघ'। जो व्यर्थ नहीं है उसको अमोघ कहा जाता है। भगवान् का कोई भी काम व्यर्थ नहीं जा सकता। भगवान् राम के बारे में यह प्रसिद्ध है कि उनके धनुष से जो बाण निकलता है या धनुष पर जो बाण चढ़ाया जाता है, वह व्यर्थ नहीं जा सकता। भगवान् का संकल्प सच्चा और सुदृढ़ होता है। प्रभु के संकल्प के बिना संसार में कोई काम नहीं होता और उनके संकल्प के विरुद्ध भी कोई काम नहीं हो सकता। जिसका मन सच्चा होता है, उसके संकल्प में यह शक्ति होती है। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए अगला नाम 'शुचि' रखा गया है। शुचि का मतलब है पवित्र। जिनका हृदय पवित्र है, उनकी शक्ति अमोघ होगी। शुचि का एक और अर्थ होता है—अग्नि या आग। आग की तरह जिसमें तेज है, वह हर जगह पहुंच सकता है। जैसे आग सब कुछ जला सकती है, वैसे ही पवित्र हृदय वाला व्यक्ति सारी अपवित्रता को जला सकता है। दूसरों को पवित्र

बनाने का एकमात्र उपाय स्वयं पवित्र होना है। "आप भला तो जग भला"—इसी निर्मल भावना से व्यक्ति को शक्ति मिल जाती है। इसी तथ्य को प्रकट करता है—अगला नाम 'ऊर्जित'। ऊर्जा या शक्ति का मूल कारण पवित्रता है। पवित्रता के कारण ही परमात्मा को अलौकिक शक्ति मिली थी। उंगली के कोने पर पहाड़ को खड़ा करना, सारे संसार को पैर के नीचे दबाना—ये सब अलौकिक कार्य वे अपनी पवित्रता के बल पर ही कर सके। इसमें कोई चमत्कार नहीं है। साधना, संयम और सौशील्य के बल पर यह लोकोत्तर शक्ति प्राप्त होती है।

वह उपेन्द्र होते हुए भी अतीन्द्र हैं। इंद्र के अधीन काम करते हुए भी इंद्र के लिए असभव कुछ कार्य वह कर सके। इंद्र से भी बढ़ कर लोक संग्रह का कार्य करने के कारण उनका नाम 'संग्रह' हुआ है। संसार के समस्त प्राणियों को वे अपनी छत्र-छाया के अंदर ले आते हैं। इंद्रियों के आकर्षण और विकर्षण के अधीन रहने के कारण इंद्रियाधीन या विषयी व्यक्ति लोक संग्रह का कार्य नहीं कर पाता है। इंद्रियों की वासना से ऊपर उठकर केवल बुद्धि से प्राप्त होने वाले आत्यंतिक सुख का स्वामी होने के कारण भगवान् में यह संग्रह शक्ति विद्यमान होती है। संसार के कोने-कोने में हर प्राणी को, हर वस्तु को, हर गुण को अपने पास खींचने की यह लोकोत्तर क्षमता उनकी अनंत विभूति को प्रकट करती है। यही उनकी सृष्टि है जिसको अगले नाम में 'सर्ग' कहा गया है। सर्ग का मतलब है—सृजन करना, उत्पन्न करना, नई चीज़ पैदा करना। भगवान् जिसको जो रूप देना चाहते हैं, दे सकते हैं। जिस प्रकार कवि अपने काव्य में कई सर्गों का

निर्माण करता है, उसी प्रकार विश्वात्मा अपने विश्व काव्य में कई सर्गों का निर्माण करता है। संसार में जितने जीव हैं, सब की आत्मा एक है और यह आत्मा भगवान् के हाथ में है। सबकी आत्मा का धारण करने वाला होने के कारण भगवान् को 'धृतात्मा' कहा गया है। प्रत्येक जीवात्मा का शरीर जब क्षीण होता है, मिट जाता है तो जीव का शरीर-तत्व नष्ट होता है, तब उसका ब्रह्म-तत्व या आम-तत्व परमात्मा में लीन हो जाता है। इसलिए वह धृतात्मा है।

यह सारा कार्य नियमित रूप से होता है। नियम स्वयं भगवान् है। जो काम नियमित रूप से होते हैं, वे भगवान् को प्रिय हैं और जो लोग नियमित रूप से काम करते हैं, वे भगवान् से बहुत नजदीक हैं। यह नियम बाहर का भी हो सकता है श्रौर अंदर का भी। बाहर का नियम जब मज़बूत होता है और बार-बार करने से आदत की तरह बन जाता है तो अंदर का नियम अपने आप चल पड़ता है। इसी अंदर के नियम को यम कहा गया है। इसी बाहरी और आंतरिक नियम को प्रकट करने के लिए ये दोनों नाम नियम और यम पास-पास रखे गए हैं। नियम भी भगवान् हैं श्रौर यम भी भगवान् हैं। दोनों हमारी भलाई के लिए हैं। जब तक जिएं, नियंत्रित जीवन व्यतीत करना और अंत में आनंद से जीवनलीला समाप्त करना—दोनों प्रत्येक प्राणी के लिए श्रभीष्ट हैं। "अनायासेन मरणं, विना दैन्येन जीवनम्"—इन दोनों आदर्शों को प्राप्त करने में भगवान् के ये दोनों रूप नियम श्रौर यम सहायक होते हैं। जहां इनके पालन में थोड़ी भी अव्यवस्था हो गई, वहां भगवान् वैद्यराज बनकर हमारी सहायता करने आते हैं। भगवान् का यही चिकित्सक

रूप अगले श्लोक में प्रकट होता है।

वेद्यो वैद्यः सदायोगी वीरहा माधवो मधुः।
अतींद्रियो महामायो महोत्साहो महाबलः॥

इस श्लोक के पहले दो नाम—वेद्य और वैद्य—एक दूसरे से मिलते जुलते हैं। पर उनके आशय में काफी अंतर है। जिसके बारे में जानकारी होनी चाहिए वह वेद्य है। वेद, शास्त्र, पुराण आदि के द्वारा जिस परम पुरुष को पहचानना होता है, वही वेद वेद्य या वेद्य पुरुष है। सभी वेद जिस पद को अवगत कर लेना चाहते हैं, वही प्रणव रूप परमात्मा ज्ञान की परमावधि है जिसके जानने से और कुछ जानने को नहीं रह जाता है। दूसरा नाम 'वैद्य' इससे कुछ भिन्न है, विद्या शब्द से वैद्य शब्द की निष्पत्ति होती है। विद्या का जो फल है, उपज है, वही वैद्य है। पर साधारण बोलचाल की भाषा में बीमारी को ठीक करने वाला या दवा देने वाला चिकित्सक वैद्य कहलाता है। इसका भी विद्या से ही संबंध है। काय चिकित्सा करने वाला वैद्य आयुर्विद्या का ज्ञाता होता है। भगवान् भी आयुर्विद्या के विशेषज्ञ हैं। समस्त प्राणियों की आयु उन्हीं के अधीन होती है—"आदित्यो ह वै प्राणः"—इस श्रुति के अनुसार भगवान् भास्कर में समस्त प्राणियों के प्राण निहित या आरक्षित होते हैं और भास्कर को प्रकाश देने वाले स्वयं भगवान् हैं। "आदित्यानाम् अहम् विष्णुः" यह भगवान् ने स्वयं कहा था। जब तक हम प्राणों से युक्त हैं, तब तक हमारे प्राणों के प्रणेता परमेश्वर भी हमारे साथ ही हैं। इसीलिए अगले नाम में उनको 'सदायोगी' कहा गया है। वह हमेशा हमारे साथ रहने वाले हैं। हमारे प्रत्येक कार्य को, प्रत्येक विचार को, प्रत्येक शब्द को नियंत्रित करते रहते हैं।

यह नहीं समझना चाहिए कि जब हम भगवान् का स्मरण करते हैं तभी हम उनके साथ हैं। हम उनका स्मरण करें या न करें, जगे रहें या सोये पड़ें, हर काम करते, चलते, फिरते समय भगवान् हमारे साथ ही रहते हैं। वही सच्चा योगी है जो हमेशा अपने को योग-युक्त समझता है। 'बुढ़ापे में या मरने के बाद भगवान् का नाम लिया जा सकता है, अभी से क्या जल्दी है', यह सोचकर आदमी को आश्वस्त नहीं होना चाहिए। जो प्रत्येक क्षण भगवान् के स्मरण में लगाता है, वही नित्य योगी या सदायोगी है। गीता में भगवान् ने यह स्पष्ट आदेश दिया है "तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।" जो इस प्रकार निरन्तर योग की साधना में रहता है, उसके लिए सारा रास्ता साफ हो जाता है।

बड़े-बड़े शूर-वीर भी उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। वीरों की वीरता को पलभर में दूर करने वाले महावीर भगवान् उनके साथ रहते हैं। भगवान् के इसी गुण का प्रतिपादन अगले नाम 'वीरहा' में किया जाता है। वीरों का घमंड चूर करने वाले भगवान् स्वभाव के बहुत मीठे हैं। भगवान् की वीरता धीरता से युक्त है और मधुरिमा से ओतप्रोत है। इसलिए उनको माधव और मधु कहा गया है। इन दो नामों का वीरहा से संबंध है। वीर का मतलब पराक्रमी भी है और विपरीत बात करने वाला भी। विपरीत, बेजोड़, बेमतलब और घमंड की बातें करने वालों का दर्प मिटाना भगवान् का काम है। लेकिन इस दर्प को मिटाने के लिए वह दर्प से काम नहीं लेते। मधुर स्वभाव से, मीठी बातों से, अच्छे बर्ताव से वे दूसरों का घमंड दूर करते हैं। माधव और मधु दोनों में माधुर्य है। पर माधव में

माधुर्य के अलावा अलौकिक सौंदर्य भी है। मा का मतलब लक्ष्मी है। लक्ष्मी के पति होने के कारण भगवान् को माधव कहा गया है। मधु विद्या के स्वामी होने के कारण भी भगवान् को माधव कहा जा सकता है; मा शब्द से ज्ञान का अर्थ भी निकलता है। समस्त ज्ञान के अधिष्ठाता होने के कारण भगवान् माधव कहला सकते हैं। माधव शब्द जहां इतने व्यापक अर्थ को प्रकट करता है, वहां मधु शब्द संक्षेप में माधुर्य का रस बरसा देता है। भगवान् क्या हैं? केवल मधु हैं। मिठास को छोड़कर उनमें और कुछ नहीं है। तीखापन उनमें नाम के लिए भी नहीं है क्योंकि मीठा-कड़वा, फीका-रूखा यह सब वैविध्य केवल इंद्रियों तक सीमित है। जब इंद्रियों से ऊपर उठकर बुद्धि के धरातल पर चेतना का संचार होता है, वहां केवल माधुर्य ही माधुर्य दिखाई देता है, अनुभव में आता है। बुद्धि की इसी विलक्षण भाव-भूमिका को मधुमती भूमिका कहा गया है। इसी मधुमती भूमिका पर पहुंचकर इंद्रियों का बोध एकदम मिट जाता है। व्यक्ति अतींद्रिय बन जाता है। गीता में इस अतींद्रिय सुख का बहुत ही सुन्दर वर्णन मिलता है। यह 'अतींद्रिय' नाम इसी आत्यंतिकता का परिचय कराता है।

इस दशा में मानव माया के पर्दे को चीर कर माधव बन जाता है। मानव और माधव के बीच में माया अवरोध बनकर खड़ी हो जाती है। जब तक माया नहीं हटती, तब तक मानव अपने अंदर के माधव का अनुभव नहीं कर पाता। जब तक मानव माया का रहस्य नहीं समझता तब तक माधव का सच्चा रूप उसके सामने उभर नहीं पाता। यह भी भगवान् की कृपा से होता है क्योंकि वह

माया की माया हैं। माया को मायावी ही पहचान सकता है। इसी प्रकार समस्त संसार को मोह में डुबोने वाली माया को परास्त करने वाले महा मायावी भगवान् को महामाय कहा गया है। यह महान् मायावी बड़े उत्साह से काम करते हैं। उनमें काफी बल है। इसोलिए उनको महोत्साह और महाबल कहा गया है। जो काम हमें करना है उसे अगर हम उत्साह के साथ करते हैं तो बल मिल जाता है। विवश होकर करते हैं तो सबल व्यक्ति भी दुर्बल बन जाता है। महामाय महोत्साह और महाबल भगवान् के ये तीनों नाम उनकी महती माया का मनोहर रूप प्रस्तुत करते हैं।

१२. हिरण्यनाभ हंस

सदायोगी परमात्मा की अतींद्रिय महनीयता का वर्णन करते हुए महामना भीष्म अघाते नहीं। महीतल को महान् बनाने में भगवान् की उत्सुकता और क्षमता का संकेत मात्र देकर अगले श्लोक में उनकी बुद्धि, पराक्रम, शक्ति और तेजस्विता का विस्तार से वर्णन किया जाता है—

महाबुद्धिर्महावीर्यो महाशक्तिर्महाद्युतिः।
अनिर्देश्यवपुः श्रीमान् अमेयात्मा महाद्रिधृक् ॥१९॥

भगवान् की बुद्धि सबसे अधिक महान् है। वैसे बुद्धि जीवियों को बुद्धि प्रदान करने वाले प्रबुद्धचेता वही हैं। गीता में आश्वासन दिया गया है कि जिन लोगों को मेरे बौद्धिक वैभव को समझने की इच्छा होती है, उनको मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ (ददामि बुद्धि योगं तं)। मानव मात्र में जो बौद्धिक विशेषता दिखाई देती है, उसके मूल में भगवान् की महान बुद्धि ही काम करती है। नित्य, शुद्ध, बुद्ध चैतन्य ही क्षणभंगुर जीवियों में प्रतिबिंबित हो कर बौद्धिक चमत्कार पैदा करता है। प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्ति को समझना चाहिए कि उनके अंदर की जो बुद्धि है, वह भगवान् की ही देन है, अपनी उपलब्धि नहीं है।

जैसे भगवान् संसार की बुद्धि के आधार हैं, वसे ही संसार की शूरवीरता, शक्तिशालिता और तेजस्विता के भी आधार हैं। बहादुरों की बहादुरी, शक्तिसंपन्न व्यक्तियों की सशक्तता और तेजस्वी व्यक्तियों की वर्चस्विता—ये सभी भगवान् की महनीयता के व्यक्त रूप हैं। इसलिए उनको महावीर्य, महाशक्ति और महाद्युति कहा गया है। संक्षेप में, जहां कोई विशेष महत्ता दिखाई देती हो, उसको भगवान् के दिव्य अंश का प्रकट रूप ही समझना चाहिए। भगवान् का ही वचन है कि जहां कहीं किसी भी प्राणी में विशिष्ट विभूति का दर्शन हो उसे मेरा ही अंश समझना चाहिए।

यह जरूरी नहीं है कि भगवान् किसी साकार रूप में ही प्रकट हो। उत्साही, बलवान्, बुद्धिमान्, पराक्रमी, शक्तिशाली और वर्चस्वी व्यक्तियों तक ही भगवान् का अंश सीमित नहीं होता। जहां कोई आकार तक नहीं है, वहां भी भगवान् प्रकट हो सकते हैं। उनका आकार हमारे आकार के समान हो, यह जरूरी नहीं है। वह हवा के रूप में प्रकट हो सकते हैं, पानी के रूप में प्रकट हो सकते हैं और विशाल आकाश के रूप में भी प्रकट हो सकते हैं। उनके आकार-प्रकार को स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट करना संभव नहीं है। इसलिए उनको 'अनिर्देश्यवपु' कहा गया है। देश-काल-पात्र की सीमा में उनको बांधा नहीं जा सकता। वह सार्वदेशिक हैं और सार्वजनीन हैं। समस्त ब्रह्मांड का प्रत्येक कण उनके विराट् रूप का अभिन्न अंग है। लेकिन एक बात स्पष्ट रूप से कही जा सकती है। वे जहां होते हैं वहां उनके साथ 'श्री' का विराजमान होना अवश्यंभावी है। वह श्री को छोड़कर कभी कहीं नहीं पाये जाते और न श्री हो उनके बिना रह

पाती है। शोभा, सौंदर्य, उदारता, तुष्टि, पुष्टि, बुद्धि, उत्सुकता, पराक्रम, प्रभविष्णुता—ये सभी गुण श्री के अंतर्गत हैं। क्षीर सागर से श्री की उत्पत्ति होती है। खिले हुए कमल से श्री निकलती है। उनकी आँखें भी कमलों की कमनीयता से सुशोभित होती हैं। वह भगवान् के वक्षःस्थल पर हमेशा विराजमान होती हैं। श्री को भगवान् से अलग नहीं किया जा सकता। इसलिए वह 'श्रीमान्' हैं।

समस्त संसार को सब प्रकार की संपत्ति प्रदान करने वाली श्री जब उनके साथ है तो उनकी आत्मा को मापना किसी के लिए संभव नहीं है। उनका अलौकिक व्यक्तित्व और आलोक हमारे मापदण्ड के अंदर नहीं समा सकता। उनकी आत्मा अमेय है, मापने योग्य नहीं है। इसलिए वे 'अमेयात्मा' हैं।

विराट् पुरुष का व्यक्तित्व जितना महान् है उतना ही दायित्व उनके ऊपर है। अधिकार और दायित्व का सामंजस्य प्रतिपादित करने वाला नाम 'महाद्रिधृक्' है। बहुत बड़े पहाड़ को अपने ऊपर वहन करने वाले भगवान् गोवर्धनधारी भी हो सकते हैं और मंदर गिरिधारी भी। इंद्र के प्रकोप से ब्रज के नर-नारियों को बचाने के लिए भगवान् ने अपनी उंगली के कोने पर, छिगुनी पर गोवर्धन पर्वत को खड़ा कर दिया था। इसी प्रकार मंदर पर्वत का भी भार वहन कर संसार को प्रलय की विभीषिका से बचाया था। यह तो भगवान् की दायित्व भावना के कुछ उदाहरण मात्र हैं। वैसे हमेशा वह समस्त संसार का भार वहन करते ही रहते हैं। यहां महाद्रि शब्द से इसी भार की ओर संकेत है। यहां पर

संत त्यागराज का एक गीत स्मरणीय है। जब संत भगवान् को अपना उद्धार करने के लिए सुमुख नहीं देखता है और वर्षों प्रतीक्षा से निराश हो जाता है तो वह निराशा के क्षणों में कहता है—"जब तुम समस्त संसार का भार वहन कर रहे हो तो केवल यह दास तुम्हारे लिए इतना भार कैसे हो गया ?"

इसी महनीयता का गुणगान आगे चलाते हुए श्रीनिवास का अनिरुद्ध और आनंदमय व्यक्तित्व अगले श्लोक में प्रतिपादित किया जाता है।

"महेष्वासो महीभर्ता श्रीनिवासः सतां गतिः।
अनिरुद्धः सुरानंदो गोविंदो गोविदां पतिः ॥२०॥

जिनके हाथ में वहुत बड़ा धनुष है, वही महेष्वास हैं। भगवान् को यहां महेष्वास कहा गया है। महेष्वास नाम का उच्चारण करते ही धनुर्धारी राम का स्मरण हो आता है। वाल्मीकि ने राम को धनुर्वेद में परिनिष्ठित बताया है। शिव का धनुष उनका हाथ लगते ही टूट गया था। परशुराम के हाथ से भगवान् विष्णु का धनुष अपने हाथ में लेते ही प्रचण्ड परशुराम का पराक्रम पलभर में गल गया था। बालक राम के धनुष से निकला हुआ बाण लगते ही मारीच दूर समुन्दर के अंदर जा मिला था। जिस रावण को वज्रपात और अशनिपात मिलकर भी नहीं हिला सके, वह राम का बाण लगते ही विचलित हो उठता है। राम के वाण में अवश्य ही कोई अलौकिक चमत्कार है जो अपने लक्ष्य को बेधने में ही नहीं, बल्कि बोधने में भी समर्थ होता है। राम बाण भारतीय

जन-जीवन में अमोघ अस्त्र का पर्यायवाची शब्द बन गया है। अच्छी दवा को रामबाण कहा जाता हैं। ऐसे धनुष और बाण जिनके हाथ में हों, वही महेष्वास हैं और वही महीभर्ता हैं। समस्त मही या धरती का भार वहन करने के लिए ऐसा ही लोकोत्तर पराक्रम आवश्यक होता है। मही स्वयं महान् हैं। उस महती मही का भार वहन कर उसका पालन पोषण करने वाले लोकपालक भगवान् की महत्ता को अतिरंजित नहीं किया जा सकता। इसलिए महीभर्ता नाम के साथ इस महनीयता का गुणगान समाप्त होता है।

इसके बाद 'श्रीनिवास' का नाम आता है। ऊपर श्रीमान् का उल्लेख किया गया है। श्रीमान् और श्रीनिवास में थोड़ा-सा अंतर है। श्री के साथ रहने वाला श्रीमान् है और श्री में रहने वाला श्रीनिवास है। श्रीमान् शब्द में भगवान् और भगवती के बीच में सामीप्य और सारूप्य की भावना है जब कि श्रीनिवास में सायुज्य की भावना है। श्रीमान् श्री से अलग नहीं हैं। एक ही सत्ता के ये दो रूप हैं, यही अभेद श्रीनिवास शब्द में प्रकट होता है।

अगला नाम 'सतां गतिः' शरणागति की भावना को प्रकट करता हैं। एक बार ही सही जो भगवान् की शरण में जाते हैं, उनको अभय प्रदान करना भगवान् का व्रत है, यह घोषणा भगवान् राम ने विभीषण की शरणागति के प्रसंग में सबके सामने की। शर्त केवल यही है कि शरणागति में आने वाला सच्चे दिल वाला हो, सद्भावना से युक्त हो। ऐसे संत भगवान् के यहां अपने आप पहुंच जाते हैं। भगवान् के यहां पहूंचने के लिए भक्त जितना लालायित होता है, भक्त

को अपने पास बुलाने के लिए भगवान् उससे भी अधिक उत्सुक होते हैं। जब दोनों तरफ से उत्कंठा तीव्र हो जाती है तब रास्ता अपने आप साफ हो जाता है। बीच में कोई बाधा टिक नहीं सकती।

यही बात अगले नाम 'अनिरुद्ध' में कही जाती है। जिनके पास पहुँचने में कोई निरोध नहीं है, वही अनिरुद्ध है। बिना किसी रोकटोक के भगवान् के यहां सब लोग पहुंच सकते हैं। इसके लिए न कोई प्रतिबंध है, न अलगाव है। इसी प्रकार भक्त के पास पहुंचने में भी भगवान् को कोई नहीं रोक सकता। गजेन्द्र की पुकार सुनकर भगवान् अपने सारे परिवार को छोड़कर चल पड़े थे। भगवान् वासुदेव का नाम लेते हुए बालक ध्रुव राजमहल छोड़कर जंगल की ओर दौड़ पड़े थे। ऐसे प्रसंगों से स्पष्ट होता है कि भक्त और भगवान् के बीच में न कोई निरोध है, न प्रतिरोध और न अवरोध है। जिस आनंदधाम में भगवान् का चिरनिवास होता है, भक्त उसी की कल्पना करता है, उसी का स्वप्न देखता है और उसी में पहुंचने का निरन्तर प्रयास करता है।

इस आनंद का स्वरूप और स्वभाव अगले नाम 'सुरानंद' में देखा जा सकता है। सुरों के लिए आनंद प्रदान करते हैं—आनंद स्वरूप भगवान्। जिनकी हर जगह पहुंच होती है, जो लेन देन का संतुलन रखते हैं, जिनमें त्याग और भोग का सुन्दर सामंजस्य है, वही सुर या देवता हैं। देवता का जो आनंद होता है, वह मनुष्य के आनंद से कुछ भिन्न है। मनुष्य मात्र को खाने पीने में, चलने फिरने में, देखने सुनने में और इसी प्रकार की आशुतोषिणी वासनाओं में अधिक

आनंद आता है। इंद्रियों से परे बुद्धि से प्राप्त होने वाला जो आनंद होता है, उसकी कल्पना पांचभौतिक प्राणी आसानी से नहीं कर पाता। अगर कर पाता है तो वह देवता बन जाता है। इसलिए ब्रह्मज्ञानी व्यक्तियों को भूसुर या धरती के देवता कहा गया है। यहां पर सुर शब्द का अर्थ स्वर भी हो सकता है। वाणी से निकलने वाले सभी स्वर आनंद प्रदान करने वाले हैं। स्वर के माध्यम से प्राप्त होने वाला आनंद भी भगवान् की देन है और उन्हीं का प्रकट रूप है। यही बात अगले दो नामों में कही जाती है।

'गोविन्द' भगवान् का सर्वसाधारण नाम है। बार-बार लोग इस नाम का उच्चारण करते हैं। लेकिन इसका सच्चा आशय बहुत कम लोग जानते हैं। 'गो' शब्द का अर्थ है वाणी, स्वर्ग, धरती, गाय आदि। अक्सर गो शब्द से गाय का ही अर्थ लिया जाता है। लेकिन इस नाम में गो शब्द के जितने अर्थ हैं, वे सभी लागू होते हैं और सबसे प्रमुख अर्थ वाणी है। वाणी से ही भगवान् को प्राप्त करने का प्रयास किया जा सकता है। मीठी-मीठी बातों से भगवान् मुट्ठी में आ जाते हैं। शेष, महेश, गणेश आदि जिनका गुणगान करते हैं, नारद, शुक, व्यास आदि जिनको ठीक-ठीक समझ नहीं पाते हैं, वह ब्रज की भोली-भाली ललनाओं की छछिया भर छाछ पर नाचने लगते हैं। यहां पर गो-रस के प्रेमी के रूप में भगवान् कृष्ण को प्रस्तुत किया गया है। वाणी में इतना रमणीय आकर्षण है। स्वर्ग और धरती को मिलाने वाली शक्ति मनुष्य की वाणी में है। वाणी के रूप में ही मनुष्य में देवता विराजमान होते हैं, नर में नारायण प्रतिष्ठित होता है। वाणी के बल पर ही मानव माधव बन सकता है।

वाणी का यही गुणगान अगले नाम 'गोविदां पति' में भी जारी है। वाणी का तत्व पहचानने वाले को गोविद् कहा जाएगा। ऐसे मर्मज्ञ व्यक्तियों के जो स्वामी हैं, वह गोविदां पति (गोविदों के स्वामी) हैं। वाणी का रहस्य जानने वाले अनेक विद्वान और मनीषी हैं। उन सबको अपनी अनुकंपा और अनुग्रह से चरितार्थ करने वाले स्वामी गोविन्द और गोविदां पति हैं। गोविन्द शब्द की इस सारगर्भिता को ठीक-ठीक समझने के कारण ही आचार्य शंकर ने अपने प्रसिद्ध 'भज गोविन्द' स्तोत्र में गोविन्द का भजन करने का उपदेश दिया है।

प्रायः गोकुल विहारी कृष्ण को ही गोविन्द कहा जाता है। लेकिन उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि गोविन्द शब्द राम कृष्ण आदि शब्दों से भी अधिक व्यापक है। धरती और आकाश के बीच में जितने प्राणी विचरण करते हैं, उन सभी जीव-जन्तुओं में और सभी तत्वों में सर्वात्मा का दर्शन किया जा सकता है। इसी सर्वव्यापकता को अगले श्लोक में स्पष्ट किया जाता है।

"मरीचिर्दमनो हंसः सुपर्णो भुजगोत्तमः।
हिरण्यनाभः सुतपाः पद्मनाभः प्रजापतिः॥"२१॥

भगवान् को 'मरीचि' कहा गया है। 'मरीचि' का मतलब है किरण। प्रकाश की किरण सबसे अधिक सूक्ष्म और गतिशील है। प्रकाश अपने में गतिहीन है। उसको गतिशील बनाने वाली चीज़ किरण है। इसी किरण के अंतःकरण में परमात्मा विराजमान हैं। लेकिन जिस किरण के अंतर्गत करुणालय भगवान् प्रतिष्ठित है, वही किरण उनके

स्वरूप के साक्षात्कार में अवरोध बन जाती है। भगवान् के सच्चे रूप को देखने के लिए बाह्य किरणों के आवरण को हटाने की आवश्यकता उपनिषदों के ऋषियों ने अनुभव की थी। हिरण्मय पात्र के अंदर छिपे हुए सत्य को देखने के लिए ईशावास्य के ऋषियों ने इसी प्रकार के अनावरण की इच्छा प्रकट की। जब तक आवरण नहीं हटता, तब तक प्रकाश का सात्विक रूप सामने नहीं आता। इसीलिए भगवान् को किरण कहा गया है, प्रकाश नहीं। प्रकाश की किरण या मरीचि के रूप में भगवान् को देखने का प्रयास किया गया है। भगवान् प्रकाश की आत्मा हैं, प्रकाश नहीं। प्रकाश की इस आत्मा तक पहुँचने के लिए शम दम का साधन चाहिए। इसी साधन की ओर अगले नाम में संकेत किया जाता है।

यह नाम है 'दमन'। अपने को काबू में रखने वाला दमन है। दूसरों को दबाने वाला और दूसरों पर विजय प्राप्त करने वाला भी दमन है। कालिदास ने अपनी नायिका शकुंतला के पुत्र का नाम सर्वदमन रखा है। श्रीहर्ष के नैषध में दमयंती नाम की नायिका का चित्रण किया गया है। मनोरंजक कथा के माध्यम से किसी विशिष्ट कथ्य की ओर संकेत करने के उद्देश्य से ही महान् कवियों ने अपनी कृतियों में इन पात्रों का समावेश कराया है। समस्त आध्यात्मिक उन्नति का मूल आधार दमन है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अंत में दा, दा, दा नाम के तीन स्वरों के माध्यम से इसी दमन की ओर संकेत किया गया है। जो अपने को काबू में रख सकता है, वह सारे संसार पर शासन कर सकता है। लेकिन दमन का मतलब कठोर शासन नहीं है। कठोर शासन से स्थापित होने वाला दमन अस्थायी होता है। अंतःप्रेरणा से जो आत्म

शासन की भावना उत्पन्न होती है, वह स्थायी होती है। इसीलिए अप्रिय भाषा में कोई भी शिक्षा नहीं दी जा सकती। मीठी-मीठी बातों से, प्यार से और अनुग्रह की भावना से जो शिक्षा या उपदेश दिया जाता है उसी का स्थायी प्रभाव पड़ता है और उसी से सच्चा सुधार होता है। दमन का यही सात्विक विधान अगले नाम में स्पष्ट किया जाता है।

अगला नाम है 'हंस'। हंस मानस में विचरने वाला सुन्दर और मंदगामी जीव है। स्वच्छ जल में मंद-मंद विचरने वाला सुन्दर हंस दमन की भावना ही सिखाता है। हंस के चलने में न कोई जल्दबाजी दिखाई देती है और न कोई आलस्य की भावना। वह धीरे-धीरे चलता है और जल्दी अपना रास्ता भी तय कर लेता है। प्रकाश की आत्मा तक पहुंचने के लिए इसी प्रकार की गति अपेक्षित है। हंस की गति में एक और विशेषता है। उसमें एक लय है जो कभी भंग नहीं होती। हंसते-हंसते एकाग्र दृष्टि से यह जीव आगे बढ़ता रहता है। हंस का रंग सफेद होता है जो कि पवित्रता को द्योतक है। मानस का जल जितना स्वच्छ होता है, उसमें चलने वाले हंस का रंग भी उतना ही साफ होता है। इसीलिए वह दूध को पानी से अलग कर सकता है। यह सरस्वती का वाहन है। अच्छी चाल-चलन और मधुर कण्ठ वाली किसी महिला को हंसगामिनी कहा जाता है। योगशास्त्र में हंस निरन्तर चलने वाली सांस का पर्यावाची होता है। प्रत्येक प्राणी जो सांस लेता है उसमें बिना किसी प्रयत्न के सोहं का नाद निरन्तर सुनाई देता है। जो लोग इसको पहचानते हैं, वे परमहंस बन जाते हैं। जीवात्मा और परमात्मा को मिलाने वाला संधान भी यही हंस ध्वनि है। कठोपनिषद् में

निर्मल आकाश में विचरने वाले प्रभापुंज को हंस कहा गया है। इतना सारगर्भित नाम, जो कि भगवान् के सभी लक्षणों को व्यक्त कर सकता है, लौकिक दृष्टि से एक साधारण जलचर का बोधक है। अंतरिक्ष को आलोकित करने वाली किरण में जो परमात्मा है, वही मानस में मचलने वाले हंस में भी है।

अगला नाम है—सुपर्ण। सुपर्ण का शब्दार्थ है अच्छे पर्ण वाला, अच्छे पंख वाला। भगवान् विष्णु के वाहन गरुड़ को सुपर्ण कहा जाता है क्योंकि उनके पंख पर परमात्मा विराजमान होते हैं। उनकी उड़ान भी सबसे ऊंची होती है। उनके पंखों की सार्थकता भगवान् का भार वहन करने में है। जो समस्त संसार का भार वहन करता है, उस परमात्मा के वाहन की प्रशंसा साधारण शब्दों में नहीं की जा सकती। पर्ण का मतलब 'पन्ना' भी होता है। पन्नों में अक्षर लिखे जाते हैं। जिन पन्नों में अच्छे-अच्छे अक्षर लिखे जाए, वह सुपर्ण कहलाएगा। इससे स्पष्ट होता है कि सुरुचिपूर्ण साहित्य, वासनाहीन वाङ्मय और रस बरसाने वाली स्वर लहरी में परमात्मा विराजमान होते हैं।

सुपर्ण के बाद 'भुजगोत्तम' नाम आता है। भुजग का मतलब है—सांप। सबसे श्रेष्ठ सांप भुजगोत्तम कहलाएगा। यह शेषनाग भी हो सकता है और वासुकि भी हो सकता है। गीता में कहा गया है 'अनंतश्चास्मि नागानां' और साथ ही यह भी कहा गया है—'सर्पाणामस्मि वासुकिः'। इसलिए भुजगोत्तम शब्द से दोनों अर्थ लिए जा सकते हैं—चाहे शेषनाग हो या सर्पराज वासुकि हो। पर ध्यान देने की बात यह है कि

आकाश में विचरण करने वाले पक्षियों में सबसे श्रेष्ठ पक्षी होने के साथ-साथ उसके शत्रु वर्ग में आने वाले सर्पों में भी सर्वश्रेष्ठ सर्प में भगवान् का रूप देखना समदर्शी महर्षियों के लिए ही संभव है। उनकी दृष्टि में गरुड़ भी भगवान् है और गरुड़ का आहार सर्प भी भगवान् हैं। भोक्ता और भोजन दोनों में एक ही भगवान् की भ्राजिष्णुता को देखना देखने वालों की विदग्धता का सूचक है। गरुड और सांप में एक और विरोधाभास है। गरुड हमेशा ऊपर ही ऊपर विचरण करता है और अमृत लाने में समर्थ होता है जबकि सांप हमेशा नीचे ही रेंगता रहता है और विष फैलाता है। विराट् पुरुष परमात्मा के लिए अमृत जितना प्रिय है, विष भी उतना ही प्रिय है। चाहे वह अमृत वाहक हो या विषधर हो, जब तक उनमें संयम है, सात्विकता है और प्रकाश की आत्मा को देखने की प्रगाढ़ लालसा है, उसमें भगवान् विराजमान होते हैं।

अगला नाम 'हिरण्यनाभ' भगवान् के हिरण्मय व्यक्तित्व को प्रकट करता है। मिट्टी को भी सोना बनाने वाला इंद्रजाल भगवान् के चारों तरफ फैला हुआ है। नाभि शरीर का केन्द्रीय स्थान है। भगवान् के केन्द्र में हिरण्य है, सोना है। जो उनके संपर्क में आ जाता है वह मिट्टी का पुतला होते हुए भी सोने की खान का रूप धारण करता है। यह कैसे होता है, यह अगले नाम में स्पष्ट किया जाता है।

अगले नाम में भगवान् को 'सुतपा' कहा गया हैं। अच्छी तपस्या करने वाला सुतपा होता है। भगवान् सामान्य तपस्वी नहीं हैं, सुतपा हैं। परमात्मा की तपस्या की

विशिष्टता इस बात में है कि उनको अपनी तपस्या से कोई निजी प्रयोजन नहीं है। दूसरों की भलाई के लिए, लोक-मंगल की कामना से वे तपस्या करते हैं। संसार में जितने तपस्वी लोग अपनी-अपनी साधना में लीन हैं, उन सबकी तपस्या भगवान् की ही तपस्या है। भक्त भगवान् तक पहुँचने के लिए जितना तपता है, तड़पता है, उससे भी अधिक भगवान् तप्त हो जाते हैं। दोनों के ताप के सहयोग से ही तपस्या सिद्ध हो जाती है। तपस्या के माध्यम से जिस परम पद को प्राप्त करना अभीष्ट होता है, वही पद्मनाभ है। जीवन की जो सबसे बड़ी प्राप्ति है, वही पद्म है। यह पद्म जिसके अंदर है, वह पद्मनाभ है।

समस्त संसार की साधना, तपस्या और वेदना का सार और सबका कर्ता, धर्ता और हर्ता होने के कारण इस श्लोक के अंत में भगवान् को 'प्रजापति' कहा गया है। वह संसार के पिता हैं, माता हैं, पितामह हैं और पति भी हैं। जो जिस भावना से उनको देखना चाहते हैं, उनको उसी रूप में वे दिखाई देते हैं—जाकी रही भावना जैसी······

१३. सत्यपराक्रम सिंह

प्रकाशात्मा परमात्मा को स्वर्ण हंस और उत्तम तपस्वी के रूप में प्रस्तुत करने के बाद उनको समस्त सत्ता के संधाता और शासक के रूप में अगले श्लोक में प्रस्तुत किया जाता है।

"अमृत्युः सर्वदृक् सिंहः संधाता संधिमान् स्थिरः
अजो दुर्मर्षणः शास्ता विश्रुतात्मा सुरारिहा।"२२॥

भगवान् का नाम अमृत्यु रखने में न केवल उनकी अमरता की ओर संकेत है, बल्कि मृत्यु से भिन्न और मृत्यु से निरपेक्ष अविनाशी तत्व के साथ उनका संबंध जोड़ दिया गया है। यहां पर गीता का श्लोक अचानक याद आता है।

"अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति॥"

संसार के कोने-कोने में जो सत्ता व्याप्त है, वही अविनाशी तत्व परमात्मा की परम सत्ता है जो कभी क्षीण नहीं हो सकती, मिट नहीं सकती। इसी अव्यय तत्व को ओर अमृत्यु शब्द संकेत करता है। कठोपनिषद् में नचिकेता यमराज से कहता है कि मुझे लंबी आयु की कोई लालसा नहीं है क्योंकि जब तक आपका शासन चलता है तब तक हम

जीवित रहेंगे ही। यह बड़ी अजीब बात है। यमराज के शासन में सब का जीवन् सुरक्षित है, यह आसानी से समझ में आने वाली बात नहीं है। यमराज का काम तो प्राण हरण है। प्राणों के हर्ता के हाथ में प्राणों की रक्षा कैसे संभव है, यह कुछ गहराई के साथ सोचने के बाद ही दिमाग में बैठने वाली बात है। वास्तव में संसार में प्राण हरण प्राणधारण का ही दूसरा रूप है। पैदा हुए का मरना जितना अवश्यंभावी है, उतना ही निश्चित है—मरे हुए का फिर पैदा होना। कालिदास जैसे क्रांत दर्शी कवियों की दृष्टि में मरना ही शरीरधारी का प्रकृति सिद्ध लक्षण है और जीवन उसका विकार मात्र है। मृत्यु के कारण ही जीवन का मूल्य बढ़ जाता है। अगर मरना नहीं है तो शायद जीने का कोई आनंद ही नहीं रहता। पर मरने के डर से मनुष्य को बचाना मृत्युंजय का काम है। मृत्यु से अमृत्यु की ओर जाना ही मृत्युंजय की सच्ची आराधना है। मानव शरीर में मृत्यु तत्व भी है और अमृत्यु तत्व भी है। जब मिट्टी मिट्टी में मिल जाती है और हवा हवा के साथ उड़ जाती है तब इसी को हम मृत्यु समझते हैं। पार्थिव मृत्यु के बावजूद अपार्थिव अमरत्व प्रदान करने वाला भगवान् 'अमृत्यु' है।

अगला नाम 'सर्वदृक्' भगवान् की सर्वदर्शिता को प्रकट करता है। वह सब कुछ देखते हैं, उनसे बचकर हम कोई काम नहीं कर सकते क्योंकि वह हमेशा हमारे साथ ही हैं। यह सब कुछ देखने वाला हमारे सभी कर्मों को, सभी विचारों को और सभी शब्दों को तत्काल हमारे ही अंदर अंकित कर देते हैं। यह काम प्रायः चित्रगुप्त का बताया जाता है। चित्रगुप्त यमराज का लेखापाल माना जाता है।

उनका सारा लेखा जोखा विचित्र ढंग से होता है। मन में उत्पन्न विचार, वाणी से निकले शब्द और स्वभाव से संपन्न कार्य-कलाप शरीर के अंदर की एक गोपनीय प्रणाली के अनुसार भीतर ही भीतर अंकित हो जाते हैं। इसी विधान से प्राणिमात्र के अच्छे बुरे कर्मों का लेखा रखने वाले भगवान् को यहां सर्वदृक् कहा गया है।

अगला नाम 'सिंह' भगवान् की संहार शक्ति का परिचय कराता है। सिंह शब्द की उत्पत्ति 'सिंह' शब्द से हुई। सिंह सभी जानवरों का राजा है, बड़े दर्प के साथ घूमता है, आगे वढ़ते-बढ़ते कभी पीछे की तरफ देखता है, पीछे की तरफ जब देखने लगता है तो पीछे की सभी वस्तुएं उसकी दृष्टि के अंतर्गत आ जाती हैं। अगर कहीं किसी का संहार करना है तो वह फौरन कर देता है। सब कुछ देखने वाला यही सिंह आवश्यकतानुसार दण्ड नीति को भी अपनाता है। हिरण्यकशिपु जैसे दुष्ट का संहार करने के लिए भगवान् को मनुष्य और सिंह दोनों बनना पड़ा था। ऊपर के श्लोक में भगवान् को हंस कहा गया है और यहां पर सिंह के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रशांत और प्रफुल्ल मानस में वह हंस भी बनते हैं और विपरीत बुद्धि के महाविटप में वह सिंह की तरह स्वैर विहार भी करते हैं।

असल में वह अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्मों का यथोचित फल प्रदान करने वाले न्यायमूर्ति हैं। यही बात 'संधाता' नाम में स्पष्ट की गई है। संधाता का मतलब है—जोड़ने वाला। कर्म को फल से, असत्य को सत्य से, मृत्यु को अमरता से और अंधकार को प्रकाश के साथ जोड़ने

वाला यही संधाता है। धाता का काम केवल उत्पन्न करना है, पैदा करना है। जो प्राणी पैदा होता है, उसको अपने कर्मों के अनुरूप फल प्राप्त हो, इस बात की व्यवस्था करने वाला संधाता है।

लेकिन संधाता का यह काम संधाता को संधि से अलग नहीं करता है। जोड़ने वाला जुड़ भी जाता है। सुख-दुःख, हानि-लाभ सभी अवस्थाओं में भोगने वाले जीव के साथ-साथ भुगताने वाला परमात्मा भी रहता है। इसीलिए वह 'संधिमान्' है। संधिमान् शब्द का मतलब समझौता कराने वाला भी हो सकता है। वह आपस में समझौता करा देता है। कोई भी मनुष्य एकदम दुष्ट नहीं होता और एकदम शिष्ट भी नहीं होता। अच्छे बुरे दोनों प्रकार के गुण मिले-जुले रहते हैं। यह भगवान् की संधिमत्ता के कारण ही होता है। कभी किसी को दण्ड दिया तो कभी उसी का उद्धार भी होता है और कभी इसका उल्टा भी हो सकता है। लेकिन भगवान् का निर्णय पक्का होता है, स्थिर होता है। इसलिए उनका नाम 'स्थिर' रखा गया है।

अगला नाम 'अज' स्थिर का बिलकुल विपरीत-सा लगता है। एक ही स्थल पर स्थायी रूप से रहने वाला स्थिर है और हमेशा चलने वाला अज है। बकरी को अज कहा जाता है। ब्रह्मा को भी अज कहा जाता है। जैसे बकरी हमेशा चलती रहती है, उसी प्रकार ब्रह्मा का कार्य भी निरंतर चलता रहता है। स्थिर और अज दोनों शब्दों को साथ-साथ रखने में भगवान् की गतिशीलता और स्थिरता दोनों की ओर एक साथ संकेत करने की भावना है। जैसा कि ईशावास्य में

कहा गया है परमात्मा निश्चल है, पर मन से भी अधिक गति के साथ चलने वाला है। गति और स्थिति का यही सामंजस्य ये दोनों नाम प्रकट करते हैं। समस्त संसार का कर्ता, धर्ता और हर्ता होने के कारण उनको सभी ओर दृष्टि रखनी पड़ती है। लेकिन इसके लिए उनको जगह-जगह जाने की जरूरत नहीं पड़ती। एक ही जगह बैठे हुए वह सभी जगह की देखरेख करते हैं।

भगवान् की नीति और निर्णय का कोई विरोध नहीं कर सकता। इसलिए उनको दुर्मर्षण कहा गया है। कोई उनकी समीक्षा तक नहीं कर सकता क्योंकि उनका विधान समझ में नहीं आता। लोकनाथ का लोकतंत्र कुछ ऐसा विचित्र है कि उसमें विरोधी दल की कोई गुंजाइश तक नहीं है। पर वह नियंता नहीं हैं। उनका कोई निर्णय न्याय विरुद्ध नहीं होता। जिसको जितना जिस रूप में मिलना है, उसको वह उपलब्ध कराते हैं। यही उनके शासन की विशेषता है।

अगला नाम 'शास्ता' भगवान् को सच्चे शासक के रूप में प्रस्तुत करता है। भगवान् के शासन में पांचभौतिक प्राणी ही नहीं, बल्कि अंतरिक्ष में विचरण करने वाले ग्रह-नक्षत्र आदि भी नियमित रूप से नियत समय पर अपना काम करते हैं। समय के अनुसार हवा चलती है, समय पर सूर्य का उदय होता है, समय पर वर्षा होती है, मर्यादा के अंदर रहकर आग प्रकाश और ताप देती है और समय पर जीवन-मरण संपन्न होते हैं। इसीलिए भगवान् का नाम हर जगह लिया जाता है।

'विश्रुतात्मा' भगवान् की इसी ख्याति को प्रकट करता है, वे सारे विश्व में विख्यात हैं। सभी लोग उनका नाम जानते हैं। जो भगवान् को मानते हैं, वे तो उनको जानते ही हैं। लेकिन जो नहीं मानते, वे भी उनको जानते हैं—बल्कि उनलोगों से भी ज्यादा जो सहज ही उनको मानकर चलते हैं। भगवान् का अस्तित्व नहीं मानने वाले उनका अधिक स्मरण करते हैं, ज़्यादा छानबीन करते हैं। इसलिए उनका विश्रुतात्मा नाम सर्वथा सार्थक है। 'श्रुत' शब्द वैदिक वाङ्मय के अर्थ में भी आता है। अतः वेदवेद्य पुरुष को विश्रुतात्मा कहना समीचीन है।

इस श्लोक का अंतिम नाम 'सुरारिहा' भगवान् की शत्रुघ्नता को प्रकट करता है। भगवान् के अपने कोई शत्रु नहीं हैं। गीता में स्पष्ट कहा गया है कि मुझे न किसी से द्वेष है, न किसी से विशेष प्रेम है। लेकिन जो अच्छे लोगों के मित्र हैं, वही उनके मित्र हैं और जो अच्छे लोगों के शत्रु हैं, वही उनके भी शत्रु हैं। अच्छे लोगों को प्रायः सुर या देवता कहा जाता है। जो देवताओं के शत्रु हैं, भगवान् उनकी दुष्टता का हरण कर देते हैं। शिष्टता का समर्थन और दुष्टता का खण्डन लोकनाथ भगवान् का क़ाम है।

यह नहीं कि भगवान् केवल दण्ड ही दण्ड देते हैं। वे सुधारवादी भी हैं। दुष्टों को दण्ड देने के पहले उनमें सुधार लाने की वे बहुत कोशिश करते हैं। पहले समझाते हैं, फिर उनको नया आलोक प्रदान करते हैं, कभी अपनी सच्चाई का पराक्रम दिखाते हैं और कभी अपनी उदारता से उनको अनुगृहीत भी करते हैं। भगवान् की यही उदारता और

सुधारवादिता अगले नाम में प्रस्तुत है ।

'गुरुर्गुरुतमो धाम सत्यः सत्यपराक्रमः ।
निमिषोऽनिमिषः स्रग्वी वाचस्पतिरुदारधीः ॥''

उपदेश देने वाले को गुरु कहा जाता है। गौरवपूर्ण व्यक्ति को भी गुरु कहा जाता है। दोनों अर्थों में भगवान् गुरु हैं। वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक साधकों को वे बुद्धि प्रदान करते हैं, इसलिए वे गुरु हैं। गुरु शब्द की व्याख्या करते हुए प्रायः कहा जाता है कि अंधकार को हटाकर प्रकाश देने वाला गुरु है। इस दृष्टि से भी भगवान् गुरु हैं क्योंकि वे स्वयं प्रकाशात्मा हैं। वैसे संसार में बहुत से गुरु मिलते हैं जो ज्ञान प्रदान करते हैं। लेकिन भगवान् इन गुरुओं के भी गुरु हैं, जगद्‌गुरु हैं। इसलिए उनको गुरुतम कहा गया है। सबसे अधिक महत्वपूर्ण होने के कारण वे गुरुतम हैं। सौर परिवार के सभी ग्रहों का कुल मिलाकर जितना भार होता है, उतना अकेले बृहस्पति का होता है। इसीलिए बृहस्पति को गुरु कहा जाता है। वह देवताओं के गुरु हैं। भगवान् का गुरुत्व इससे भी अधिक है क्योंकि वे न केवल देवताओं के, बल्कि समस्त प्राणियों के गुरु हैं। सबसे श्रेष्ठ हैं और सबके शिक्षक हैं। सारे जग को शिक्षा प्रदान कर समस्त प्राणियों का भार वहन करने वाले परमात्मा को गुरुतम कहा जाए तो कोई आश्चर्य नहीं है। यहां पर भगवान् को पहले गुरु कह कर फिर गुरुतम क्यों कहा गया है, यह मननीय है। गुरु शब्द केवल उपदेशक या शिक्षक के अर्थ में आता है। लेकिन गुरुतम विशेषण है। जो सबसे अधिक गौरवपूर्ण, महत्वपूर्ण भारी या दायित्वपूर्ण है, वह गुरुतम

है। गुरु व्यक्तिवाचक या जातिवाचक संज्ञा मात्र है जब कि गुरुतम व्यापक विशेषण है। जैसे बृहस्पति वाणी के भी धनी माने जाते हैं, वैसे परमात्मा भी वाणी के नेता, प्रणेता, दाता और संधाता हैं।

अगला नाम 'धाम' है। धाम बहुत ही सुन्दर और सरल नाम है। प्रायः भगवान् को परंधाम कहा जाता है। सभी प्राणियों को अंत में जिस स्थान पर पहुँचाना है, वही परंधाम या परमधाम है। इस प्रसंग में धाम शब्द का प्रयोग स्थान के अर्थ में किया जाता है। पर धाम शब्द का वास्तविक अर्थ है—प्रकाश। विशेष रूप से गुरु शब्द के बाद धाम शब्द का प्रयोग होने के कारण, यहां पर प्रकाश का अर्थ ही अधिक उपयुक्त मालूम होता है। प्रकाश प्रदान करने वाले को ही गुरु कहा जाता है और भगवान् स्वयं प्रकाश हैं, धाम हैं। सारे उपदेशकों को, समस्त प्रवक्ताओं को और आचार्यों को, जहां से प्रकाश मिलता है, वह मूल धाम स्वयं भगवान् हैं। यही धाम गुरुतम है। इस धाम का आधार सच्चाई है और सच्चाई के बल पर ही यह चलता है।

यही बात सत्य और सत्य पराक्रम—इन दो नामों में प्रकट होती है। अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में जो बात टिक पाती है, वही सत्य है। भगवान् राम जिस धाम में प्रकट हुए, उस अयोध्या को सत्यपुरी भी कहा जाता है। सत्य जहां निवास करता है, वही सत्यपुरी है। सत्य को नारायण का ही दूसरा रूप माना जाता है। इसी मान्यता के आधार पर आज भी भगवान् सत्यनारायण की पूजा होती है। सत्य से बढ़कर कोई तप नहीं है (सत्यान्नास्ति

परं तपः) —यही वेद का सार है। सत्य का पालन करते हुए सत्य के बल पर आगे चलने वाला सत्यपराक्रम है। आदि कवि वाल्मीकि भगवान् राम का जब कभी नाम लेते हैं तो सत्यपराक्रम को उस नाम के साथ जोड़ देते हैं। "रामः सत्यपराक्रमः' —यह वाल्मीकि रामायण में बार-बार सुनने में आता है। जिनका पराक्रम सच्चा है उनको भी सत्यपराक्रम कहा जा सकता है। लेकिन सत्य ही जिनका पराक्रम है उनको सत्य पराक्रम मानने में अधिक औचित्य मालूम होता है। यद्यपि इस श्लोक में राम का नाम तो लिया नहीं गया है, फिर भी राम नाम की ओर इसमें बड़ा मार्मिक संकेत है। राम नाम का पराक्रम ही सत्य का पराक्रम है। वही प्राणियों के बाहर भीतर सर्वत्र विराजमान हैं। राम नाम की रमणीयता से ही प्राणी में प्रफुल्लता आती है। सत्यपराक्रम की यही वाणी मनुष्य की बुद्धि में उदारता की भावना प्रतिष्ठित करती है। यही विचार अगले चार नामों में पल्लवित होते हैं।

जब हम आंखें मूंद लेते हैं तब हम निमिष बन जाते हैं, आंखें जब खुली रहती हैं तब हम अनिमिष हैं। कहा जाता है कि देवताओं की आंखें हमेशा खुली रहती हैं। उनकी पलकें कभी बंद नहीं होतीं। इसलिए निमिष और अनिमिष इन दोनों नामों में मनुष्य और देवता की ओर संकेत मालूम होता है। भगवान् कभी मनुष्य के रूप में प्रकट होते हैं और कभी देवता के रूप में। भगवान् राम तो मानव के रूप में प्रकट हुए थे—पर देवताओं का उद्धार करने के लिए। सात्विक और शुद्ध आचरण के द्वारा मनुष्य देवता बन सकता है, नर में नारायण प्रतिष्ठित हो सकता है। तब सारा

संसार उसकी वंदना करता है। यही बात 'स्रग्वी' नाम में स्पष्ट होती है। गले में हार पहनने वाला स्रग्वी है। भगवान् के वक्षस्थल पर वैजयन्ती नाम की माला हमेशा विराजमान होती है। यह उनकी विश्वविजयिता का द्योतक है। मनुष्य में दिव्यता को प्रतिष्ठित करने वाले समस्त संसार के लिए वंदनीय होते हैं। इस श्लोक का अंतिम नाम काफी लम्बा है 'वाचस्पतिरुदारधी' —वाणी का स्वामी और उदार बुद्धि वाला। स्थूल दृष्टि से देखने पर इसमें दो नाम दिखाई देते हैं—वाचस्पति और उदारधी। लेकिन आचार्य शंकर जैसे मनस्वियों ने इसको एक ही नाम माना है। केवल वाणी पर अधिकार होना काफी नहीं है, उसके साथ-साथ बुद्धि में उदारता भी चाहिए। जिनकी बुद्धि में उदारता नहीं है, हृदय में परिष्कृति नहीं है और मन में संस्कार नहीं हैं, उनकी वाणी कितनी भी परिमार्जित हो, आकर्षक हो, उस पर भगवान् प्रसन्न नहीं होते। वाणी और मन दोनों में पवित्रता होनी चाहिए और दोनों को साथ-साथ चलना चाहिए। उपनिषदों के ऋषियों ने शांति पाठ में इस बात की आकांक्षा प्रकट की कि हमारी वाणी मन में प्रतिष्ठित हो और मन वाणी में। मन और वाणी के इसी सामंजस्य को देखकर सर्वान्तर्यामी स्वामी सबके स्वांत में प्रकट होते हैं। ऐसा लगता है कि इस श्लोक में जितने नाम आए हैं, वे सब वाणी का ही गुणगान करने वाले हैं। पिछले श्लोक में भगवान् की प्रशासन पटुता का वर्णन किया गया है तो प्रस्तुत श्लोक में वाणी का गुणगान किया गया है। वास्तव में भगवान् समस्त संसार का शासन अपनी सरस वाणी के आधार पर ही कर रहा है। वाणी ही विश्व का सार है। वाणी के बिना संसार की कल्पना ही भयंकर हो जाती है। पर

आवश्यकता इस बात की है कि यह वाणी संयत हो, सत्यनिष्ठ हो और उदार संस्कारों से ओत प्रोत हो।

यही परम रमणीय वाणी परमात्मा को न्यायवादी नेता और विश्वात्मा बनाती है। यह बात अगले श्लोक में प्रकट होती है।

अग्रणीर्ग्रामणीः श्रीमान्न्यायो नेता समीरणः।
सहस्रमूर्धा विश्वात्मा सहस्राक्षः सहस्रपात्॥

वह सारे संसार के अग्रणी हैं, अगुवा हैं। उनके आगे और कोई नहीं है। लेकिन सबके आगे होते हुए भी वे सबको साथ ले चलते हैं। इसलिए उनका नाम 'ग्रामणी' रखा गया है। कई लोगों के समूह को ग्राम कहा जाता है। अपने ग्राम को साथ ले चलने वाले ग्रामणी हैं—महान्यायवादी नेता परमात्मा।

इतनी उदारता भागवान् में कैसे आई है, इसका समाधान प्रस्तुत करता है 'श्रीमान्' शब्द। जिनके साथ श्री हो, लक्ष्मी हो, उनमें उदारता सहज रूप में आ जाती है। संत त्यागराज भगवान् राम की महनीयता के पीछे उनकी साध्वी पत्नी जानकी की पवित्रता देखते हैं। जानकी के साथ होने के कारण ही राम इतने उदार हुए। ताड़का का वध और वालि का संहार भगवान् राम ने जानकी की अनुपस्थिति में ही किया था। इस प्रकार श्रीमान् होने के कारण वे अग्रणी होते हुए भी ग्रामणी हैं।

ऐसा लगता है कि न्याय ने ही शरीर का रूप धारण कर

लिया हो। इसलिए भगवान् का नाम केवल 'न्याय' कहा गया है। तर्क शास्त्र को भी न्याय कहा जाता है। भगवान् के सभी कार्य तर्क सम्मत होते हैं। वह महान् न्यायवादी हैं। संसार का समस्त वैभव जिसमें मिल जाता है, उसको भी न्याय कहा जा सकता है। आमदनी को आय कहा जाता है और खर्च को व्यय। जिसमें न आय है, न व्यय और जिसमें केवल निहित होने की भावना है, वही न्याय है। भगवान् के हाथ में सब का सर्वस्व निहित है।

वे सब को साथ ले जाने वाले हैं, इसलिए नेता हैं। वे किस प्रकार के नेता हैं, यह ऊपर के नामों में स्पष्ट किया गया है। अगले नाम 'समीरण' में उनकी गतिशीलता का वर्णन है। वह हवा की तरह हमको ले चलते हैं और हवा पर बिठा कर ले चलते हैं। हवा में चलना आसान भी है और मुश्किल भी। हवा में चलने के लिए हवाई जहाज चाहिए। भगवान् का सहारा यही जहाज है जिस पर बैठकर हम अंतरिक्ष में आराम से चल सकते हैं। प्रभु की कृपा से साधक न जाने कहां-कहां विचरण कर सकता है। विश्व रूप को प्रकट करते समय भगवान् कहते हैं, "जो कुछ तुम देखना चाहते हो सब कुछ इसी शरीर के अंदर देख सकते हो।" यह सब भगवान् की पावन अनुकंपा से संपन्न होता है। मनुष्य जितना पावन होता है, उसकी गति उतनी पवमान बन जाती है। हवा की तरह चंचल मन को अपने काबू में रखने से वह हवा का वास्तविक आनंद ले सकता है।

भगवान् जब हवा के रूप में प्रकट होते हैं तो उनके हजारों

सिर दिखाई देते हैं। हज़ारों आंखों से वह सबको देखते हैं और हज़ारों पैरों से वह सर्वत्र विचरण करते हैं। यही विश्वात्मा का रूप इस श्लोक के अंतिम चार नामों में प्रकट होता है। वह सहस्रमूर्धा हैं, सहस्राक्ष हैं और सहस्रपात् हैं। इन नामों का उच्चारण करते समय पुरुषसूक्त की पंक्ति अचानक याद आती है—"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्"। ऐसा लगता है कि यहां पुरुष सूक्त का ही पुनश्चरण किया जा रहा है। अंतर केवल इतना ही है कि शीर्षा की जगह 'मूर्धा' शब्द का प्रयोग किया गया है और पुरुष की जगह विश्वात्मा प्रकट होता है। मूर्धा शब्द शीर्षा से भी उदात्त है, मूर्द्धन्य है। परम पुरुष की आत्मा विश्वतोमुखी होने के कारण विश्वात्मा शब्द का प्रयोग किया गया है। विश्वात्मा का मतलब पवन या हवा भी है। संसार के कोने-कोने में संचारित होने वाला शीतल मंद सुगंध समीर विश्वात्मा के विराट् रूप का ही परिचायक है।

१४. नर ही नारायण

समस्त संसार में समीर की तरह संचरित होने वाली विश्वात्मा की सहस्रधारा को प्रतिपादित करने के बाद परिवर्तन, आवर्तन और निवर्तन से परे होकर प्रवृति, निवृति, विवृति और संवृति को पल-पल में परिचालित करने वाली संवर्तनशील सत्ता का अगले श्लोक में वर्णन किया जाता है—

आवर्तनो निवृत्तात्मा संवृतः संप्रमर्दनः ।
अहः संवर्तको वह्निरनिलो धरणीधरः ॥

भगवान् की वर्तनी मर्यादित है। आवर्तन शब्द में मर्यादा-वाचक उपसर्ग 'आ' के साथ भगवान् की 'वृत्ति' को जोड़ दिया गया है। आवर्तन शब्द वारंवारिता को भी प्रकट करता है। भगवान् किसी समय और किसी स्थान पर कभी-कभी प्रकट होते हों, ऐसी बात नहीं है। वे बार-बार प्रकट होते हैं और पल-पल प्रत्यक्ष होते हैं। उनकी पुनरावृत्ति में भी एक विचित्र आकर्षण है। इसी आकर्षक आवृत्ति की ओर आवर्तन नाम संकेत करता है।

बार-बार प्रकट होकर संसार की वृत्ति को प्रवर्तित करते हुए भी वे अपने आप में निवृत्त हैं। धरती की किसी घटना के साथ उनका कोई रागात्मक संबंध नहीं है। प्रवृत्ति का

संबंध केवल शरीर या मन से है, आत्मा से नहीं। आत्मा हमेशा निवृत्त है। शरीर करता है, मन कराता है, पर आत्मा देखती है। मन और शरीर की प्रवृत्ति को आत्मा देखती है। किसी वस्तु की गतिशीलता को समझने के लिए अपने में स्थिरता आवश्यक है। अगर अपने आप में स्थिरता नहीं है तो स्थिर वस्तु भी गतिशील दिखाई देती है। इसलिए भगवान् अपने को सबसे निर्लिप्त और निवृत्त बनाकर सारे संसार को प्रवृत्तिशील बना देता है। यही निवृत्ति मार्ग अगले नाम निवृत्तात्मा में स्पष्ट होता है।

निवृत्तात्मा भगवान् के द्वारा प्रवर्तित प्रापंचिक लीला में वे स्वयं किस रूप में विद्यमान् होते हैं, यह संवृत नाम से स्पष्ट हो जाता है। लंका के लावण्य को उसके अंदर कहीं किसी पेड़ की छाया में बैठी हुई राशीभूत रमणीयता में देखने के लिए हनुमान को भी संवृत बनना पड़ा था। समुन्दर को पार करते समय वह 'कनकभूधराकार शरीर' था। सुनहरे पहाड़ की तरह वह बढ़ा चढ़ा था। पर परमेश्वरी के पावन सौंदर्य के आलोक के पास जब वह पहुँच गया, तब वह एकदम छोटा हो गया। जब तक प्राणी अपने स्थूल आवरण को छोड़ कर महीन से महीन और महान् से महान् आत्म तत्व से परिचित नहीं होता तब तक उसको अपने अन्दर की महत्ता का परिचय नहीं मिलता। यही संवृत नाम का सार है।

अगला नाम 'संप्रमर्दन' स्थूल से सूक्ष्म की ओर होने वाले इस अभियान के स्वरूप और स्वभाव को स्पष्ट करता है। संप्रमर्दन में मर्दन की भावना है जिसके साथ संपूर्णता

और प्रकृष्टता को सूचित करने वाले 'सम्' और 'प्र' उपसर्ग लगे हुए हैं। प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर कुछ दिव्य आलोक है और उसके साथ-साथ घृणित अंधकार भी। आलोक और अंधकार के संमिश्रण से मानव मन निष्पन्न होता है। बाहर का अंधकार जब दूर हो जाता है तो भीतर का आलोक प्रकट होता है। इस अंधकार को दूर करने के लिए भगवान् हमारे अंदर की दुष्ट प्रवृत्तियों को नष्ट कर देते हैं, मर्दन करते हैं। यह मर्दन पूरी शक्ति लगाकर किया जाता है और अच्छे आशय से किया जाता है। इसलिए वह संप्रमर्दन है। जिस प्रकार शरीर के अंदर पहुंचे हुए विष को बाहर निकालने के लिए कुशल वैद्य नाना प्रकार की औषधियों का प्रयोग कर विष के प्रभाव को नष्ट करने का प्रयास करता है, उसी प्रकार परमपिता परमात्मा भी अपनी प्यारी संतान को अच्छे और सच्चे रास्ते पर ले जाने के लिए उनके अंदर के अशुभ को दूर कर देते हैं।

इस श्लोक की दूसरी पंक्ति में चार नाम हैं और पहली पंक्ति में भी चार ही नाम हैं। पहली पंक्ति में जो नाम आए हैं, वे अमूर्त हैं जब कि दूसरी पंक्ति के चार नाम हमारे सामने किसी स्पष्ट मूर्ति को साकार कर देते हैं। पहला नाम है अहःसंवर्तक, दिन को चलाने वाला। भगवान् भास्कर की किरणों से दिन का प्रादुर्भाव होता है। अंधकार को फैलाने वाली रात सूर्य की किरणों का स्पर्श पाते ही पलभर में गल जाती है। सूर्य सबको प्रकाश देता है और आग सबको ताप देती है। यहां पर आग के लिए वह्नि शब्द का प्रयोग हुआ है। वह्नि में वहनशीलता है। वह धरती की भावना को स्वर्ग में पहुंचा देती है। इस प्रकार वह सबको वहन

भी करती है और साथ ही सड़ी गली चीज़ों को नष्ट भी कर देती है—नई चीज़ों को जन्म देने के लिए। जब तक एक चीज़ नष्ट नहीं होती तब तक दूसरी चीज़ नहीं बन सकती। मनुष्य और देवता के बीच में अग्नि देव संधायक होता है। वाहन और नयन अग्नि के दो प्रधान कार्य हैं, इसलिए उनको वह्नि कहा गया है। मिट्टी के बने हुए शरीर को दूर-दूर के लोकों में पहुंचाने वाली वाहिका अग्नि ही है। असल में अग्नि ही प्राण है। जब तक मनुष्य शरीर में अग्नि है तब तक वह जीवित है। जब शरीर सोता है तब भी यह अग्नि जगी रहती है। तीसरे नाम में भगवान् को 'अनिल' कहा गया है। वायु को अनिल कहा जाता है। उसका कोई निलय नहीं होता, ठिकाना नहीं होता। कभी इधर, कभी उधर, हमेशा वह बहती जाती है। सूर्य और अग्नि में भी चलन है। पर हवा में जितनी गतिशीलता है, उतनी इन दोनों में नहीं है। पर सूर्य के कारण ही अग्नि में ताप होता है और वायु में शीतलता आती है। सूर्य, अग्नि और वायु के बाद धरणीधर अर्थात् पर्वत का नाम लिया गया है। पर्वत सारी धरती का धारण करता है, शेषनाग भी धरती का भार वहन करता है। इसलिए धरणीधर शब्द बहुत ही व्यापक है। धरणी शब्द ही धारण की भावना को प्रकट करता है। सभी प्राणियों को आधार प्रदान कर उनका धारण करने वाली धरणी ही पृथ्वी है। इस धरणी का धारण करने वाले परमात्मा कभी सूर्य के माध्यम से, कभी अग्नि के माध्यम से और कभी वायु के माध्यम से प्राणियों के प्राणों में स्पंदन पैदा करते हैं। यहां पर ध्यान देने की बात है कि सूर्य, अग्नि और वायु इन तीनों में किसी की भी गति में थोड़ा सा भी व्यतिक्रम हो जाए तो सारी सृष्टि नष्ट हो सकती है। हवा के बिना सांस

नहीं चलेगी, ताप के बिना भाप नहीं बनेगा, न बादल बनेगा, न बारिश होगी, न अनाज पैदा होगा। सूर्य के बिना किसी को कुछ नहीं दिखाई पड़ेगा। सारी प्रकृति अंधकार और निष्क्रियता में खो जाएगी। इसीलिए इन तीनों शक्तियों का वर्णन करने के बाद भगवान् को धरणीधर कहा गया है। यह धरती खड़ी है तो हमारे बल पर नहीं। इसके पीछे कोई अनिर्वचनीय शक्ति है। उसी शक्ति की अनुकंपा से धरती चल रही है। जिस अदृश्य सत्ता से सारा दृश्यमान जगत् प्रकट हो कर प्रसारित हो रहा है, उसकी प्रसन्न गंभीरता का वर्णन अगले श्लोक में पाया जाता है।

सुप्रसादः प्रसन्नात्मा विश्वधृग् विश्वभुग् विभुः।
सत्कर्ता सत्कृतः साधुर्जह्नुर्नारायणो नरः॥

'सुप्रसाद' बहुत सागरगर्भित नाम है। सद् धातु के साथ 'सु' और 'प्र' को जोड़ने से यह नाम बनता है। सद् का मतलब होता है—बैठना, रहना, जीना, चलना। ये सभी काम किसी प्रबल प्रेरणा से हो रहे हों और ये काम करने वाला व्यक्ति सबके लिए पूज्य हो तो उसको सुप्रसाद कह सकते हैं। चराचर जगत् के ऊपर सबके लिए वंदनीय और आराधनीय बन कर अधिष्ठित दिव्यात्मा ही सुप्रसाद हो सकते हैं। उसका अस्तित्व ही प्रसाद है क्योंकि वह हमेशा प्रसन्न रहता है। जो स्वयं प्रसन्न नहीं है, वह दूसरों को प्रसन्न नहीं बना सकता। हमारे अंदर जो भी गुण होते हैं, उन्हीं का हम प्रचार करते जाते हैं। अगर हमारे अंदर वासना है तो हम उसी वासना की उपासना करते कराते रहेंगे। अगर हम सुप्रसन्न हैं तो सारा संसार हमसे प्रसन्न

हो जाता है। चिता की चिता के बीच में रह कर भी जो आनंद का प्रकाश प्रसारित कर सकता है, वही सुप्रसन्न दिव्यात्मा प्रसन्नात्मा है। कोई भी कार्य आरंभ करने के पहले गणेश की वंदना करते हुए हम कहते हैं "प्रसन्नवदनम् ध्यायेत् सर्वविघ्नोपशांतये।" जब हमारे मुख-मण्डल पर प्रसन्नता छाई रहती है, तब हमारे कार्य में कोई बाधा नहीं पड़ सकती। सारी बाधाएं सफेद बादलों की तरह हट जाती हैं। इसी प्रसन्नता के बल पर सारा संसार चल रहा है और चलाने वाला विश्वंभर है। अगले दो नाम विश्वंभर की इसी विभुता की ओर संकेत करते हैं। विश्व का धारण करने वाला विश्वधृग् है और विश्व का पालन पोषण करने वाला विश्वभुग् है। असल में विश्व का धारण करना और विश्व का पालन पोषण करना विश्वात्मा के दो अलग-अलग काम हैं। पर धरणीधर के नाम से भगवान् का वर्णन करने के बाद यहां पर विश्व के साथ उसी भावना को दोहराने में इसी अंतर को समझने की भावना है। पहले की धरती यहां पर कुछ अधिक व्यापक होकर विश्व बन गई है। धरणी में केवल मिट्टी और पानी और ज्यादा से ज्यादा आग और हवा शामिल हैं जबकि विश्व में सबका मूल तत्व आकाश भी सम्मिलित है। भगवान् न केवल धरती के, बल्कि आकाश के भी, आधार हैं। पृथ्वी और आकाश को मिलाकर दोनों के बीच में सहजीवन घटित करने वाले प्रभु यहां पर इन दो नामों में प्रकट होते हैं। उस प्रभु को विभु कहने में भी एक विशेष आशय है। जो विशेष रूप से आविर्भूत हुए हैं और जो सबसे ऊपर हैं और सबसे पहले हैं, उन्हीं को विभु कहा जाएगा। अतीत, वर्तमान और भविष्य में अनादि काल से अनंतकाल तक अखण्ड विश्व का धारण,

पालन और पोषण करने वाले विश्वात्मा को यहां 'विभु' का नाम दिया गया है।

वह सत्कर्ता हैं—अच्छे काम करने वाले हैं, दूसरे का सत्कार करने वाले हैं, अच्छी तरह काम करने वाले हैं और जो काम करने वाले हैं उनमें अच्छी भावना प्रतिष्ठित करने वाले हैं। यह सारा आशय 'सत्कर्ता' नाम से प्रकट होता है। अगला नाम सत्कृत इसी आशय के तीसरे पहलू को प्रस्तुत करता है। जिनका सत्कार किया जाता है, वह सत्कृत हैं। सारा संसार भगवान् का सम्मान करता है, उन्हीं को संसार का कर्ता, धर्ता और हर्ता समझता है। जब कोई सज्जन आदमी बहुत अच्छा काम करता है तो वह बड़ी विनम्रता के साथ कहते हैं 'प्रभु की कृपा है'। इसलिए हमारे जितने सुकृत हैं, अच्छे काम हैं उनमें भगवान् का ही हाथ है। हमारी उपलब्धि में भगवान् का संकल्प और संबल शामिल है और हमारी निष्क्रियता में भगवान् की पराङ्मुखता है। ये दोनों नाम एक ही आशय के अनुपूरक तत्व हैं। जब हम दूसरों को अच्छी दृष्टि से देखेंगे तभी सब लोग हमें अच्छा समझेंगे। प्यार से प्यार पैदा होता है और घृणा से घृणा। यही रहस्य इन दो नामों में प्रकट होता है। अगला नाम 'साधु' बड़ा सीधा सादा नाम है। भगवान् को साधु कहा गया है। हर काम सीधे ढंग से करने वाला साधु कहा जाता है। जो सीधे सादे नहीं हैं, उनको भी साधु समझने में सच्चे साधु की सात्विकता है। संसार में अनेकों प्राणी हैं—कुछ साधु हैं और कुछ असाधु। पर भगवान् सबको समान रूप से देखता है। वह स्वयं साधु होने के कारण दूसरों को भी सही रास्ते पर ले जाना चाहते हैं।

यह साधु कहां बैठते हैं, इसका विवरण अगले नाम में मिलता है। अगला नाम है जह्नु। 'जह्नु' का मतलब है—कान। हमारे कानों में भगवान् बैठे हैं। कानों के माध्यम से ही अच्छे-अच्छे विचार हमारे मन में पहुँच जाते हैं। जिन बातों की ओर हमारे कान ध्यान देते हैं, उन्हीं में भगवान् विराजमान हैं। मानव शरीर की सभी इंद्रियों में कानों का एक विशेष महत्व है। मन से उनका सीधा संबंध है। वाणी को ग्रहण करने और मन को संपन्न बनाने में कानों की साधना निरंतर चलती रहती है। इसलिए वेदों को 'श्रुति' कहा गया है। कानों के अंदर की जो यंत्र व्यवस्था है, वह बहुत ही रहस्यात्मक है। भगवान् भी इसी प्रकार कहीं किसी कोने में बैठ कर हमारी सभी बातें ध्यान से सुन रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति के अंदर जो कान लगाए गए हैं, उनसे भगवान् के साथ सीधा संपर्क है। जैसे टैलीफोन में एक जगह से दूसरी जगह बातें पहुंचती हैं, वैसे ही सभी प्राणियों के कानों के तार से भगवान् के कान गुथे हुए हैं। असल में नर ही नारायण है। नारायण कहीं एकांत प्रांत में नहीं रहता है। प्रत्येक व्यक्ति के अंदर रहता है। यही नारायण नर का रूप धारण कर आता है। अगले दोनों नाम—नारायण और नर—इसी विचार को प्रकट करते हैं। नारायण शब्द की कई व्याख्याएं की गई हैं। नर में जो शक्ति है, उसी को नार कहा जाता है। उस शक्ति का जो केन्द्र या अयन है, उसी को नारायण या नर की भावना का मूल स्रोत समझना चाहिए। जिस मनुष्य की शक्ति लोक-कल्याण के काम में नहीं आती है, वह केवल नर ही रहता है। इसके विपरीत जिस मनुष्य की शक्ति सारी मनुष्यता को अपनी आराधना का ध्येय बनाती है, वह मानव होते हुए भी माधव का रूप धारण

करता है। वह नर होते हुए भी नारायण बनता है।

नर और नारायण के तात्विक अभेद को स्पष्ट करने के बाद नर में नारायण के लक्षण कैसे आ सकते हैं और सिद्धार्थ की अनिर्वचनीय अनुकंपा से सामान्य साधक भी सिद्धि को कैसे प्राप्त कर सकते हैं, यह बात अगले श्लोक में समझाई जाती है।

"असंख्येयोऽप्रमेयात्मा विशिष्टः शिष्टकृत्-शुचिः।
सिद्धार्थः सिद्ध संकल्पः सिद्धिदः सिद्धि साधनः" ॥

संख्या शब्द गणना और परिमिति का सूचक है। परमात्मा इस संख्या की सीमा में समाए नहीं जा सकते हैं। उनके अनेक नाम है, अनेक गुण हैं, अनेक लक्षण हैं और अनेक कार्य हैं। उनकी रूप रेखा को संख्या में आबद्ध करना संभव नहीं है। इसलिए उनका नाम असंख्येय है। जो स्पष्ट रूप से कहा नहीं जा सके, उसी को असंख्येय कहते हैं।

सर्वात्मा के असंख्य लक्षणों को निरूपित करने में जैसे सभी संख्या वाचक असमर्थ बनते हैं, उसी प्रकार सभी परिमाण वाचक भी असफल हो जाते हैं। इसलिए उनको अप्रमेय कहा गया है। जीवात्मा संख्या और परिमाण के माप तौल में आ जाता है, पर परमात्मा इन प्रमेयों के अधीन नहीं हैं। अतः 'अप्रमेयात्मा' उनका सही बोध कराने वाला दिव्य नाम है।

यही भगवान् की विशिष्टता है। सामान्य व्यक्तियों से उनको अलग करने वाली यही विशेषता है। 'शिष्ट' शब्द का एक दूसरा अर्थ भी है—शालीनता, नियत आचरण।

भगवान् सामान्य शिष्ट ही नहीं हैं, बल्कि विशिष्ट हैं। स्वयं शिष्ट हैं और दूसरों को भी शिष्ट बनाते हैं। इसीलिए उनको 'शिष्टकृत्' कहा गया है। दूसरों को शिष्ट बनाने का काम वही लोग कर सकते हैं जो शुद्धात्मा हैं। जो लोग स्वयं पवित्र हों, वही दूसरों को पवित्र बना सकते हैं। परमात्मा की शिष्टता और पवित्रता लोक कल्याण के लिए है। परमात्मा की पावनता को प्रकट करने के लिए यहां पर 'शुचि' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'शुचि' शब्द का एक और अर्थ है—पावक, अग्नि। पावक जैसे पावन परमात्मा की परम रमणीयता को प्रकट करने वाला यह 'शुचि' नाम गीता के आद्यंत अक्षर वैभव का सूचक है। 'अशोच्य' शब्द से आरंभ होकर 'माशुचः' से पर्यवसित होने वाला गीतामृत इसी 'शुचिता' या अशोकता को अग-जग में भर देता है। जब सारी लौकिक वासनाएं सूख जाती हैं, तब अंदर का रस आत्मा को आनंद प्रदान करता है।

इस महनीयता के पीछे भगवान् का जो सिद्ध स्वरूप काम करता है, उसका विवरण अगले चार नामों में मिलता है। सिद्धार्थ इनमें सबसे पहला नाम है। भगवान् बुद्ध भी सिद्धार्थ कहलाते थे। महाभारत के समय बौद्ध धर्म का प्रचार नहीं था, अस्तित्व भी नहीं था। फिर भी दूरदर्शी महात्मा भीष्म के मुंह से भगवान् व्यास ने सिद्धार्थ की रूप रेखा प्रस्तुत कराई है। 'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोनुधावति'—यहां चरितार्थ होता है। जिनके अभीष्ट या अपेक्षित अर्थ सिद्ध हो चुके हैं, उनको सिद्धार्थ कहा जाता है। साधना की अवस्था को पार कर सिद्ध की चरम दशा पर पहुँचे हुए महात्मा सिद्धार्थ कहलाते हैं। परमात्मा इन सिद्धार्थों के

शिरोमणि हैं। परमात्मा की अपनी कोई आकांक्षा नहीं होती है। चराचर जगत् के जीवजन्तुओं की अभिलाषाओं को पूरा करना ही उनका एकमात्र ध्येय है। उनके संकल्प मात्र से सब कुछ सिद्ध हो जाता है। इसलिए उनको कुछ प्रयत्न करना नहीं पड़ता है। प्रभु का संकल्प ही सभी सिद्धियों का मूल है।

अगला नाम 'सिद्धिद' भगवान् की वदान्यता, दानशीलता या उदारता को प्रकट करता है। वह सबको उनकी योग्यता के अनुसार सिद्धि प्रदान करते हैं। यह काम कैसे होता है, यह बात इस श्लोक के अंतिम नाम 'सिद्धिसाधन' में स्पष्ट होती है। सिद्धि के साधन भगवान् की प्रेरणा से ही प्राप्त होते हैं। हम समझते हैं कि हम अपने पुरुषार्थ के बल पर विभिन्न साधनों को एकत्रित कर रहे हैं, पर यह बात भूल जाते हैं कि वस्तु, व्यक्ति और घटना के रूप में हमारे साधना-पथ में जो साधन प्रस्तुत हो जाते हैं, वे सबके सब सिद्धार्थ के सिद्ध संकल्प से प्राप्त होते हैं। भगवान् कभी मनुष्य के रूप में, कभी परिवेश के रूप में और कभी घटनाक्रम के रूप में हमारे सामने प्रत्यक्ष होते हैं और हमें सही रास्ते पर ले जाते हैं।

—०—

१५. वर्द्धमान वसु

दया और प्रेम मानव की दो मंगलमय विभूतियां हैं। दया-सिन्धु भगवान् की दया वर्षा की तरह बरसती है तो उनका प्रेम प्रकाश की तरह फैल जाता है। अंतरतम परमपुरुष की ये दोनों विभूतियां—दया और प्रेम—बाह्य प्रकृति में वर्षा और प्रकाश के रूप में प्रकट होती हैं। 'वृष' शब्द में इसी वर्षा की ओर संकेत है जब कि वृषभ शब्द वर्षा और प्रकाश दोनों को व्यंजित करता है। इन्हीं दो विभूतियों के माध्यम से संसार के कोने-कोने में व्याप्त परमात्मा को 'विष्णु' कहा जाता है। भगवान् विष्णु की इन्हीं दो विभूतियों का सुन्दर वर्णन नीचे के श्लोक में प्रस्तुत है।

वृषाही वृषभो विष्णुर्वृषपर्वा वृषोदरः।
वर्द्धनो वर्द्धमानश्च विविक्तः श्रुतिसागरः ॥

भगवान् को 'वृषाही' कहा गया है। यह बहुत विचित्र नाम है। 'वृष' वर्षा का द्योतक होने के कारण भगवान् की दया का प्रतीक है। 'वृष' शब्द प्रायः धर्म के अर्थ में भी आता है। इसके पहले इसी प्रकार के तीन नाम आये हैं—वृषाकपि, वृषकर्मा और वृषाकृति और आगे चलकर एक जगह केवल 'वृष' शब्द ही भगवान् का वाचक बताया गया

है। भगवान् की इसी वर्षिष्णुता और वर्द्धिष्णुता को यहां दोहराया जा रहा है। 'वृषाही' नाम में दो शब्दों का संयोग है—वृष और अहस्। अहस् का अर्थ है—दिन। अतः 'वृषाही' का अर्थ यह लगाया जा सकता है कि जिस दिन धर्म की आराधना हो, भगवान् का नाम लिया जाए, सत्संग का सेवन किया जाए और अच्छे विचारों से मन को संपन्न बना लिया जाए, वही दिन सच्चे अर्थों में अच्छा दिन है और बाकी दिन दुर्दिन हैं। प्रायः लौकिक व्यवहार में जिस दिन बादल छा जाते हैं, वर्षा होती है और सूर्य के दर्शन नहीं होते, उसको दुर्दिन कहा जाता है। भगवान् के स्मरण, मनन और ध्यान में पुलकित होकर जब आंखों से आनन्द और तत्परता के आंसू बहते हैं—वे शोक के सूचक नहीं होते, बल्कि एक लोकोत्तर विशोका भूमिका के सूचक होते हैं। ऐसे दिन भगवान् की कृपा से ही आते हैं। 'राम कृपा विनु सुलभ न साई' वाली बात बिलकुल सही है। सच्चे धार्मिक चिन्तन में, पवित्र आचरण में और ऊर्जस्वित वाणी में, जो दिन व्यतीत होते हैं, उनके स्रष्टा होने के कारण भगवान् को 'वृषाही' कहा गया है। कभी-कभी सत्संग में बीतने वाले सात दिन को हम सप्ताह कहते हैं—जैसे नाम सप्ताह, राम सप्ताह आदि। इसी तरह वृषाह भी एक धार्मिक अनुष्ठान का सूचक है और वृषाही भगवान् इसका संधाता है।

इस श्लोक का अगला नाम है—'वृषभ'। वृषभ का लौकिक अर्थ होता है—बैल। परमेश्वर का वाहन नन्दी वृषभ ही है। प्रायः वृषभ को धर्म का प्रतीक माना जाता है। वृषोत्सर्जन आदि धार्मिक आचरण इसी तथ्य की पुष्टि

करते हैं। पर वृषभ शब्द का अपने में एक विशिष्ट अर्थ है। 'वृष' में वर्षा और 'भ' में प्रकाश व्यंजित होते हैं। धर्म का प्रकाश वृषभ शब्द का व्यंजित अर्थ है। महाकवि वाल्मीकि अपनी रामायण की भूमिका में कहते हैं कि जो रामायण का पठन-पाठन करते हैं, उनकी वाणी वृषभ की सी वाणी हो जाएगी। वैसे बैल की वाणी में गंभीरता, स्पष्टता, निर्मलता और निरीहता होती है। ये सभी गुण वृषभ शब्द में भी हैं। अगर कोई धर्मात्मा एकांत में अपनी साधना में तल्लीन हो तो संसार को उस तपस्या से कोई विशेष लाभ नहीं मिलता। लेकिन जब उनका धर्म प्रकाश बनकर सारे संसार को आलोकित करने लगता है तो वह सार्थक बन जाता है। धर्म से दया निकलती है, दया से प्रेम उत्पन्न होता है और प्रेम से प्रकाश मिलता है। इसी प्रकार एकांत धर्म को संसार के कोने-कोने में पहुंचा कर उसके साथ-साथ स्वयं पहुंचने वाले भगवान् को विष्णु के नाम से जाना जाता है।

यही 'विष्णु' इस श्लोक का तीसरा नाम है। वैसे सहस्रनाम का दूसरा नाम विष्णु है और सबसे पहला नाम 'विश्व' है। विश्व ही विष्णु हैं, संसार ही सर्वस्व है, जनता ही जनार्दन है। दोनों अलग-अलग नहीं हैं। जहां धर्म है, वहां भगवान् है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए धर्म सूचक वृष शब्द का यहां पर चार नामों में प्रयोग किया गया है और बीच में भगवान् विष्णु को स्थापित कर दिया गया है।

अगला नाम 'वृषपर्वा' है। किसी भी त्यौहार को पर्व

कहते हैं। यह विशिष्ट दिन आनंद का समय होता है। भगवान् के लिए धर्म ही त्यौहार है। जिस दिन मानव का हृदय दया से आर्द्र बन जाता है और उसकी वाणी अमृत की वर्षा करती है वही पर्व दिन है, आनन्द का समय है। इसलिए भगवान् को 'वृषपर्वा' कहा गया है। इसी बात को दूसरे ढंग से कहते हुए भगवान् को 'वृषोदर' भी कहा गया है। भगवान् के अंदर धर्म ही धर्म छिपा हुआ है। धर्म के वह मूल स्रोत हैं। कई जगह पर भगवान् को हिरण्यगर्भ कहा गया है जिसका मतलब है भगवान् के गर्भ में सोना है। यहां पर भगवान् को 'वृषोदर' कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान् के अंदर जो स्वर्ण है, वह धर्म का ही स्वर्ण है। धार्मिक वर्षा ही उनकी संपत्ति है। किसी भी कोने से भगवान् को हम देखें, धर्म के सिवा और कोई चीज़ दिखाई नहीं देगी। भगवान् राम स्वयं कहते हैं कि धर्म में ही सत्य की प्रतिष्ठा है (धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्)। असल में वे धर्म के मूर्त रूप है (रामो विग्रहवान् धर्मः)। ध्यान देने की बात है कि राम के इस धार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार तपस्वी वाल्मीकि ने मारीच जैसे साधक को कराया।

इसी धर्म के बल पर परमात्मा स्वयं बढ़ते है और दूसरों को बढ़ावा देते हैं। उनकी वृद्धि अपने लिए नहीं, बल्कि दूसरों के लिए है। इसलिए वर्द्धन और वर्द्धमान दोनों नाम साथ-साथ दिए गए हैं। दूसरों की वृद्धि में सहायक होने वाला वर्द्धन है और स्वयं वृद्धि को प्राप्त करने वाला और निरन्तर बढ़ते रहने वाला वर्द्धमान है। ये दोनों गुण भगवान् में हैं। लेकिन वे एकदम अलग रहते हैं—सेवा-शुश्रुषा से, सारे

संसार से, संसार के प्राणियों से और समस्त चेतना से। भौतिक दृष्टि से वे संसार के किसी भी कण में दिखाई नहीं देते हैं, पर कण-कण के अंदर समाविष्ट होकर भी उससे वे अलग विद्यमान होते हैं। इसलिए उनको 'विविक्त' कहा गया है। विवेक से साध्य होने के कारण भी वे विविक्त हैं। फिर उनका पता कैसे चले, यह प्रश्न सहज ही उठता है। इस प्रश्न का जवाब देता है—इस श्लोक का अंतिम नाम 'श्रुतिसागर'। वह श्रुतियों का समुद्र हैं। जैसे सारी नदियां समुद्र में पहुँच जाती हैं, उसी प्रकार सारी श्रुतियां समस्त गुण, सारे शास्त्र, वेद, पुराण, निगम, आगम उन्हीं के अंदर समा जाते हैं। 'श्रुति' के माध्यम से उनके यहां तक हम पहुँच पाते हैं। जितनी अच्छी-अच्छी बातें हम सुन लेते हैं, उन्हीं के सहारे भगवान् का गुणगान किया जाता है। यही श्रुति या श्रवण सारी साधना का आधार है। कीर्तन, स्मरण, सेवन, अर्चना, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन इसी श्रवण पर आधारित हैं। श्रुतिसागर भगवान् सारी श्रुतियों के निधान और निदान दोनों हैं। भगवान् को सागर ठीक ही कहा गया है। इस सागर में कीमती रत्न भी होते हैं और भयंकर जीव-जन्तु भी होते हैं। जिस भाव से हम भगवान् को देखेंगे, उसी के अनुसार हमको अच्छा या बुरा फल प्राप्त होता है। जो धर्म कीं रक्षा करता है धर्म उसकी रक्षा करता है। (धर्मो रक्षति रक्षित:)। यही बात धर्म परायण भगवान् के संबंध में भी सही है।

भगवान् की धर्मपरायणता का विस्तार से वर्णन करने के बाद अगले श्लोक में उनके अप्राकृत पराक्रम का वर्णन किया जाता है।

"सुभुजो दुर्धरो वाग्मी महेंद्रो वसुदो वसुः ।
नैकरूपो बृहद्रूपः शिपिविष्टः प्रकाशनः ।।"

पहला नाम 'सुभुज' भगवान् के पराक्रम का द्योतक है। जिनकी भुजाएं पूज्य या वंदनीय हों और जिन भुजाओं के पराक्रम से संसार का उद्धार होता हो, उनको 'सुभुज' कहने में औचित्य है। प्रायः भगवान् विष्णु को चतुर्भुज कहा जाता है। उनकी चार भुजाएं मानी जाती हैं जिनमें शंख, चक्र, गदा, पद्म होते हैं। पर इस नाम में भुजाओं की संख्या नहीं बताई गई है, बल्कि उनकी विशेषता बताई गई है। वे पूजनीय हैं। इसी पूजनीयता के द्योतक उपसर्ग 'सु' का यहां प्रयोग किया गया है। उनकी संख्या सीमित नहीं की गई है। वे 'अनंतभुज' भी हो सकते हैं, जैसे कबीर ने कहा था। कबीर अनंतभुज भगवान् की आराधना करना चाहते थे। इस नाम में भी इसी अनंतभुज की वन्दनीयता का वर्णन है।

दूसरा नाम है—'दुर्धर'। भगवान् को कोई धारण नहीं कर सकता क्योंकि वे सबका धारण करते हैं। जो अपनी भुजा के ऊपर सारी धरती का भार वहन करते हैं, उन्हें धारण करना किसी व्यक्ति के लिए संभव नहीं है। लेकिन यह एकदम असंभव भी नहीं है। ध्यान, साधना, संयम और सबसे बढ़कर भक्ति भावना के सहारे भक्त भगवान् को वश में कर लेते हैं। इसीलिए वे 'दुर्धर' कहे गए हैं। साधना का यह मार्ग बड़ा कठिन है। उनके यहां तक पहुंचने के लिए या उनको अपने अंदर देखने के लिए जो सबसे अमोघ साधन है, वह है—वाणी। वाणी में जो शक्ति है, वह साधक को सारी संपत्ति प्रदान करती है।

यही बात अगले नाम 'वाग्मी' में स्पष्ट की गई है। वाणी के द्वारा भगवान् का मापन किया जा सकता है क्योंकि वे वाणी में बसते हैं। यहां पर जिस वाणी की ओर संकेत है, वह केवल विचार-विनियम का साधन नहीं है, बल्कि विचार-विनियम का विविक्त स्रोत है। यह सच है कि वाणी और मन के सहारे भगवान् तक हम पहुँच नहीं पाते। लेकिन उनका आभास प्राप्त करने के लिए ये दोनों साधन काफी सहायक होते हैं। अपरिमेय पराक्रम और असाधारण शौर्य से युक्त भगवान् को अपनाने के लिए वाणी और मन कैसे साथ दे सकते हैं, यह 'वाग्मी' शब्द स्पष्ट कर देता है।

अगले नाम में भगवान् को 'महेन्द्र' कहा गया है। इंद्र देवताओं के स्वामी हैं और भगवान् उनके भी स्वामी हैं। मनुष्य की सारी इंद्रियां किसी विशिष्ट शक्ति से संपन्न होती हैं, पर परमचेता भगवान् की प्रेरणा से ही इन इंद्रियों में चेतना आ जाती है। वाणी, मन, श्रवण, नयन आदि को बोलने, सोचने, सुनने और देखने की शक्ति प्रदान करने वाले भगवान् को महेन्द्र कहा गया है। देवेश इंद्र दूसरों से लेने में बहुत चतुर हैं, पर भगवान् महेन्द्र लेते कुछ नहीं, पर देते सब कुछ हैं।

यही बात अगले नाम 'वसु' में स्पष्ट हो जाती है। वसु का मतलब है ऐश्वर्य या संपत्ति। खाने, पीने, रहने आदि के लिए आवश्यक सुविधाएं इस वसु के अंतर्गत आती हैं जो हमें भगवान् की कृपा से मिलती हैं। इसलिए उनका नाम 'वसुद' है। अगला नाम 'वसु' इसी से संबद्ध है।

भगवान् हमें संपत्ति देने वाले ही नहीं हैं, बल्कि वे स्वयं संपत्ति हैं। वे सबके अंदर रहते हैं और सब उनके अंदर रहते हैं। अन्न भी भगवान् है, अन्न खाने वाला भी भगवान् है और अन्न देने वाला भी भगवान् है। इसीलिए उनका कोई एक रूप नहीं है, अनेक रूप हैं। अगला नाम 'नैकरूप' इसी भावना को प्रकट करता है। वैसे तो वह एक ही है, पर उनमें अनेक रूप समाविष्ट हैं। इतने असंख्य रूपों को अपने में समाविष्ट करने की वजह से उनका विराट् रूप बन जाता है जिसको अगले नाम में 'बृहद्रूप' कहा गया है। कई रूपों में इस विराट् पुरुष के दर्शन हम कर सकते हैं—आकाश में, धरती में, मनुष्य में, वृक्ष में, हवा में, पानी में और प्रकाश में। संसार का कोई भी स्थान ऐसा नहीं है जहां पर उनका प्रवेश नहीं हुआ हो। विशेष रूप से प्रकाश की किरणों में उनका रूप देखा जा सकता है। प्रकाश के साथ उनकी यह तदात्मता 'शिपिविष्ट' नाम से स्पष्ट होती है। 'शि' जल का द्योतक है। जल की रक्षा करने वाला 'शिपि' प्रकाश का प्रतीक है। प्रकाश की किरण को 'शिपि' कहा जाता है। अतः शिपिविष्ट का मतलब निकलता है—प्रकाश की तरंगों में प्रविष्ट। जहां प्रकाश दिखाई देता है, वहां समझना चाहिए कि प्रकाश की तरंगों के रूप में भगवान् का स्वरूप ही प्रकट हो रहा है। असल में उन्हीं के अस्तित्व से वस्तुओं का प्रकाशन होता है, क्योंकि वही ज्योति का मूल स्रोत है। सबको प्रकाश में लाने वाला यहां 'प्रकाशन' कहा गया है। यह प्रकाश कहां-कहां किस रूप में हमें दिखाई देता है यह अगले श्लोक में स्पष्ट किया गया है।

"ओजस्तेजोद्युतिधरः प्रकाशात्मा प्रतापनः ।
ऋद्धः स्पष्टाक्षरो मंत्रः चंद्रांशुर्भास्करद्युतिः ॥"

प्रकाशात्मा के ओज, तेज और द्युति के वैभव का इस श्लोक में बहुत ही हृदयग्राही वर्णन है। जीवात्मा में जो प्रकाश है, वह परमात्मा के प्रकाश का प्रतिरूप ही होता है। यह प्रकाश प्रापंचिक प्राणी के जीवन में तीन प्रमुख रूपों में दिखाई देता है—ओज, तेज और द्युति । पहला रूप शारीरिक है, दूसरा मानसिक और तीसरा आध्यात्मिक । शरीर की जो शोभा या वर्चस्विता होती है, उसी को ओज कहा जाता है। बाहर से प्रकट होने वाली इसी कांति-धारा के पीछे एक और तेजस्विता विराजमान होती है जिसका संबंध बाहरी दुनियां की अपेक्षा भीतरी दुनियां से अधिक होता है। मानव का बाह्य जगत् जितना आकर्षक और वास्तविक दिखाई देता है, उससे भी अधिक आकर्षक और वास्तविक होता है—उसका अंतर्जगत् जिसका आभास हमें स्वप्नलोक में मिलता है। जागृति की अवस्था में नर का वैश्वानर रूप प्रकट होता है तो स्वप्न की दशा में उसका तैजस रूप अपनी रंग-बिरंगी छटा के साथ एक विविक्त संसार का सृजन करता है। इसमें स्थूल शरीर की कोई भूमिका नहीं होती। जब आदमी सोता है तब उसका सूक्ष्म शरीर सक्रिय होने लगता है। बाह्य जगत् की सारी सत्ता को वह अपने अंदर अपने ढंग से और अपने आनंद के लिए समा लेता है। यही व्यक्ति का तैजस रूप है। इन दोनों से परे भी मानव मन की एक महती भूमिका है जहां पर व्यक्ति का स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दोनों मौन हो जाते हैं और उनकी जगह पर कारण शरीर स्पंदनशील बन जाता है। यही सुषुप्ति का

सूक्ष्म जगत् है जहां पर जीवात्मा परमात्मा के निकट से निकट उस बिन्दु तक पहुंच जाता है जिससे आगे न कोई रास्ता होता है और न किसी से कोई वास्ता होता है। इसी सूक्ष्म जगत् में प्रकाशात्मा के अंश स्वरूप जो प्रकाश फैल जाता है, उसी को द्युति कहा जाता है। 'द्यु' का मतलब है—आकाश या अंतरिक्ष या शून्य। यही शून्य उत्कृष्ट प्रकाश का केन्द्र है जिसको पहुंचे हुए लोग पूर्ण समझते हैं। असल में शून्य और पूर्ण में कोई तात्विक अंतर नहीं होता, अंतर केवल दृष्टि का है। परमात्मा का प्रकाश इस परिपूर्णता तक हमें ले जाता है। प्रारंभ में बाह्य जगत् का चंचल प्रकाश क्षणभंगुर प्राणी को परमात्मा के अखण्ड प्रकाश का आभास देता है। धीरे-धीरे यही ओजस्विता मानसिक धरातल पर मनस्वी को तेजस्विता प्रदान करती है। अंत में ये ओज और तेज दोनों परिष्कृत, परिमार्जित और परिणत होकर द्युति का रूप धारण करते हैं। पर याद रखना चाहिए कि प्रकाश के ये तीनों रूप—ओज, तेज और द्युतिपरकात्मा के वरदान हैं। प्रभु के संकल्प से ही यह तीन प्रकार का प्रकाश समस्त प्राणियों को आलोक या चेतना से अनुप्राणित करता है। इसीलिए भगवान् को यहां 'ओजस्तेजोद्युतिधर' कहा गया है। कुछ लोग इसको तीन अलग-अलग नाम मानते हैं। 'तेजस्तेजस्विनामहम्' वाला गीतावाक्य भी इस प्रकार की धारणा का कारण रहा होगा। पर वास्तविकता इन तीनों को संश्लिष्ट रूप में देखने की ओर प्रेरित करती है क्योंकि इसके बाद जो नाम आ रहा है, उसमें प्रकाश के इन तीनों रूपों का सुन्दर समन्वय है। यह नाम है—'प्रकाशात्मा'।

परमात्मा की आत्मा प्रकाशमय है, आलोकपूर्ण है, कांति

की किरणों से समाकलित है। ध्यान देने की बात यह है कि पहले नाम में प्रकाश के जो तीन रूप बताए गए हैं, उन सबसे परे और सबके मूल स्रोत के रूप में जो स्वप्रकाश है, वही इस 'प्रकाशात्मा' नाम में व्यंजित है। जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति के मूल में आत्मा की जो तुरीय या चौथी अवस्था है, प्रकाश के क्षेत्र में लगभग वही अवस्था इस नाम में व्यंजित है। परमात्मा केवल प्रकाश के रूप में ही परिलक्षित होते हैं, यह बात इस नाम से स्पष्ट हो जाती है।

अगला नाम है—'प्रतापन'। तापन प्रकाश का ही दूसरा रूप है। दीप से प्रकाश मिलता है और उसको छूने से हाथ जल भी जाता है। यही परमात्मा के प्रकाश का भी स्वभाव है। आत्मा के आलोक में प्रकाशन शक्ति भी है और प्रतापन शक्ति भी। प्रकाशपुंज भगवान् भास्कर में भी यही बात है। सूर्य की किरणों में जलाने की शक्ति भी है और जिलाने की भी। जिस रूप में जिस मात्रा में और जिस भावना के साथ उनका सेवन किया जाए, वैसा ही फल मिलेगा।

दूसरी पंक्ति का जो पहला नाम है, वह भी इस प्रकाश की प्रकृति को स्पष्ट करने वाला है। यह नाम है—'ऋद्ध'। किसी चीज के बढ़ने को वृद्धि या ऋद्धि कहा जाता है और जो बढ़े हुए हैं, उनको ऋद्ध कहा जाएगा। भगवान् का प्रकाश इतना बढ़ा हुआ है, ऋद्ध है कि वह कभी क्षीण नहीं होता। सूर्य हमें रोज प्रकाश देते हैं, फिर भी उनके प्रकाश का कोश कभी घटता नहीं। वह अक्षय भण्डार है। प्रकाश

के स्वभाव में ही यह बात है। दूसरों को देने से वह बढ़ता है, घटता नहीं। दीप से दीप जलता है, पर जलाने वाला दीप बुझता नहीं। यही भगवान् की ऋद्धि की विशेषता है। वह बढ़ते ही जाते हैं, दूसरों को बढ़ाते हैं और कभी नहीं घटते। यही उनका स्वभाव है।

यह चिर वर्द्धमान भगवान् कहां किस रूप में प्रकट होते हैं, इस बात को अगले दो नाम 'स्पष्टाक्षर' और 'मंत्र' स्पष्ट करते हैं। स्पष्ट रूप से उच्चरित होने वाले अक्षर में भगवान् रहते हैं। अक्षर तभी स्पष्ट होता है जब सुनने वालों के सुनने में वह ठीक-ठीक आ जाए। ज़ब हम बोलते हैं तो हमारे अंदर सूक्ष्म रूप से पहले एक ध्वनि उत्पन्न होती है। आरंभ की दशा में वह मूलाधार के पास नाभि के निकट 'परा' वाक् के रूप में प्रकट होती है। धीरे-धीरे वही आवाज़ 'पश्यंती' का रूप धारण करती है। वही फिर 'मध्यमा' के रूप में विकसित होती है और अंत में वह 'वैखरी' के रूप में प्रकट होती है। इन चार दशाओं को पार कर जब व्यक्ति की आवाज बाहर पहुंचती है तो लगभग उसी क्रम से वह सुनने वालों के अंदर भी पहुंच जाती है। वक्ता और श्रोता के बीच में यही चतुरात्मा वाक् संधि का काम करती है। इस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों के बीच में संधान पैदा करने वाले अक्षर जितने स्पष्ट हों, अक्षर परब्रह्म भगवान् का उतना प्रकट रूप वहां दिखाई देता है। हृदय से हृदय को छू लेने वाले अक्षर ही स्पष्टाक्षर होते हैं और इन्हीं में भगवान् विद्यमान हैं।

इसी को प्राय: हम मंत्र कहते हैं। मंत्र भी भगवान् हैं।

मंत्र के द्वारा हम भगवान् तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं और मंत्र मनन के साधन हैं। इसीलिए कहा गया है—'मंत्राधीनं तु देवतम्' (भगवान् मंत्र के अधीन हैं)। यहां पर भगवान् को मंत्र ही कहा गया है। मंत्र के द्वारा प्राप्त होने वाले साध्य भी वही हैं और उसके साधन भी वही हैं। हम किसी मंत्र का जप करते हैं तो समझना चाहिए कि भगवान् के साथ हम बात कर रहे हैं। अगर इस भावना से मंत्र का जप होता है तो मंत्र जप से किसी विशेष फल को चाहने की इच्छा भी नहीं रहती है। वह अपने में एक उपलब्धि है। ऊपर प्रकाश का जो विवेचन किया गया है उसमें हमने देखा कि प्रकाश कभी शारीरिक होता है कभी मानसिक और कभी आध्यात्मिक। मंत्र शब्द में प्रकाश के मानसिक रूप की ओर संकेत है। मन को प्रकाशित करने वाला साधन है—मंत्र। स्पष्टाक्षर शब्द में प्रकाश के प्रकट रूप की ओर संकेत है जब कि मंत्र शब्द में उसके आंतरिक वैभव का उद्घाटन है।

यही प्रकाश बाहर और भीतर भी है। जीवात्मा और परमात्मा में वह एक ही प्रकाश विद्यमान है और वही प्रकाश सूर्य और चन्द्रमा में भी है। प्रकाश के इसी विराट् रूप की ओर हमें अगले दो नाम ले जाते हैं। पहला है—'चन्द्रांशु' और दूसरा है—भास्करद्युति'। चन्द्र की किरणों में और सूर्य के प्रकाश में यही आलोक छाया हुआ है। चन्द्र की किरणें शीतल होती हैं और सूर्य का प्रकाश प्रखर होता है। पर दोनों एक ही मूल स्रोत से निकले हुए हैं। चन्द्रलोक से हमें जो आलोक मिलता है, उसमें शीतलता होती है। ऐसा लगता है कि अमृत की वर्षा हो रही है। सारा संसार

चान्दनी की सुहावनी छाया में संसार के समस्त सुख-दुख को भूलकर सो जाता है। पर जैसे ही सूर्य का उदय होता है, सारी सृष्टि जग जाती है और निष्क्रिय चेतना सक्रिय बन जाती है। जैसे-जैसे दिन बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे आदमी अपने को सबल, समृद्ध और संपन्न बनाने का प्रयास करता है। प्रकाश के एक ही मूल स्रोत के दो रूप व्यक्तियों को कभी प्रवृत्ति की ओर और कभी निवृत्ति की ओर प्रेरित करते हैं। यह प्रकाश की लीला है। यह लीला जहां से निकली है, वह मूल स्रोत बड़ा विचित्र और विराट् है। इसी का गुणगान इस श्लोक के आठ नाम करते हैं। यह प्रकाश के आठ ऐश्वर्यों की अमर कहानी है।

—०—

१६. पवन पावन भावना

अक्षर परब्रह्म के अखंड प्रकाश का विश्लेषण करने के बाद आचार्य भीष्म भगवान् के कुछ और नाम सुनाते हुए उस प्रकाश के प्रभव और प्रभाव की प्रेरणाप्रद व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

"अमृतांशूद्भवो भानुः शशबिंदुः सुरेश्वरः ।
औषधं जगतः सेतुः सत्यधर्मपराक्रमः ॥"३१॥

अमृत किरणों की नित्य नूतन और चिर रमणीय शोभा से विराजमान होने वाले चंद्रमा की उत्पत्ति जहां से हुई है, वही भगवान् का अवस्थान है। क्षीर सागर के मथन से चंद्रमा प्रकट हुआ है और वही क्षीर सागर परमात्मा का आगर है। यहां पर चंद्रमा को अमृतांशु या अमृत किरण वाला कहने में कुछ विशेष अभिप्राय है। चंद्रमा की किरणें कभी नहीं मिटती हैं, घटती-बढ़ती जरूर हैं, पर अमृत तत्व से ओतप्रोत होने के कारण वे अक्षीण हैं। हर महीने में एक बार पूर्ण चंद्र का दर्शन होता है। अमावास्या पर पूर्णिमा की प्रतिमास विजय होती है। संसार भी इसी प्रकार अविनश्वर है। 'पूर्णमदः पूर्णमिदं' वाला श्रुति वाक्य यहां पर याद रखने लायक है। पूर्ण से उत्पन्न कोई भी तत्व पूर्ण ही होता है। पूर्ण चंद्र का

उदय किसी परिपूर्ण तत्व से ही संभव है। इसीलिए कलाप्रपूर्ण परमात्मा को यहां पर सोलह कलाओं से पूर्ण चंद्रमा का उद्गम कहा गया है। इस दृष्टि से देखने पर 'अमृतांशूद्भव' नाम में एक अक्षर भी फालतू नहीं है। यह स्पष्टाक्षर मांत्रिक महनीयता का द्योतक है।

अगला नाम 'भानु' संक्षिप्त और सारगर्भित है। एक प्रकार से भानु या सूर्य को अमृतांशु या चंद्रमा का प्रकाश स्रोत माना जा सकता है। सूर्य का प्रकाश ही चंद्रमा में चांदनी बनकर प्रतिबिंबित होता है। वैसे 'भानु' शब्द 'भा'—(प्रकाशित होना) धातु से निकलता है। जो कुछ प्रकाशित होता है या जिससे प्रकाश मिलता है, वह 'भानु' कहा जा सकता है। प्रकाश के प्रकाश परमात्मा की स्वयंप्रकाशिता के बारे में श्रुति कहती है—"तमेव भांतमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।" (उसी के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित होता है और उसी की चमक से सारा संसार चमक उठता है।) इस प्रकार 'भानु' नाम में परमात्मा को प्रकाश के मूल स्रोत के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

'शशबिंदु' नाम इससे भी अधिक मार्मिक सत्य का उद्घाटन करता है। चंद्रमा को शशि कहा जाता है, क्योंकि उनके अंदर एक लांछन है, जो शश या खरगोश के आकार का है। जनश्रुति में इसे चंद्रमा का कलंक भी कहा जाता है। यह कलंक हो या न हो, पर चंद्रमा का अंक जरूर है क्योंकि इसके बिना पूर्ण चंद्र का भी दर्शन नहीं होता। इस प्रकार चंद्रमा को एक विशिष्ट और स्पष्ट व्यक्तित्व प्रदान करने वाला यह हुलिया 'शश' भगवान् की स्थिति को प्रकट करने

वाला 'बिंदु' है। चंद्रमा को आधार बनाकर यहां जो बात कही गई है, वही सूर्य, अग्नि और प्रत्येक प्रकाश पुंज के संबंध में ठीक है। हर प्रकाश्य वस्तु में प्रकाश के प्रेरक और कारक के रूप में विराजमान सूक्ष्म बिंदु ही भगवान् है। ध्यान देने की बात है कि यहां पर 'श' कार दुहराया गया है और 'श' ऊष्म ध्वनि है। श, ष और स—तीनों में यह ऊष्मा है। पर 'श' कार में सकार की सरलता और 'ष' कार की परुषता के बीच की शालीनता है और बिंदु के संयोग से इसमें परिपूर्णता भी आ जाती है। रकार का ताप और ई कार का ऐश्वर्य भी इसमें आ जाए तो कहना ही क्या है! साक्षात् श्रीदेवी प्रत्यक्ष हो जाती है। चंद्र, सूर्य और अग्नि से शान्ति, कान्ति और दीप्ति के रूप में विराजमान परमेश्वरी की ओर यह 'शशबिंदु' नाम बड़ा सूक्ष्म संकेत करता है जिसको पहचानने वाला सुरेश्वर की आभा प्राप्त कर सकता है।

अगला नाम 'सुरेश्वर' है। दिव्य आभा से सुशोभित होने वाले देवता या सुर कहलाते हैं जिनके प्रभु हैं—सुरेश्वर। सुरेश्वर की शोभा या आभा स्वर या अक्षर से भी प्रसूत हो सकती है। अक्षर से प्रकट होने वाली आभा का विशद वर्णन इसके पहले स्पष्टाक्षर, मंत्र आदि नामों में आ चुका है। उसी की पुनश्चर्या 'सुरेश्वर' नाम में की जा रही है। सुर या देवता भी अमर कहलाते हैं। अमृत किरण वाले चंद्रमा से आरंभ होकर यह पंक्ति सुरेश्वर के नाम से समाप्त होती है। इस पंक्ति के चारों नाम प्रकाश के प्रभव को प्रकट करते हैं जब कि अगली पंक्ति के तीन नाम उसके प्रभाव को स्पष्ट करते हैं।

अगली पंक्ति का पहला नाम है—'औषधम्'। औषध व्याधियों का निवारण करता है। प्रकाशात्मा प्रभु सभी शारीरिक व्याधियों का ही नहीं, बल्कि मानसिक आधियों का भी निवारण करते हैं। प्रत्येक औषधि में, हर पेड़ पौधे में और सस्य श्यामला वसुमती के पत्ते-पत्ते में परमात्मा की सत्ता छाई हुई है। यह सारा संसार सर्वात्मा का लगाया गया बागीचा है, वन राज है जहां का तिनका-तिनका औषध का अद्भुत काम कर सकता है। आवश्यकता केवल उसके अंदर निहित महती शक्ति का साक्षात्कार करने की है। जैसे सृष्टि के कण-कण में अन्न समाया हुआ है और अन्न ही अन्न का स्रष्टा और भोक्ता है, वैसे ही सारी वनस्पति में औषध का साम्राज्य छाया हुआ है। इसी संजीवनी का पता हनुमान जैसे भाग्यशालियों को लगा था और आज भी सृष्टि के आशय को सही दृष्टि से देखने, समझने और अपनाने वाले धन्य जीवियों को विश्वात्मा का यह सारा विस्तार औषधराज का विराट् प्रदर्शन-सा दिखाई देगा।

यह वैद्यराज भगवान् न केवल इस संसार की व्याधियों की चिकित्सा करने में समर्थ हैं, बल्कि संसार से परे की परेशानियों से भी अपने अभीष्ट और शिष्ट जनों को बचाने का प्रयत्न करते हैं। इसीलिए उनको 'जगतः सेतु' (संसार का सेतु) कहा गया है। लौकिक और अलौकि, पार्थिव और अपार्थिव, भौतिक और आध्यात्मिक अथवा अहम् और इदम् के बीच में सेतु बंधन करने वाले विश्वकर्मा की ओर यहां पर संकेत है। लंका में प्रवेश करने के पहले दशरथनंदन राम ने समुद्र पर जो सेतु बंधन किया था, वह भी इसी सामरस्य की ओर संकेत करता है। एक ओर नर और वानर और

दूसरी ओर राक्षस एक दूसरे से संघर्ष कर रहे हैं। काम ने राम पर धावा बोल दिया है। सत्य और धर्म को आसुरी प्रवृत्तियों ने घेर लिया है । इस विकट परिस्थिति में श्रीराम ने सत्य और धर्म की पुनः प्रतिष्ठा के लिए सेतु बंधन का सांस्कृतिक संकल्प किया था। वे चाहते तो सौ योजन विस्तीर्ण सागर को पल भर में पार कर सकते थे। जब उनके बल पर हनुमान् यह काम कर सके, बिना पुल के अनंत जलराशि को अनायास पार कर गए तो खर, दूषण, कबंध, वालि आदि को अकेले समाप्त करने वाले समरशूर राम को सेतु को आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। पर लोक संग्रह को भावना, सत्य निष्ठा और धर्मपरायणता ने सेतुबंधन का स्पृहणीय दृश्य संसार के सामने प्रस्तुत किया। सत्य और असत्य तथा धर्म और अधर्म के बीच सहजीवन, सामरस्य और सामंजस्य का अद्भुत प्रतीक है—राम का सेतुबंधन। इसी सेतु की ओर इस नाम में स्पष्ट संकेत है क्योंकि अगला नाम राम का रूप हमारे सामने प्रत्यक्ष कर देता है।

अगला और इस श्लोक का अंतिम नाम है 'सत्यधर्म पराक्रम'। सत्य और धर्म के माध्यम से भगवान् का पराक्रम प्रकट होता है। जहां सत्य है, वहां सत्य नारायण हैं और जहां धर्म है, वहां धर्मपरायण विद्यमान हैं। सत्य और धर्म के सात्विक रूप का दर्शन करने के लिए ईशावास्य के द्रष्टा ने हिरण्यगर्भ से हिरणमय आवरण को हटवाने का अनुरोध किया है। भगवान् राम का सारा जीवन सत्य और धर्म का युगल गीत-सा प्रतीत होता है। सत्य और धर्म के बल पर ही वे आगे बढ़ते थे। पराक्रम का मतलब प्रताप भी हो सकता है और प्रस्थान भी। वाल्मीकि रामायण में राम को

अनेक बार सत्यपराक्रम, सत्यधर्मपरायण और सत्यधर्म-पराक्रम कहा गया है। राम को जब सत्यधर्मपराक्रम कहा जाता है तो ऐसा लगता है कि सत्य और धर्म उनके दो पैर हैं जिनके सहारे वे कर्तव्य के कठोर मार्ग पर मुस्कुराते हुए आगे बढ़ते हैं। आदमी के दो पैर होने पर भी, वह एक साथ दोनों पैरों को आगे नहीं बढ़ा सकता। एक पैर आगे कदम बढ़ाता है तो दूसरा पैर धरती पर जम कर ऊपर उठे हुए पैर को सहारा देता है। यही बात सत्य और धर्म के संबंध में भी समझनी चाहिए।

भगवान् राम के जीवन में भी सत्य और धर्म के बीच में इसी प्रकार का संघर्ष दिखाई देता है। सत्य का पालन करने के लिए उनको वनवास स्वीकार करना है और धर्म की प्रतिष्ठा के लिए अयोध्या का शासन चलाना भी है। अलौकिक संयम और अबाध साधना के बल पर उन्होंने इन दोनों के बीच सामंजस्य बिठाया। अपनी इच्छा से भाई भरत को अयोध्या दी और स्वयं वन जीवन ग्रहण कर लिया। धर्म के मूर्त रूप (विग्रहवान् धर्म) राम की सत्य-निष्ठा पर कोई आघात नहीं पहुँचा, बल्कि सत्य और धर्म एक दूसरे के समर्थक, पोषक और परिपूरक रहे। राम और भरत के भ्रातृस्नेह में सत्य और धर्म का यही सामरस्य स्पष्ट होता है। अतः सत्यधर्मपराक्रम—इस छोटे से नाम में सारी रामायण का रहस्य समा गया है।

प्रभु की राम कहानी सुनाने के बाद अगले नाम उनकी परम पावन महनीयता को कमनीय पद माधुरी में प्रस्तुत करते हैं—

"भूतभव्यभवन्नाथः पवनः पावनोऽनलः।
कामहा कामकृत् कांतः कामः कामप्रदः प्रभुः ॥"३२॥

सत्य और धर्म के समन्वय के साथ आगे बढ़ने वाले अनंत ऐश्वर्य वाले प्रभु किसी काल विशेष एक सीमित नहीं हो सकते। सत्य तीनों कालों से अतीत, अबाधित और अनासक्त होता है। धर्म तो इन तीनों कालों का आधार है। अतः अतीत, वर्तमान और भविष्य सत्यधर्मपराक्रम भगवान् के इशारे पर चलते हैं। सहस्रनाम के प्रारंभ में 'भूतभव्य भवत्प्रभु' का नाम आ चुका है। यहां 'प्रभु' के स्थान पर 'नाथ' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रभु शब्द में प्रभव और प्रभाव की ओर संकेत है। प्रभु के प्रभाव से कालत्रयी का प्रभव होता है, यही बात पहले कही जा चुकी है। यहां पर 'नाथ' शब्द का प्रयोग करने से इस कालत्रयी के साथ भगवान् का नित्य संबंध प्रकट होता है। भगवान् काल से परे होकर भी काल के साथ हैं। असल में वह तीनों कालों को अपने साथ उसी तरह ले जाते हैं जैसे कोई बंदरिया अपने बंदरों को नाक पकड़ कर ले जाता है। 'नाथ' शब्द में यही संकेत है।

तीनों कालों को और तीनों लोकों को अपने साथ ले चलने वाले प्रभु कितने गतिशील होते हैं, यह बात अगले नाम 'पवन' से स्पष्ट होती है। वे हवा की तरह चलते हैं। हवा दिखाई नहीं देती है, पर सारे आकाश को निर्मल, पवित्र और पवमान बनाते हुए आगे चलती है। वह कभी नहीं रुकती है, कहीं नहीं टिकती है, हमेशा आगे बढ़ती है और सबको प्राणों की मिठास बांटती चली जाती है। विश्वात्मा का पराक्रम भी इसी प्रकार का है।

'पवन' शब्द की पावनता को स्पष्ट करने के लिए अगला

नाम 'पावन' रखा गया है। पवन प्रकृत्या पावन होता है। पवन का गुण (धर्म) ही पावन है। पवन से उत्पन्न वस्तु भी पावन कही जा सकती है। सृष्टि क्रम में आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति बताई जाती है। इस दृष्टि से 'पावन' शब्द पवन से उत्पन्न अग्नि का भी द्योतक हो सकता है। असल में यह 'पावन' नाम पवन और पावक के बीच का संधायक है। पवन का कोमल स्पर्श और पावक की निर्मल दीप्ति दोनों का इसमें मंगलमय संगम है। 'पवनः पवतामस्मि'—गीता का यह वाक्य यहां पर बरबस याद आता है।

पवन और पावन के बाद 'अनिल' का उल्लेख कितना सहज लगता है, यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है। अनल का मतलब है—आग। हवा चलती है, पर आग जलती है। हवा सुगंध का वहन करती है, पर आग में कोई गंध नहीं होती है। हवा अदृश्य रहती है, पर आग दिखाई देती है। उसका रूप रमणीय और भयंकर दोनों हैं। इस प्रकार परस्पर विरोधी पर परस्पर निकट दो तत्व भगवान् का रूप हमारे सामने प्रत्यक्ष करते हैं। पवन और पावन में जहां पवित्रता का बोध होता है, वहां अनल शब्द में इस पवित्रता की अपरिमेयता स्पष्ट होती है। जो 'अलम्' (पर्याप्त) नहीं है, वही अनल है। आग को चाहे जितनी भी चीजें जलाने को मिल जाएं, वह सबको जलाने के बाद भी भूखी ही रहती है। आग की भूख कभी नहीं मिटती है। बल्कि खाने से और बढ़ जाती है। इसी अनंत ज्वाला का प्रतीक 'अनल' शब्द भगवान् के प्रताप और तेज की अपरिमेयता और अविनश्वरता को स्पष्ट करता है।

यही अनंत ज्वाला हमारे लौकिक जीवन में काम के रूप में प्रकट होती है। भगवान् के अंदर की मंगलमय ज्वाला राम के रमणीय रूप में प्रकट होती है तो सांसारिक प्राणी के अंदर की कमनीय ज्वाला काम वासना की अदम्य लालसा के रूप में स्पष्ट होती है। जब तक इस काम से छुटकारा न मिले तब तक राम का बोध नहीं हो सकता। पर काम अपने में बुरा नहीं है। जब तक वह धर्म का साथ देता है, तब तक वह कल्याणकारी होता है। अतः धर्मसम्मत काम भगवान् की देन है। लेकिन जब वह धर्म के विरुद्ध चलता है, तब वह राम भावना का विरोधक और बाधक बन जाता है। यही बात इस श्लोक की दूसरी पंक्ति के छह नाम स्पष्ट करते हैं। पहला नाम है—कामहा, काम से छुटकारा दिलाने वाला। भगवान् शंकर द्वारा संपन्न काम दहन की कहानी बहुत मशहूर है। पर काम दहन के बाद भी रति के अनुरोध (या रत्याग्रह) पर काम का रूप ज्यों का त्यों बना रहा। इसका मतलब यह है कि काम वासना का अंत होना चाहिए, काम का नहीं। संसार को सक्रिय रखने वाली संवेदनशील शक्ति के रूप में काम आराध्य है, पर उपासना की भावना को तिरोहित करने वाली वासना के रूप में वही काम गर्हित हो जाता है। 'कामहा' शब्द में इसी प्रकार की कुत्सित कामवासना के संहारक के रूप में भगवान् को प्रस्तुत किया गया है जब कि अगले नाम 'कामकृत्' में आराध्य काम के स्रष्टा के रूप में भगवान् कामेश्वर को प्रत्यक्ष किया गया है। काम के स्रष्टा भी वही हैं, हर्ता भी वही है। पता नहीं क्यों, भगवान् प्राणियों से यह निष्ठुर परिहास करते हैं। एक हाथ से काम का वरदान देते हैं और दूसरे से उसी को अभिशाप के रूप में पाकर उसका संहार कर देते हैं। यही

कामेश्वर की कमनीयता है। इसीलिए उनको 'कांत' कहा गया है।

'कांत' शब्द में भगवान् की इसी विचक्षण कांति की ओर संकेत है। काम का सृजन और वर्जन दोनों एक साथ करने वाले प्रभु की ओर यह कांत शब्द अत्यंत मार्मिक संकेत करता है। कांता शब्द स्त्री का पर्यायवाची है जिसका पुरुष वाचक है 'कांत'। अतः भगवान् को 'कांत' कहने में कांता और कांत के अभेद और आत्मीय ऐक्य की ओर भी संकेत है।

आगे चलकर भगवान् को 'काम' ही कहा गया है। काम को उत्पन्न और समाप्त करने वाले को काम कहने में एक विशेषता है। काम के दो रूप हो सकते हैं—व्यक्ति और वासना। एक मूर्त है और दूसरा अमूर्त। दोनों रूपों में यह भगवान् का ही रूपांतर है। गीता में भगवान् ने स्वयं कहा था—'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि' (जो काम धर्म के विरुद्ध न हो उसके रूप में मैं समस्त प्राणियों में निवास करता हूं)। अतः यह कामरूप भगवान् नाना रूपों में हर प्राणी के अंदर विराजमान हैं।

काम शब्द की एक और विशेषता है। क, अ और म—इन तीनों अक्षरों से काम शब्द बनता है। ये तीनों अक्षर क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर के प्रतीक हैं जो कि सृष्टि, स्थिति और लय के कारक हैं। इसलिए काम शब्द में सृष्टि, स्थिति और लय का एक साथ बोध हो जाता है। वैसे कामहा, कामकृत् और कांत में इन्हीं तीन लीलाओं की ओर संकेत है। इसीलिए इन तीनों के बाद यहां पर काम का नाम आ गया है।

अगला नाम 'कामप्रद' भगवान् को काम प्रदान करने वाले वरदाता के रूप में प्रस्तुत करता है। मंगलमय काम को प्रदान करने वाले होने के कारण प्रभु को यहां पर कामप्रद कहा गया है, केवल कामद नहीं। 'कामप्रद' होने के कारण ही वे 'प्रभु' हैं। प्रभु शब्द इस श्लोक का अंतिम नाम है। प्रकृष्ट रूप से उत्पन्न होने वाले को प्रभु कहा जाता है। काम वासना की तरह प्रभु अपने आप प्रकट हो जाते हैं, उसी काम का संहार कर कांत बन जाते हैं और विशुद्ध काम का विश्व में वितरण कर विख्यात बन जाते हैं। इस पंक्ति के सभी नाम कामेश्वर की कामवल्ली का रूप प्रस्तुत करते हैं।

—०—

१७. प्राणद की प्राण-प्रतिष्ठा

परमात्मा के प्रकाश की सर्वव्यापकता और सर्वात्मकता का वर्णन करने के बाद सहस्रनाम के अगले नाम युग युग में प्रकट होने वाले उसी परम पुरुष की विशिष्टता, शिष्टता और इष्टता का प्रतिपादन करते हैं—

युगादिकृद् युगावर्तो नैकमायो महाशनः ।
अदृश्यो व्यक्तरूपश्च सहस्रजिदनंतजित् ॥३३॥

प्रत्येक युग के आरंभ में प्रकट होने वाले परमात्मा को युगप्रवर्तक या 'युगादिकृत्' कहा गया है। 'युग' काल वाचक शब्द है और भगवान् स्वयं काल के मूर्त रूप हैं। काल के रूप में प्रकट होकर वे काल को नियंत्रित करते हैं। उनके पग-पग पर युग का स्वर मुखरित होता है। प्रभु के संकल्प मात्र से युग का आरंभ होता है और उसी से युग बदल जाता है और समाप्त भी हो जाता है। 'आदि' में आरंभ और 'कृत्' में उपसंहार की ओर संकेत है। युग अथवा काल सीमा का निर्धारण काल स्वरूप परमात्मा स्वयं करते हैं। उनका पैर उठता है तो युग का आरंभ होता है और फिर पैर के नीचे होते ही उसका समापन होता है। इस प्रकार काल की गति को नियंत्रित करते हुए उसका उपक्रम और उपसंहार करने

वाले कालजयी प्रभु का अत्यंत कमनीय रूप इस नाम में उभर आया है।

अगला नाम 'युगावर्त' इसी विचार को आगे बढ़ाता है। काल स्वरूप परमात्मा न केवल युगों को चलाते और समाप्त करते हैं, बल्कि वे युगों को बार-बार दुहराते भी हैं। सतत परिवर्तनशील संसार में किसी भी संघटन को अपनी इच्छा से पुनः संघटित करने का काम प्रभु के हाथों में है। इसी आवर्तन की ओर संकेत करते हुए गोस्वामी तुलसी दास कल्पभेद से राम कथा की अनेक रूपात्मकता का मार्मिक विवेचन अपने 'मानस' में अंकित कर लेते हैं। 'युग' शब्द में एक और चमत्कार है। बिखरे हुए तत्वों का सिमट कर जुट जाना भी युग कहा जाएगा। संसार के बिखरे हुए तत्वों को, जीवियों को और विचारों को एकत्र करने में भी युगपुरुष का हाथ है। जन्मांतर में पिछले जन्म के संस्कारों को सुरक्षित रखकर उनको फिर से उसी रूप में संघटित करने का काम भी 'युगावर्त' परमात्मा की विशिष्टता है।

यह काम कैसे संभव होता है, यह अगले नाम 'नैकमाय' से स्पष्ट होता है। भगवान् की माया एक नहीं, अनेक रूपों में प्रकट होती है। इसीलिए उनको 'नैकमाय' (न—एक—माया) कहा गया है। भगवान् एक हैं, पर उनका वास्ता सबसे है, किसी एक से नहीं। जितने लोगों से उनका वास्ता होता है, उतने रूपों में उनकी माया प्रकट होती है। गीता में कहा गया है कि समस्त प्राणियों को प्राणप्रणेता परमात्मा किसी अद्भुत यंत्र पर चढ़ाकर अपनी माया के प्रभाव से घुमाते रहते हैं। यही माया इस अनेक रूपात्मक चेतन जगत् की मूल प्रेरणा है।

इस विराट् मायामय जगत् को चलाने के लिए भगवान् को बहुत कुछ पोषक सामग्री चाहिए। यह प्रभूत सामग्री उनको कैसे मिलती है, यह बात अगले नाम 'महाशन' से स्पष्ट होती है। बहुत ज्यादा खानेवाले को 'महाशन' कहा जाता है। आजकल जो महाशय शब्द प्रचुरमात्रा में सुनने में आता है, वह इस 'महाशन' से बहुत मिलता जुलता है। वास्तव में आजकल महाशय कहे जाने वाले लोग तत्वतः महाशन मात्र हैं। पर यहां पर भगवान् को महाशन कहने का आशय यह नहीं है। उनका अशन या भोजन विचित्र प्रकार का है। वे खाते हुए भी नहीं खाते हैं और न खाते हुए भी खाते हैं। हम अपने लिए खाते हैं और हमारे अंदर विराजमान महाशन हमारे लिए खाते हैं, हमारे साथ खाते हैं और हमें खाने का सबक सिखाते हुए खाते हैं। हम जो कुछ खाते हैं, वह हमारे शरीर के अंदर वैश्वानर ज्वाला के रूप में प्रतिष्ठित परमात्मा को मालूम है और उन्हीं को संतुष्ट करने के लिए हम अन्न ग्रहण करते हैं। भोजन करने के पहले भगवान् को नैवेद्य चढ़ाने और पांच प्राणों को आहुतियां देने में यही आशय है। जो केवल अपने लिए खाते हैं, उनके बारे में गीतामाता ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि वे अन्न नहीं खाते हैं, पाप का पिंड खाते हैं। इस प्रकार संसार के समस्त प्राणियों के माध्यम से, उन्हीं के हित के लिए और उन्हीं के अंदर बैठकर भगवान् अपनी 'भिक्षा' ग्रहण करते हैं। इसीलिए भगवान् को 'महाशन' कहा गया है।

लेकिन आश्चर्य इस बात का है कि हमारे साथ रहते हुए, हमारे साथ खाते हुए पीते हुए, हमारे चाल-चलन को संचालित करने वाले परमात्मा हमें दिखाई नहीं देते हैं।

अगर हम हठ से अपने अंदर के भगवान् को देखना चाहें तो साधारण खोज या छानबीन से उनका आकार हमें दिखाई नहीं देगा। हम जो अन्न या आहार ग्रहण करते हैं, वह स्थूल है और हमारी दृष्टि भी स्थूल है। पर उस आहार को रस में बदलने वाले अंतरात्मा सूक्ष्म हैं और उनका आकार भी सूक्ष्म है। जैसा आहार, वैसा आकार बनता है। इसलिए स्थूल दृष्टि से देखने पर सूक्ष्म तत्व दिखाई नहीं देखा। स्थूल दृष्टि से जो देखने में आता है, वह सब नश्वर है। पर परमात्मा अविनश्वर हैं। वे कभी नहीं मिटते, इसलिए कहीं नहीं दिखते। जो दिखता है, वह मिटता है। जो नहीं दिखता है, वह अदृश्य है, अक्षय है। 'अदृश्य' नाम इसी दर्शन की ओर संकेत करता है।

पर परमात्मा बिलकुल देखने में नहीं आते हों, यह बात भी नहीं है। उनका रूप व्यक्त भी होता है, प्रकट भी होता है, पर किसी-किसी के लिए यह संभव है, सबके लिए नहीं है। जिनकी दृष्टि अंतर्मुख है, जिनका संबंध बाह्य विषयों से हट कर अंतर के आलोक से संपृक्त हो जाता है, उन द्रष्टाओं के लिए भगवान् अदृश्य नहीं है, दृश्य हैं, व्यक्त हैं। यही बात 'व्यक्त रूप'—यह नाम स्पष्ट करता है। कुछ लोग इस नाम को 'अव्यक्त रूप' समझकर 'अदृश्य' की ही भावना को आगे बढ़ा लेते हैं। असल में 'अदृश्य' और 'व्यक्त रूप' दोनों नाम इस तरह जुड़े हुए हैं कि दूसरा नाम 'व्यक्त रूप' भी पढ़ा जा सकता है और 'अव्यक्त रूप' भी। वास्तव में परमात्मा व्यक्ताव्यक्त स्वरूप हैं। व्यक्तात्मा की सत्ता के अंदर छिपी हुई अव्यक्त चेतना का साक्षात्कार करने वालों के लिए वह व्यक्त, दृश्य और प्रत्यक्ष हैं। अन्य सामान्य व्यक्तियों के लिए वह अव्यक्त, अदृश्य और अगोचर हैं।

अगले नाम में भगवान् को 'सहस्रजित्' कहा गया है। हजारों लोगों पर उनकी विजय है। पांचभौतिक जगत् में प्रसन्न मुद्रा में प्रकट सचराचर प्रकृति पर उस परम पुरुष की विजय प्रत्यक्ष है। 'सहस्रजित्' में विश्वात्मा की विश्वतोमुखी विजय संख्या की सीमा में कुछ बंध जाती है जबकि अगले नाम 'अनंतजित्' में यह विजय भावना असंख्य और अनंत बन जाती है। वह सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सार्वजनीन है। देश, काल, व्यक्ति, संख्या, मात्रा आदि से वह आबद्ध नहीं है। कालत्रयी से भी अतीत होकर यह विश्वविजय का साधन बन जाती है। भगवान् की विजय भक्त की बिजय है। संसार में जय-पराजय, सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण आदि की जो आंख मिचौनी दिखाई देती है, यह सब प्रभु की माया है; लीला है जो कि अनंत, अदृश्य, अपरिमेय और अचित्य है।

अगले श्लोक में भगवान् की विशिष्टता का उत्कृष्ट वर्णन है—

इष्टो विशिष्टः शिष्टेष्टः शिखंडी नहुषो वृषः।
क्रोधहा क्रोधकृत् कर्त्ता विश्वबाहुर्महीधरः ॥३४॥

भगवान् सब के लिए इष्ट हैं, आराध्य हैं, प्रिय हैं। 'इष्ट' शब्द के दो अर्थ बनते हैं—आराध्य और प्रिय। 'यज्' धातु से इष्ट और इष्टि शब्द बनते हैं। इष्टि का मतलब है—यज्ञ। इष्टि या यज्ञ के द्वारा जिस सत्ता की आराधना की जाती है, उसी को इष्ट कहा जाएगा। शम, दम आदि साधना, जप तप आदि निष्ठा और यज्ञ याग आदि अनुष्ठान सबके सब भगवान्

को प्रसन्न करने के लिए हैं। इष्टि की यह साधना जीवन की प्रत्येक घड़ी में बराबर चलती रहनी चाहिए। जब तक सांस चलती रही है, तब तक उसी सांस में 'सोऽहम्' की आवाज भी निकलती रहती है और यही इष्ट देव की अभीष्ट साधना है। हरेक का अपना इष्ट देव होता है—जैसे राम, कृष्ण, हनुमान्, शंकर आदि। पर भगवान् के लिए सभी इष्ट हैं। जो जिस प्रकार और जिस भावना के साथ भगवान् का स्मरण करता हैं, उसी रूप में भगवान् दिखाई देते हैं। इसलिए वे सबके 'इष्ट' हैं।

अगला नाम 'विशिष्ट' भी हो सकता है और 'अविशिष्ट' भी। जो सबसे अलग है और जिसका स्वरूप और स्वभाव सामान्य व्यक्तियों से विलक्षण है, वह विशिष्ट है। जो सबके साथ है, सबके समान है और सबमें मिल जुलकर रहता है, वह अविशिष्ट है। इस दृष्टि से भगवान् विशिष्ट भी हैं और अविशिष्ट भी। विशिष्ट इसलिए हैं कि वे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि से परे हैं, त्रिगुणातीत हैं, त्रिकालातीत हैं, अपरिमेय हैं, असंख्य हैं, अचिन्त्य हैं और अव्यक्त हैं। अविशिष्ट या सामान्य इसलिए हैं कि वे सबके अंदर सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा विराजमान हैं। अतः यह नाम भगवान् की विशिष्टता और सर्वात्मकता का मिला जुला रूप प्रस्तुत करता है। अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का इतना सुन्दर सामंजस्य अन्यत्र दुर्लभ है।

'शिष्टेष्ट' इस बात को और स्पष्ट कर देता है। पहला नाम 'इष्ट' भगवान् को सर्वप्रिय और सर्वपूज्य बना देता है जबकि शिष्टेष्ट में इस प्रेम और आराधना का अधिकार-

निर्णय होता है। जो शिष्ट हैं, उनके लिए भगवान् इष्ट हैं। जिनमें आत्मानुशासन की भावना है, साधना और संयम के प्रति निष्ठा है, वे ही शिष्ट हैं। उन्हें भगवान् अच्छे लगते हैं और भगवान् को भी वे अच्छे लगते हैं। 'ये भजंति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्' (जो भक्ति भावना से मेरा भजन करते हैं, उनके अंदर मैं रहता हूँ और वे मेरे अंदर रहते हैं)।

अगले तीन नाम कुछ अजीब से लगते हैं। शिखंडी, नहुष और वृष—ये तीनों नाम जानवरों के हैं। जब भगवान् सर्वत्र विराजमान हैं, तब इन जानवरों में भी होंगे। पर किस रूप में होंगे, इस बात को समझना साधक का काम है। शिखंडी शब्द मोर का द्योतक है। मोर देखने में सुन्दर होता है। मोर-पंख भगवान् अपने सिर पर धारण करते हैं। शिवकुमार स्वामी सुब्रह्मण्य ने मोर को अपना वाहन ही बना लिया था। मोर को नाचने में आनन्द होता है। बादल को देखकर सामान्य मानव का भी मन-मयूर नाच उठता है। इस प्रकार शिखंडी शब्द आनंद का प्रतीक है। दूसरा नाम नहुष सांप का द्योतक है। सांप चेतना का प्रतीक है। जिस मूल शक्ति की प्रेरणा से सारा संसार सजग, सचेत और सक्रिय बनता है, वही इस सर्पिल भावना में संकेत के रूप में समा जाती है। यही 'नहुष' शब्द का सार है। 'नह्' धातु से यह शब्द बनता है जिसका मतलब होता है—नत्थी करना। परमात्मा की यह आधारभूत सत्ता समस्त जगत् को साथ लिए चलती है। इस प्रकार आनंद सूचक शिखंडी नाम के बाद 'चित्' का प्रतीक नहुष नाम आता है और अंतिम नाम 'वृष' सत् का द्योतक है। वृष या बैल धर्म का प्रतीक है।

धर्म ही संसार का सत्स्वरूप है। अतः ये तीनों नाम—शिखंडी, नहुष और वृष—क्रमशः आनंद, चित् और सत् के प्रतीक बनते हैं और तीनों का संयोग सच्चिदानंद का अक्षरमय रूप प्रस्तुत कर देता है।

जिस व्यक्ति ने इस सच्चिदानंद का साक्षात्कार किया है, उसमें क्रोध हो ही नहीं सकता। क्रोध पर विजय पाने से मनुष्य का आत्मशोध हो जाता है और वह सारे संसार का धारण करने में समर्थ विश्वबाहु बन जाता है। यही बात अगले चार नामों में स्पष्ट की जाती है। पहला नाम है—क्रोधहा। क्रोध को दूर करने से भगवान् को 'क्रोधहा' कहा गया है। क्रोध पर विजय पाने का मतलब है—क्रोध नामक मनोवेग से अपने को अलग रखना। हमें किसी बात पर क्रोध हो सकता है, पर हमें अपने को उस क्षणिक मनोविकार से अलग रखना चाहिए। क्रोध प्रकट करने में पाप नहीं है, पर क्रोध के अधीन होकर अपने पर काबू खोने में दोष है। यही 'क्रोधहा' शब्द का आशय है। भगवान् को कभी-कभी हमारे ऊपर या किसी के ऊपर गुस्सा आता है, पर वह आता है और चला जाता है—सिर्फ हमारी भलाई के लिए। भगवान् राम को क्रोध के विषय में कालाग्नि के समान कहा गया है, पर साथ ही उनको 'जितक्रोध' भी कहा गया है। अपने मनोवेगों के ऊपर विजय पाने से मनुष्य भी देव-तुल्य बन जाता है।

अगला नाम 'क्रोधकृत् कर्ता' बहुधा एक ही नाम माना जाता है। कुछ लोग क्रोधकृत् और कर्ता को अलग-अलग भी मानते हैं। क्रोधकृत् का मतलब क्रोध करने वाला भी होता है

और क्रोध हरने वाला भी। भगवान् ही हमारे अंदर क्रोध जैसे मनोवेग पैदा कर देते हैं, और वही इनका हरण भी करते हैं। जैसे वे जीव जंतुओं को सृष्टि भी करते हैं और उनको विलीन भी कर देते हैं, वैसे ही वे मानव-मन में कई विकार पैदा कर देते हैं और उनका अंत भी कर देते हैं क्योंकि वे कर्ता हैं, स्वतंत्र हैं। हनुमान् रावण के सामने भगवान् राम की सर्वशक्तिमत्ता का वर्णन करते हुए कहते हैं—

सर्वान् लोकान् सुसंहृत्य सभूतान् सचराचरान्।
पुनरेव तथा स्रष्टुं शक्तो रामो महायशाः॥

(महायशस्वी राम समस्त लोकों में विचरण करने वाले सचराचर प्राणियों का संहार कर पुनः उनकी सृष्टि करने में समर्थ हैं।)

इसी सामर्थ्य की ओर यह नाम संकेत करता है। तभी तो उनको 'विश्व बाहु' कहा गया है। सारा संसार उनकी भुजाओं से व्याप्त है। विश्वतोमुख और विश्वतो नेत्र वाले विश्वात्मा की भुजाओं का पराक्रम संसार में सर्वत्र देखा जा सकता है।

इस श्लोक का अंतिम नाम 'महीधर' इसी विराट् पराक्रम को स्पष्ट करता है। महीधर का साधारण अर्थ होता है— पहाड़। भगवान् भी एक पहाड़ के समान हैं जो धरती का भार वहन करता है। पहाड़ में कई विशेषताएं हैं। वह बहुत बड़ा पत्थर है। उसमें स्थिरता, दृढ़ता और सहनशीलता है। चलते फिरते बादलों को रोककर वह पानी बरसने में मदद देता है। अपने ऊपर, भीतर और नीचे अनेक जीवों को वह आश्रय देता है। ये सभी गुण परमात्मा में विद्यमान हैं। इतना

ही नहीं, इतने गुणशील पर्वत का भी वह धारण कर सकते हैं। गिरिधारी गोपाल मीरा जैसी कई तपस्विनियों का भौतिक और आध्यात्मिक ताप मिटाने में सफल हुआ। पहाड़ कबीर के लिए भी आराध्य बन गया था।

अगले श्लोक में भगवान् की सत्यनिष्ठा, प्रतिष्ठा और सहज गरिमा का परिचय मिलता है—

अच्युतः प्रथितः प्राणः प्राणदो वासवानुजः।
अपां निधिरधिष्ठानं अप्रमत्तः प्रतिष्ठितः ॥३५॥

'अच्युत' भगवान् का अद्भुत नाम है और काफी प्रभावशाली भी। अच्युत, अनंत और गोविंद भगवान् के सबसे प्रसिद्ध नाम हैं। जो अपने प्रण से कभी डिगता नहीं, तनिक भी विचलित नहीं होता, उसे अच्युत कहा जाता है। भगवान् का प्रण कभी नहीं टलता। नारायण उपनिषद् में इसी अच्युत को शाश्वत शिव की संज्ञा दी गई है। अच्युत नाम की इसी ख्याति का अगले नाम में उल्लेख किया गया है। अगला नाम है—प्रथित। जो सबसे प्रथम और सबसे अधिक प्रख्यात है, वही परमात्मा यहां पर प्रथित संज्ञा से अभिहित है। ऐतरेय उपनिषद् में आत्मा को सृष्टि के आरंभ में एकांत विद्यमान सत्ता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। "आत्मा वा इदमेक एव अग्र आसीत्, नान्यत् किंचन मिषत्"। संसार में आत्मा को सबसे पहले संचरित करने वाले सर्वात्मा को ही यहां पर प्रथित कहा गया है। वही प्रथित समस्त प्राणियों के प्राणों का प्रणयन करता है। इसलिए उनको प्राण की संज्ञा दी गई है।

'प्राण' पांच प्रकार के हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान

और समान। इन पांचों प्राणों में सर्वप्रथम और सर्वसंधायक है—प्राण। यही ईशान या प्राणों का ईश्वर है। यह प्राण परमात्मा का दूसरा रूप है जो प्राणों को प्रदान करने वाले हैं। प्राण ही प्राणियों को प्राण देता है। अतः प्राण-स्वरूप परमात्मा को प्राण भी कहा गया और 'प्राणद' भी। प्राणद शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—प्राण देने वाला और प्राण हरने वाला। परमात्मा ही प्राण देते हैं और वही प्राणों का हरण भी करते हैं।

इतना ही नहीं, यही प्राणदाता कभी-कभी प्राणी बन कर जन्म भी लेते हैं। वामन के अवतार में भगवान् ने इंद्र के छोटे भाई के रूप में अदिति के गर्भ में जन्म लिया था। जब प्राणधारी के रूप में भगवान् अपनी लीला को प्रकट करते हैं, तब वे स्वयं अपनी लीला के अधीन होते हैं। कश्यप और अदिति को पिता और माता बनने का सौभाग्य मिला और इंद्र को भगवान् का बड़ा भाई बनने का गौरव मिला। यह सब प्रभु की कृपा है जिससे छोटा बड़ा बन सकता है और बड़ा छोटा भी बन सकता है। कहां तीन पैरों से तीनों लोकों पर छा जाने वाले त्रिविक्रम वामन और कहां इंद्र का भ्रातृत्व या भाईचारा। यही भगवान् की विचित्र लीला है। 'वासवानुज' नाम से यही आशय प्रकट होता है।

अगला नाम 'अपांनिधि' भगवान् की परम शरण्यता का द्योतक है। समस्त संसार के लिए वे एकमात्र शरण्य हैं। अप् या जल सृष्टि का आदिम तत्व है और उसका आश्रय परमात्मा में है। वही समस्त रस तत्व की निधि है। 'रसो वै सः' आदि श्रुति मंत्रों में भगवान् को रस स्वरूप प्रतिपादित

किया गया है। इसी परम तत्व की ओर यह नाम संकेत करता है। इसके पहले भगवान् को श्रुति सागर कहा गया है। यहां भी अपांनिधि का मतलब सागर ही निकलता है। जैसे सारी नदियां सागर में जाकर मिलती हैं, वैसे ही समस्त प्राणी भगवान् रूपी समुद्र में जाकर मिलते हैं। "नदीनां सागरो गतिः।"

अगला नाम 'अधिष्ठान' भगवान् की शाश्वत सत्ता को प्रकट करता है। वह हमेशा रहने वाला है, अपनी सृष्टि के अंदर विराजमान होता है, उससे अलग नहीं। 'अधि' से भगवान् का निश्चित अधिकरण स्पष्ट होता है। उनको ढूंढने के लिए कहीं बाहर जाने की ज़रूरत नहीं है। वह हमारे अंदर ही विद्यमान है।

वह 'अप्रमत्त' भी है। कभी प्रमाद नाम की चीज़ उनको छू नहीं सकती। वे हमेशा सजग रहते हैं। वे जानते हैं कि कहां क्या हो रहा है, कैसे हो रहा है और कैसे होना चाहिए। तैत्तिरीय संहिता में अप्रमाद की जो शिक्षा दी जाती है, वह इसी अप्रमत्त परमात्मा के प्रद को प्राप्त करने का साधन है।

यह अप्रमत्त सत्ता हमेशा स्थिर रहने वाली है। वह प्रतिष्ठित है, बहुत पुरानी है।

इसी प्रतिष्ठित परम सत्ता की ओर नारायण उपनिषद् में स्पष्ट संकेत है—

"......तस्यांते सुषिरं सूक्ष्मं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्"

—०—

१८. तरण तारण तार

युगादि से युगांत तक अग जग की अनंत लीला में अप्रमत्त सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित विश्वात्मा की विशिष्टता का वर्णन करने के बाद उसी परम सत्ता की गतिशीलता और संसरणीयता का स्पृहणीय रूप अगले श्लोकों में प्रस्तुत किया जाता है—

स्कंदः स्कंदधरो धुर्यो वरदो वायुवाहनः।
वासुदेवो बृहद्भानुरादिदेवः पुरंदरः ॥३६॥

इस श्लोक का पहला नाम है—स्कंद। भगवान् शंकर के सेनानी पुत्र को स्कंद कहा जाता है। परमेश्वर के वीर्य के स्खलन से उत्पन्न होने के कारण शिव कुमार को स्कंद कहा गया है। यहां पर स्कंद शब्द विष्णु वाचक है। 'आदित्य हृदय' में सूर्य के पर्यावाची के रूप में स्कंद शब्द का प्रयोग किया गया है। "एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवः स्कंदः प्रजापतिः।" आदित्य हृदय में सूर्य के अर्थ में और सहस्रनाम में विष्णु के अर्थ में प्रयुक्त यह स्कंद नाम विशेष रूप से मननीय है। किसी उन्नत स्थान से नीचे उतर आने को या खिसक जाने को स्कंदन कहा जाता है और इस प्रकार खिच आने वाले को स्कंता या स्कंद कहा जाता है। ऊंचे से ऊंचे स्थान पर प्रतिष्ठित

परमात्मा धरातल पर किसी प्रयोजन से कभी-कभी उतर आते हैं। इस भौतिक अवतरण के अतिरिक्त योगियों के विशुद्ध मानस में जब चाहें तब प्रकट हो जाते हैं। किसी अज्ञात और अनधिगम्य आकाश सीमा से अचानक अवनीतल में अवतरित होने वाले अखिलेश को यहां पर स्कंद की संज्ञा दी गई है।

एक प्रकार से भगवान् ही नहीं, बल्कि प्रत्येक प्राणी भी स्कंद कहलाने योग्य है। कौन कहां से, क्यों और कैसे चला आता है, यह किसी को तब तक मालूम नहीं होता जब तक वह शरीर से घिरा हुआ होता है। अशरीरी तत्व शरीर को स्वीकार कर धरातल में अवतरित होता है। पर अंतर केवल यही है कि अंतरात्मा को इस अवतार का रहस्य मालूम होता है जब कि सामान्य जीव के लिए यह सहज संसरण मात्र प्रतीत होता है। जान बूझकर किसी विशिष्ट उद्देश्य से संसार में चले आए सर्वात्मा भी स्कंद हैं और अन्य संसरणशील जीवात्मा भी स्कंद हैं। पर पहला स्कंद अन्य स्कंदों का स्वामी होता है, उनका धारण करता है। अतः परमात्मा स्कंद को स्कंदधर' कहा गया है। वह स्वयं नीचे खिसक आता है और इस प्रकार खिसककर आए अन्य प्राणियों को गिरने से और चोट खाने से बचाता भी है। जैसे फिसलन पट्टी पर खेलने वाले बच्चों को गिरने का बहुत डर होता है, पर उनके मां-बाप उनको धीरज दिलाते हैं, सावधानी से फिसलना सिखाते हैं और कभी-कभी उनके साथ स्वयं फिसलकर दिखाते भी हैं। भगवान् भी प्राणियों को इसी प्रकार जीवन की फिसलन सिखाते हैं और मरने का डर दूर कर देते हैं। मरने के डर से कोई पैदा भी न हो, इस अनर्थ से संसार को बचाने

का भार परमात्मा के ऊपर है। वह समस्त प्राणियों को बारी-बारी से संसार की फिसलन खेलने को भेज देते हैं और कभी-कभी खुद भी इस खेल में शामिल हो जाते हैं। वह स्कंद भी है और स्कंदधर भी।

युद्ध में शत्रुओं का चेहरा सुखा देने वाले शूर वीर सेनानी को भी स्कंद कहा जाता है। हवा की तरह बहकर चलना और दुनियां में फैली नमी को सुखाना दोनों स्कंद के काम हैं। आम तौर पर वह अमृत बरसाते हुए अंतरिक्ष से अवतरित होते हैं और आवश्यकता पड़ने पर संसार के विष का शोषण भी करते हैं। इस प्रकार करुणा और क्रोध का संतुलन बनाए रखने वाले परमात्मा को अगले नाम में 'धुर्य' की संज्ञा दी गई है। स्कंद और स्कंधर की सर्वोत्कृष्टता और सर्वसमर्थता की ओर इस नाम में संकेत मिलता है। धरा की धुरी या अक्ष का प्रतीक बनकर सकल चराचर जगत् का भार वहन करते हुए विश्व के मूर्द्धन्य स्थान पर विराजमान प्रभु के लिए 'धुर्य' बहुत ही संक्षिप्त और सारगर्भित नाम बनता है।

सर्वश्रेष्ठ होने के कारण वह सर्वश्रेष्ठ वस्तु प्रदान करते हैं। भक्तों के लिए सबसे अधिक अभीष्ट, कल्याणकारक और परम वरणीय सुख प्रदान करने वाले परमात्मा के लिए यहां 'वरद' शब्द अत्यंत उपयुक्त मालूम होता है। यह वरणीय सुख वह कैसे प्रदान करते हैं, यह अगला नाम 'वायुवाहन' स्पष्ट कर देता है। पवन की तरह पवमान गति से पवन को ही वाहन बनाकर चलने वाले परमात्मा की परिवहनशीलता को यह नाम बहुत ही सुन्दर ढंग से व्यक्त करता है। 'वायु-

वाहन' शब्द से वायु पर चलने वाला और वायु को चलाने वाला दोनों अर्थ निकल सकते हैं। वास्तव में वायुवाहन ये दोनों काम करते हैं। वह पवन पर चलते हुए उसको चलाते हैं। इस अनंत अंतराल में सात प्रकार के पवन परिचालित होते हैं—आवह, प्रवह, अनुवह, संवह, विवह, परावह और परिवह। शंकराचार्य अपने भाष्य में इन्हीं की ओर संकेत करते हुए वायुवाहन नाम की व्याख्या करते हैं। जमीन और बादलों के बीच में जो हवा चलती है, उसको आवह कहा जाता है। इसी प्रकार बादल और सूरज के बीच में प्रवह, सूर्य और चंद्र के बीच में अनुवह, चंद्र और नक्षत्रों के बीच में संवह, नक्षत्रों और ग्रहों के बीच में विवह, ग्रहों और सप्तर्षिमंडल के बीच में परावह और सप्तर्षिमंडल और ध्रुव के बीच में परिवह नाम की हवाएं चलती हैं। इन सब को चलाने वाला और इन सब पर चलने वाला वायुवाहन है। परमात्मा का पावन स्पर्श इनमें से किसी भी पवन के माध्यम से संभव है। पर भावना के बल पर ही यह काम संभव है। भावुक मन किसी भी शीतल समीर की लहर में परमात्मा के स्पर्श का अनुभव प्राप्त कर सकता है। धरातल से ध्रुव बिंदु तक संचरित होने वाले समीर की तरंगों में चढ़कर भगवान् किसी भी भक्त के अंतरंग में अनायास पलभर में पहुँच सकते हैं।

इसी सर्वांतर्यामिता की ओर अगला नाम 'वासुदेव' संकेत करता है। बसने वाला, बसाने वाला, बसेरा बनाकर देने वाला और बसेरे में प्रकाश भरने वाला वासुदेव है। "वासनाद् वासुदेवस्य वासितं ते जगत्त्रयम्।" भगवान् वासुदेव के बसाने से ही सारा संसार बस जाता है। असल में यह सब

भगवान् का ही आवास है। "ईशावास्यमिदं सर्वम्।" महाभारत के शांतिपर्व में 'वासुदेव' स्वयं अपना आशय स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

"छादयामि जगत् सर्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः
सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततः स्मृतः।

भगवान् वासुदेव सूर्य की तरह अपनी किरणों के माध्यम से समस्त विश्व में छा जाते हैं और उसको अपनी प्रकाशमयी छाया से आच्छादित कर देते हैं। इसी विचार को आगे बढ़ाता है—अगला नाम 'बृहद्भानु'। साधारण भानु या सूर्य एक सीमित क्षेत्र को आलोकित करता है जब कि बृहद्भानु या विष्णु समस्त संसार को अपनी समरसता से अनुगृहीत करते हैं। इसीलिए वे बहुत बड़े सूर्य या बृहद्भानु हैं।

इस ब्रह्मांड में जितने सूर्य हैं, सबको प्रकाश उन्हीं से मिलता है और वह सबसे पहले प्रकाश में आए हैं—अपना प्रकाश लेकर। इसलिए वह 'आदिदेव' कहलाते हैं। सृष्टि के आरंभ में केवल वही विराजमान थे और उन्हीं से प्रचुर प्रकाश, असीम जलराशि, सर्वांतर्यामी समीर, अनंत आकाश और सुन्दर वसुंधरा का विकास हुआ है। इस आदिदेव की हर जगह पहुंच है। शरीर से बाहर और शरीर के अंदर अबाध गति से वह पहुँच जाते हैं। हर दरवाजा उनके लिए खुला हुआ है। यहां तक कि शरीर को भी चीरकर वह अंदर पहुँच जाते हैं। इसीलिए उनको 'पुरंदर' कहा गया है। पार्थिव शरीर ही 'पुर' है जिसको चीरकर वह अपार्थिव सत्ता अंदर पहुँचती है और शरीर को चलाती है। जब तक उस सत्ता

का भीतर निवास होता है, तभी तक शरीर का शहर बसा रहता है। उसके बाद वह चल बसता है और सत्ता का खेल समाप्त हो जाता है।

सत्य लोक से मर्त्य लोक में आकर संसार के कण-कण में इस प्रकार संचरित होकर उसे संचालित करने वाले सर्वात्मा की सर्वशक्तिमत्ता के पीछे एकमात्र रहस्य यही है कि वह निर्लिप्त है, निर्विकार है, चिर प्रसन्न हैं, करुणा निधि हैं। यही विचार अगले श्लोक के दस नामों में पल्लवित होता है—

अशोकस्तारणस्तारः शूरः शौरिर्जनेश्वरः।
अनुकूलः शतावर्तः पद्मी पद्म निभेक्षणः ।।३७।।

शोक, मोह, जरा, मृत्यु, भूख, प्यास नाम की छह ऊर्मियों से रहित निर्विकार, निरंजन और निर्लिप्त सत्ता होने के कारण भगवान् का नाम 'अशोक' हुआ। समस्त प्राणियों में सूत्रवत् समा जाने के कारण वह सबके शोक का साक्षी होता है, पर स्वयं शोक से दूर रहता है। यहां पर शोक शब्द उससे संबंधित अन्य मनोविकारों का भी प्रतीक है। मानव मन में जितनी उत्तेजना, वेदना और भावना का उदय होता है, भगवान् उसके नियंत्रक, नियामक और निदेशक हैं क्योंकि वह इनसे परे हैं। महाभारत के युद्ध की प्रत्येक घटना इसका प्रमाण है। सबके सुख-दुःख, हानि-लाभ, हार-जीत, मान-अपमान सबका ध्यान रखते हुए कृष्ण स्वयं निर्लिप्त रहे। धर्म की प्रतिष्ठा उनका एकमात्र ध्येय रही। इष्ट जनों का या साधु जनों का उद्धार करना ही उनका लक्ष्य था।

अगला नाम 'तारण' इस आशय को स्पष्ट करता है।

दुख-सागर से ही नहीं, वल्कि संसार-सागर से भी लोगों का उद्धार करने वाले तारक परमात्मा को ही यहां 'तारण' और 'तार' कहा गया है। तारण और तार तारक के ही दो रूप हैं। संसार-सागर से साधक को पार कराने वाला हमारी आंखों के अंदर ही बसा हुआ है। वह सब की आंखों का प्रकाश है और वही अंतरिक्ष में तारों में चमकता है। वही बिखरे हुए प्राणों को समेटने वाली बहुत बड़ी तार के समान समस्त संसार में फैले हुए हैं।

वह पराक्रमी भी हैं। सत्य और धर्म उनके पराक्रम के दो अंग हैं। इसलिए उनको शूर और शौरि कहा गया है। भगवान् कृष्ण के पिता वसुदेव को शूर कहा जाता है और उनकी संतान होने के कारण भगवान् का नाम 'शौरि' पड़ गया। शूर और शूर की संतान—दोनों परमात्मा के ही रूप हैं। पराक्रमियों में जो पराक्रम है और उस पराक्रम का जो प्रयोजन है, दोनों भगवान् की ही इच्छा से संचालित होते हैं।

सभी लोगों का स्वामी होने के कारण वह जनेश्वर है। जो जन्म लेता है, वह जन है। जो शासन करता है, वह ईश्वर है। संसार में जन्म लेने वाले समस्त प्राणियों का कर्ता, धर्ता और हर्ता होने के कारण परमेश्वर को जनेश्वर कहा गया है।

वह सब के 'अनुकूल' चलते हैं। किसी के खिलाफ कोई काम करना या कराना नहीं चाहते। गीता का सारा उपदेश देने के बाद अर्जुन को संपूर्ण स्वेच्छा देते हुए कहते हैं—जैसे

चाहो, वैसे करो (यथेच्छसि तथा कुरु)। अच्छी भावना से अच्छे काम में मन लगाने वाले अच्छे लोगों को वह बुद्धि प्रदान कर अच्छे मार्ग पर अनुकूल दिशा में ले चलते हैं। इसीलिए यहां पर भगवान् को 'अनुकूल' कहा गया है। 'अनुकूल' शब्द का वाच्यार्थ है—किनारे की ओर। संसार रूपी सरिता में दिशामूढ होकर कई धक्के खाते हुए और कई भंवरों में चक्कर काटते हुए आगे बढ़ने वाले सांसारिक जीवियों की नौका को पार लगाने वाले परमात्मा को 'अनुकूल' कहने में काफी गहरा आशय प्रकट होता है।

यही गहराई अगले नाम 'शतावर्त' में सिद्ध हो जाती है। सैंकड़ों आवर्तों या भंवरों में फंसकर किनारे पहुंचने के लिए तड़पने वाले जीवियों को अनुकूल दिशा प्रदान करना भगवान् का काम है। इसके लिए भगवान् स्वयं सैंकड़ों आवर्त या अवतार लेते हैं। जनन मरण के चक्र में फंसे हुए प्राणियों को उससे छुटकारा दिलाने के लिए भगवान् स्वयं उस चक्र में प्रवेश करते हैं। कुएं में फंसे आदमी को कुएं से बाहर निकालने के लिए हमें खुद कुएं में प्रवेश करना पड़ता है—पर दूसरों को ऊपर उठाने के लिए, स्वयं डूबने के लिए नहीं। यही परेशानी भगवान् की भी है। पर वह इसे परेशानी नहीं समझते हैं। खिलखिलाते हुए कमल को अपने हाथ में लेकर उसी की तरह विशाल आंखों से अपार करुणा बरसाते हुए प्रसन्न मुद्रा में वह सबकी परेशानियों को दूर करते हैं।

इसीलिए उनको 'पद्मी' कहा गया है। वह पद्मनिभेक्षण अर्थात् कमल जैसे नयन वाले भी हैं। हाथ में कमल है और

नज़रों में भी हज़ारों कमल खिल उठते हैं। कमल कोमलता, प्रफुल्लता, कमनीयता और करुणा का प्रतीक है। पर यहां कमल के अर्थ में पद्म शब्द का प्रयोग किया गया है। पद्म शब्द में कमल की कमनीयता के अलावा परम वरणीय और स्पृहणीय सिद्धि की प्रापणीयता (पाने की भावना) भी है। संसार-सागर में डूबते उतरते, तैरते फिरते, भूलते भटकते अन्त में परमात्मा के श्रीचरणों में ही आश्रय पाना है। यही जीवन का चरम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति परमात्मा के पावन स्पर्श से और भव्य दर्शन से अनायास सिद्ध हो जाती है।

'पद्म' की इसी भव्य भावना को आगे बढ़ाते हुए अगले श्लोक की नाम-नवमी और भी परिवर्द्धित विचार प्रस्तुत करती है —

'पद्मनाभोऽरविंदाक्षः पद्मगर्भः शरीरभृत् ।
मदर्द्धिर्ऋद्धो वृद्धात्मा महाक्षो गरुडध्वजः ॥३८॥

पद्म के स्वामी परमात्मा की आंखों से पद्मों की वर्षा होती है क्योंकि वह 'पद्मनाभ' हैं। उनकी नाभि में पद्मों की अक्षय राशि है। अनेक पद्म उसमें से निकल आते हैं। वह 'अनंत पद्मनाभ' हैं। इन्हीं पद्मों से वह सृष्टिकर्ता का धारण करता है। यह तो पद्मनाभ का वाच्यार्थ है। इसके अतिरिक्त पद्म शब्द को प्रापणीय परमार्थ (पाने योग्य सिद्धि) समझ लिया जाए तो इससे एक विलक्षण अर्थ निकलता है। संसार में जितनी उपलब्धि वांछनीय है, उस सारी उपलब्धि का केन्द्र है—पद्मनयन भगवान् की कृपा दृष्टि। अपने नयनों में

कमल नयन को बसा लेने की तीव्र लालसा मीरा जैसी साधिकाओं में पाई जाती है। यही सकल साधना का सार है। प्रतिपद्यमान पद ही पद्म है जिसकी नाभि या केन्द्र में परमात्मा विराजमान हैं। यह कैसे विराजमान हैं, इसका वर्णन 'अरविंदाक्ष' नाम बहुत ही मनोहर ढंग से करता है।

अरविंद भी कमल का पर्यायवाची है। कमलनयन भगवान् को यहां पर 'अरविंदाक्ष' कहा गया है। अरविंद, कमल, पद्म आदि कई नाम एक ही पदार्थ कमल के द्योतक हैं। फिर भी प्रत्येक शब्द की अपनी विशेषता है, एक विशिष्ट अर्थ की छाया हरेक शब्द में रहती है। इस दृष्टि से यहां पर आए 'अरविंद' शब्द को देखना चाहिए। अर या पंखुड़ियों से जो रूप बनता है, वही अरविंद है। कमल या अरविंद का अपना कोई अलग अस्तित्व नहीं है। चारों तरफ फैली हुई पंखुड़ियों का समेकित रूप ही कमल या अरविंद है। इसी प्रकार परमात्मा असंख्य जीवात्माओं का संकलित रूप है। सभी आत्माओं में परमात्मा विद्यमान हैं और परमात्मा में प्रत्येक आत्मा निहित है। असल में एक ही आत्मतत्व कहीं जीवात्मा का रूप धारण करता है और कहीं प्रत्यगात्मा या परमात्मा का। जिस दृष्टि से देखा जाए, उसी रूप में वह परम तत्व दिखाई देता है। यही दृष्टिकोण 'अरविंदाक्ष' के नयनारविंद के वीक्षण से प्राप्त होता है।

'पद्मगर्भ' परमात्मा का अगला नाम है। पद्म के गर्भ में स्थित या अपने गर्भ में असंख्य पद्मों को धारण करने वाले परमात्मा का यह सारगर्भित नाम है। श्रुतियों में यही पद्मगर्भ

हिरण्यगर्भ के रूप में प्रतिष्ठित है। परमात्मा के गर्भ में हिरण्य, पद्म आदि लोक-कल्याणकारी प्रसाधन प्रभूत मात्रा में विद्यमान हैं। तभी तो वह समस्त प्राणियों का पालन पोषण करता है। वह सभी प्राणियों के शरीर के अंदर अशरीरी रूप में रहकर उनका भरण-पोषण करते हैं। इसीलिए उनका नाम 'शरीरभृत्' रखा गया है। शरीर का धर्म शीर्ण होना है, क्षीण होना है। पर परमात्मा की जब तक इच्छा होती है, उस का भरण-पोषण विधिवत् चलता है। वैश्वानर के रूप में वह सभी प्राणियों के अंदर रहकर अन्न के पाचन में सहायक होते हैं और प्राणों का धारण करने में प्राणियों को सहयोग देते हैं। शरीरधारियों और अशरीर अंतरात्मा में अंतर यही है कि शरीर क्षीण होता जाता है जब कि अंतरात्मा का विकास होता जाता है। असल में शारीरिक भावना जितनी कम होती है, आध्यात्मिक भावना उतनी बढ़ती जाती है। बाहर से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के रूप में पांच तत्वों का शरीर पर घात-प्रतिघात बराबर हुआ करता है। पर शरीर इनको बहिर्मुख बनाकर भौतिक आस्वादन में लगाता है तो भोग ही भोग बचता है और कभी-कभी यह रोग में भी परिणत हो सकता है और अंत में शरीर को राख बनाकर समाप्त कर देता है। पर अपने शरीर की इस नश्वरता को पहचानकर कोई धीर पुरुष बाहरी अनुभूति को अंतर्मुख बनाकर व्यावृत्त (फिरे हुए) इंद्रियों से आत्मा का अलौकिक आनंद अनुभव करने लगता है। इसी अनुभूति के लिए परमात्मा आत्मा को शरीर प्रदान करते हैं। 'शरीर-भृत्' में इसी शरीर की ओर संकेत है। केवल खाने, पीने और मौज उड़ाने में मस्त मांसल शरीर का पालन करने में भगवान् की रुचि नहीं होती है। इसलिए हमें अपने नश्वर

शरीरों की ओर अविनश्वर अंतरात्मा का ध्यान आकृष्ट करना है तो हमें शरीर के इसी अमृत बिंदु पर ध्यान देना है।

यह हुआ तो समझना चाहिए कि हमारी वृद्धि हो रही है। जैसे-जैसे हम इस वृद्धि की ओर आगे कदम बढ़ाते हैं, वैसे-वैसे भगवान् भी अपनी महती वृद्धि का मधुर परिचय हमें देते हैं। भगवान् की इसी भव्य विभूति की ओर अगले तीन नाम—महर्द्धि, ऋद्धि और वृद्धात्मा—संकेत करते हैं। भगवान् की वृद्धि असाधारण है, महती है, असीम है, अपरिमेय है। इसलिए वह महर्द्धि है। असल में ऋद्धि ही उनका स्वरूप और स्वभाव है। बढ़ना और बढ़ते रहना उनके अविनश्वर रूप का सहज लक्षण है। गीता में भी इस अविनश्वरता की ओर संकेत मिलता है—'विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति।'' युग-युग से इस प्रकार बढ़ते ही रहने के कारण वह 'वृद्धात्मा' हैं। संसार में जितने जीव हैं, उन सब में आत्मा है। पर परमात्मा सबसे अधिक विकसित आत्मा हैं। इसलिए भी वह वृद्धात्मा हैं।

अगला नाम है—महाक्ष। महान् इंद्रिय वाले या महान् नयन वाले से यहां आशय है। आंखें सभी इंद्रियों में प्रधान हैं। विषय वस्तु को ग्रहण करने में आंखों का सबसे अधिक सहयोग होता है। कोई अभीष्ट वस्तु सामने आती है तो आंखें उसे देखकर तृप्त हो जाती हैं। इसी तरह कोई घृणित वस्तु देखने में आ जाए तो आंखें अपने आप बंद हो जाती हैं, चाहे वह देखने की चीज़ हो, सुनने की चीज़ हो, खाने की चीज हो या छूकर आनंद प्राप्त करने की चीज़ हो। अक्ष

या नयन सभी इंद्रियों का नियंत्रण करते हैं। भगवान् के अक्ष महान् है।

इस श्लोक का अंतिम नाम 'गरुडध्वज' है। गरुड परमात्मा की पताका है। विषधर सर्पों का परम शत्रु और विष को दूर कर अमृत ला देने वाला गरुड पक्षी परमात्मा का बहिःप्राण है। गरुड परमात्मा का वाहन भी है। 'गरुडध्वज' नाम से न केवल परमात्मा का अमृत हृदय ही स्पष्ट होता है, बल्कि संसार का विष मिटाने की उनकी अपरिमेय शक्ति और भक्तों की रक्षा करने में उनकी गतिशील आतुरता की ओर भी मार्मिक संकेत है। भगवान् की भव्य विभूति का एक मात्र प्रयोजन संसार को मृत्यु से अमृत तत्व की ओर ले जाना है।

"मृत्योर्मा अमृतं गमय"

—o—

१६. लक्ष्मीवान् शुभलक्षणः

गरुड़ध्वज की गतिशीलता और रसशीलता का वर्णन करने के बाद उनकी सर्वलक्षणलक्षण्यता का, अत्यंत सरल शैली में, अगला श्लोक प्रतिपादन करता है—

"अतुलः शरभो भीमः समयज्ञो हविर्हरिः।
सर्वलक्षणलक्षण्यो लक्ष्मीवान् समितिंजयः ॥"३६॥

परमात्मा की सर्वगुणसंपन्नता के साथ संसार की और किसी भी सत्ता की तुलना संभव नहीं है। वह अतुलनीय है। उसको तोलना भी संभव नहीं है। संसार के तोल-मोल के साथ उसका ताल-मेल नहीं बैठता। श्रुति कहती है—"उसका सादृश्य हमें और कहीं भी नहीं मिल सकेगा क्योंकि उसी के नाम से संसार का यश महान् बनता है (न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः)। भगवान् का विश्व रूप देखकर अर्जुन भी इसी निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं और कहते हैं—'आपकी समता करने वाला और कोई नहीं है। फिर आप से बढ़कर कोई कैसे हो सकता है?'

इस अतुलनीयता की ओर संकेत करता है—इस श्लोक का पहला नाम 'अतुल' और उसके बाद आने वाले सात नाम

इसी लक्षण की विलक्षण व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। भगवान् को 'शरभ' कहा गया है। 'शर' के प्रकाश से आलोकित परमात्मा अप्रतिम हैं। शर के अनेक अर्थ हैं—तीर, जल, शरीर, आत्मा आदि। धनुष से निकला हुआ तीर गतिशील भी होता है और प्रकाशवान् भी होता है। भगवान् का तेज एक स्थान पर निष्क्रिय रूप से पड़ा रहने वाला नहीं है। वह शर की तरह संसार के कोने-कोने में प्रसारित होता है और सबको आलोकित करता है। सुग्रीव की आज्ञा और राम का आशीर्वाद लेकर सीतादर्शन की लालसा में समुद्र को पार करते समय पवन तनय हनुमान मन ही मन संकल्प कर लेते हैं—

"यथा राघवनिर्मुक्तः शरः श्वसनविक्रमः।
गच्छेत् तद्वद् गमिष्यामि लंकां रावणपालिताम् ।।"

(राघव के हस्त लाघव से छुटा तीर सांस की गति से या वायु वेग से जैसे आगे बढ़ता है, वैसे ही मैं रावण के द्वारा पालित लंका में पहुंच जाऊंगा।)

मानसकार भी प्राचेतस की इस परम पावन भावना से प्रभावित होकर कहते हैं—'जिमि अमोघ रघुपति कर बाना, एही भांति चलेउ हनुमाना।'

रामचंद्र का शर श्वसन (सांस या हवा) के समान गतिशील बताया गया है। उस शर में जो प्रकाश है, तेज है, तीक्ष्णता है, सूक्ष्मता है और हल्की-हल्की मधुर वेदना है, वही परमात्मा की अतुलनीयता है। 'शर' शब्द की इसी सारगभिता से भली भांति परिचित संत त्यागराज अपने आराध्य राम को

'शर शर समरैकशूर' और 'शरधिमदविदार' कहते हैं। एक-एक शर में सर्वात्मा की समर शूरता प्रकट होती है। दाशरथी के इन्हीं शरों के प्रकोप से सागर (शरधि) का गर्व चूर-चूर हो गया है। राम बाण जल को सुखा भी सकता है और जल को उपजा भी सकता है। विकास और विनाश—दोनों तत्वों को एक साथ व्यंजित करने वाला 'शरभ' शब्द परमात्मा की अपरिमेय कांति को प्रकट करने वाला अमोघ नाम है।

शीर्ण होने वाला 'शर' कहलाता है। इस दृष्टि से शर शब्द शरीर का भी द्योतक है। शर या शरीर में जो 'भा' या प्रकाश है, वही शरभ या सर्वात्मा है। मानव शरीर क्षर और अक्षर, मर्त्य और अमर, क्षणभंगुर और शाश्वत—दोनों तत्वों का अद्भुत संगम है। 'शर' अपने में क्षर है, पर शर के भीतर विराजमान शरभ अक्षर है। शरीर क्षणभंगुर है, पर आत्मा अविनश्वर है। यही आत्म तत्व परमात्मा के प्रकाश का प्रतिनिधित्व करता है। शर ही क्षेत्र है और शरभ क्षेत्रज्ञ। क्षेत्र को सक्षम और सनातन बनाने वाला तत्व क्षेत्रज्ञ के प्रकाश में है। यही जीवात्मा को विश्वात्मा के साथ मिलाने वाला आत्मा का आलोक है।

मुंडकोपनिषद् आत्मा को 'शर' (बाण) की संज्ञा देते हुए प्रणव को धनु और ब्रह्म को लक्ष्य सिद्ध करता है। कठोपनिषद् शरीर को रथ और शरीरी आत्मा को रथ का स्वामी बताता है। इस प्रकार 'शर' शब्द काफी सारगर्भित है जिसके बहुरंगी प्रकाश को प्रकट करने वाला यह 'शरभ' शब्द सारमती सर्वशक्तिमत्ता को बहुधा व्यंजित करता है। आंध्र

में कोटप्प कोंड नाम का एक पुण्य क्षेत्र है। यह एक पहाड़ के टीले पर प्रतिष्ठित बाल कोटीश्वर का पवित्र धाम है जहां पर महाशिवरात्रि के दिन दूर-दूर से लोग आकर परम शिव की आराधना करते हैं। इनमें अधिकतर गांव के अनपढ़, पर सुसंस्कृत शिवभक्त होते हैं जो बैल गाड़ियों पर भगवान् को प्रतिष्ठित कर स्वयं पैदल चलते हैं और रास्ते में जगह-जगह पर भगवान् की स्तुति करते हुए 'शरभ' के नाम से प्रसिद्ध स्तोत्र गाते हैं। ये 'शरभ' स्तोत्र प्रायः भावावेश में तत्काल प्रणीत स्वकपोल प्रसूत रचनाएं होती हैं जिनमें परमात्मा के प्रेम, प्रकाश और पराक्रम का भावुक गुणगान भरा हुआ होता है। अखिलेश्वर की अतुलनीय गरिमा की, सर्वातोमुख सुषमा को प्रकट करने वाला यह 'शरभ' नाम सर्वथा स्मरणीय है।

अगला नाम है—'भीम'। धर्मराज के छोटे भाई का नाम भीम है और धर्मराज सहस्रनाम के श्रोता हैं। इस परिवेश को दृष्टि में रखकर इस नाम को हृदयंगम करना चाहिए। कौरव सेना में भीष्म और पांडव सेना में भीम का विशेष स्थान है। महाभारत के युद्ध के पहले दुर्योधन आचार्य द्रोण को अपनी और परायी सेना का परिचय कराते समय क्रमशः 'भीष्माभिरक्षित' और 'भीमाभिरक्षित' पदों का प्रयोग करते हैं। भीष्म और भीम समानार्थक शब्द भी हैं। भीष्म ने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करने की भीषण प्रतिज्ञा की और उसी निष्ठा के बल पर वह मृत्युंजय बन गए। इसी प्रकार द्रौपदी चीर हरण के हृदय विदारक प्रसंग में दुर्योधन और दुःशासन की दुर्मदांधता का सही प्रतीकार करने की भीषण प्रतिज्ञा भीम ने भी की। इसलिए जब तक भीष्म

जीवित रहेंगे तब तक कौरव सेना की विजय अवश्यंभावी है और जब तक भीम सक्रिय रहेंगे तब तक वह अपनी प्रतिज्ञा को कार्य रूप में प्रत्यक्ष दिखादेंगे और पांडवों की विजय निश्चित है। इसलिए भीम और भीष्म महाभारत के और विशेषकर भारत युद्ध के प्रमुख पात्र हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से देखने पर भी सत् और असत् के बीच में जो सनातन समर चलता रहता है, उसमें भी भय की भावना का विशेष महत्व है। श्रुति कहती है किसो अव्यक्त परम सत्ता से भयभीत होकर ही हवा चलती है, सूर्य का उदय उसी भय के कारण होता है और उसी के भय से बिजली, अग्नि और मृत्यु अपने-अपने काम नियमित रूप से करती हैं।

"भीषास्माद्वातः पवति भीषोदेति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्चाग्निश्च मृत्युर्धावति पंचमः॥"

सांसारिक जीव भी 'स्वयं भयभीत होकर भय की उपासना में विलीन बनकर सबको भय दिखाता' रहता है। संसार में धर्म की रक्षा करने वाली दो मूलभूत भावनाएं हैं—भय और भक्ति। इन्हीं दो में भगवान् का भीम रूप और सौम्य रूप निहित हैं। अपने को भीमाकृति में कब प्रकट करना है और सौम्याकृति में कब—यह 'समयज्ञ' भगवान् जानते हैं।

समय की सच्ची पहचान सर्वात्मा का सबसे प्रमुख लक्षण है। स्वयं समय का साकार रूप होने से उनसे बढ़कर समयज्ञ संसार में और कोई नहीं हो सकता। सामान्यतः काल का बोध कराने वाले 'समय' शब्द का दूसरा अर्थ भी है। वह है—समझौता, संविदा या वादा। अगर भगवान् ने किसी से

कोई संविदा या इकरारनामा बना लिया हो या किसी को कोई वचन दिया हो तो उसका वह ज़रूर पालन करेंगे। वह वचनबद्ध होते हैं। केवल प्रतिज्ञा का पालन करना ही नहीं, बल्कि सही समय पर वह अपना कार्य करते हैं। उचित समय पर उचित कार्य करने में ही काल रूपी भगवान् की समयज्ञता है।

'समयज्ञ' शब्द को सम और यज्ञ का समस्त रूप समझ लिया जाए तो इस नाम का एक और अर्थ निकलता है जो यज्ञ से संबंध रखता है। 'यज्ञो वै विष्णुः'—इस सूक्ति के अनुसार भगवान् विष्णु यज्ञ के रूप में विराजमान होते हैं। यह यज्ञ कई प्रकार का हो सकता है—ध्यान यज्ञ, ज्ञान यज्ञ, नाम यज्ञ, जप यज्ञ, द्रव्य यज्ञ, तपो यज्ञ आदि। 'समयज्ञ' शब्द में सम को ही यज्ञ माना गया है। "समत्वं योग उच्यते"—समभावना ही योग है और वही याग है। संसार के समस्त सच्चिंतन का सार 'सम' के दो अक्षरों में समा जाता है। सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, शीत-उष्ण, जय-पराजय, सत्-असत्—सबको समभाव से देखना ही सबसे महान् यज्ञ है। संगीत की पारिभाषिक पदावली में भी 'सम' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। 'सम' पर ताल लगने पर ही नाद सौंदर्य निष्पन्न होता है। विश्व-वीणा की तंत्रियों से निकलने वाले निरंतर मधुर नाद में भी यही समवेत स्वर सुनाई देता है जिसमें समात्मा की समयज्ञता यज्ञ के रूप में प्रकट होती है।

'समयज्ञ' नाम की यही यज्ञ भावना अगले नाम 'हविर्हरि' नाम में भी विस्तार पाती है। यज्ञकुंड में जो आहुति दी जाती है, उसको 'हवि' कहा जाता है। हवि को स्वीकार

कर उसे सही स्थान पर पहुंचाने वाले परमात्मा को ही यहां पर 'हविर्हरि' कहा गया है। यज्ञ का सार ले जाने वाले हरि का नाम लेने मात्र से यज्ञ का फल मिल जाता है। 'समयज्ञ' के नाम में सम भावना से संपन्न आचरण को यज्ञ कहा गया है और उसके बाद हविर्हरि का नाम देकर सर्वात्मा को समस्त आचरण का स्वामी बताया गया है। हम जो कुछ करते हैं, उसका सार ग्रहण करने का दायित्व सर्वेश्वर पर है। इसी ईश्वरीय भावना के साथ, आत्मसमर्पण की निर्लिप्त, निरीह और निर्मम भावना के साथ, जो कुछ किया जाता है उसमें न फल की आशा होती है, न सफलता पर प्रफुल्लता होती है न विफलता पर निराशा होती है और न कर्तृत्व की मिथ्या धारणा होती है। आचरण में जब यह सम भावना आ जाती है तो जीवात्मा अपने को सर्वात्मा का ही अभिन्न अंग अनुभव करता है। 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' —ब्रह्म स्वयं दोष रहित और साम्यमूलक है, इसलिए समभावना के उपासक ब्रह्म के साथ समासीन हो जाते हैं। वे अपने को अपने आचरण के आलंबन में अनुप्राणित पाते हैं। जब दोनों में तादाम्य की भावना स्थापित हो जाती है तो जीवात्मा के सभी लक्षण परमात्मा में अपने लक्ष्य को परिलक्षित पाते हैं। समता, ममता, माधुर्य, गांभीर्य, दया, क्षमा आदि सभी लक्षणों की पराकाष्ठा परमात्मा में दिखाई देती है। मां लक्ष्मी के स्वामी में सभी लक्षण विद्यमान हैं। उन्हीं को देखकर हम विभिन्न गुणों के लक्षण बताते हैं। उन्हीं को देखकर हम विभिन्न गुणों के लक्षण बताते हैं। सत्य, प्रेम, धर्म और शांति का सही रूप समझने के लिए हमें सर्वात्मा की सरस रमणीय कथाओं को हृदयंगम करना होगा। इसी सर्वगुण संपन्नता की ओर संकेत करते हुए महर्षि नारद आदि

कवि वाल्मीकि के सामने नरोत्तम राम का आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

इतने शुभ लक्षणों से युक्त भगवान् की लक्षणीयता के पीछे एक रहस्य है और वह है—मां लक्ष्मी का साहचर्य। मंगल देवता रमा सदा उनके साथ रहती हैं, तभी वह सर्वगुण संपन्न बन सके हैं। असल में 'सम' शब्द में 'मा' (लक्ष्मी) के साथ रहने की भावना व्यंजित होती है। 'मया सह' (मा या लक्ष्मी के साथ) कह कर भी 'सम' शब्द की व्याख्या की जा सकती है। इसलिए 'समयज्ञ' और 'लक्ष्मीवान्—ये दोनों नाम एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसी सम (समता और श्री संपन्नता) भावना के कारण परमात्मा की विजय अवश्यंभावी होती है।

इस श्लोक का अंतिम नाम 'समितिंजय' इसी सनातन विजय को घोषित करता है। जिसमें 'सम' की भावना है, वही 'समिति' पर विजय पाता है। प्रायः समर या युद्ध को 'समिति' कहा जाता है। कई लोगों के एकत्रित होने की अवस्था को भी समिति कहा जा सकता है। आजकल 'कमिटी' के अर्थ में 'समिति' शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। यहां पर समिति शब्द का, बहुत ही व्यापक अर्थ में, प्रयोग हुआ है। यहां पर जन मानस या जन संचलन का सम्मिलित रूप है—चाहे वह समर भूमि हो या जीवन लीला का सर्वसाधारण क्षेत्र हो—वहां पर उसे 'समिति' की संज्ञा दी जा सकती है। इसी व्यापक अर्थ में यहां पर भगवान् को 'समितिंजय' कहा गया है। 'सम' भावना के बल पर ही 'समिति' पर विजय प्राप्त होती है। भगवान् कृष्ण के बारे में

यह उक्ति बहुत ही प्रचलित है कि जहां धर्म है, वहां कृष्ण हैं और जहां कृष्ण है, वहां विजय है।

'यतो धर्मस्ततोकृष्णः—यतोकृष्णस्ततो जयः'

धर्मपरायण की इस विजय की निरंतरता, गतिशीलता, महनीयता और अतिजीविता अगले श्लोक में स्पष्ट होता है—

"विक्षरो रोहितो मार्गो हेतुर्दामोदरः सहः।
महीधरो महाभागो वेगवानमिताशनः ॥" ४०॥

क्षरात्मक तत्व से एकदम दूर और बिलकुल भिन्न अक्षर तत्व क्षरणशील शरीर के साथ-साथ रहता है, पर उसके मिट जाने के बाद भी बच रहता है, बल्कि आगे बढ़ता रहता है, घटता नहीं। अक्षर परब्रह्म की इस अविनाशिता के कारण उसे 'विक्षर' कहा गया है। स्थूल दृष्टि से देखने पर वह भी मिटता या घटता-सा दिखाई देता है। पर वास्तव में मिटने वाले घटने वाले पार्थिव तत्व से उसका कोई शाश्वत संबंध नहीं है। मिट्टी, पानी, तेज, हवा और आकाश से बने हुए मानव शरीर में पहले तीन तत्व साकार हैं, दिखाई देते हैं। पर अंतिम दो तत्व—हवा और आकाश-दिखाई नहीं देते। ये निराकार तत्व क्षरणशील तत्व के आधार के बिना भी निरंतर संचरणशील रहते हैं। 'वायुरनिलम् अमृतम्'—इस श्रुति के अनुसार शरीर ही भस्म बन जाता है, पर शरीर के अंदर का समीर अमर है। वही पार्थिव तत्व को आकाश के साथ मिलाकर उसमें विलीन कर देता है। मिट्टी-मिट्टी में मिल जाती है और आकाश अनंत शून्य में।

इससे भी आश्चर्य की बात यह है कि जो मिटता-सा दिखाई देता है, वह भी असल में मिटता नहीं है। वह फिर उत्पन्न हो जाता है। जैसे फसल पक जाती है तो कट जाती है। पर उसी फसल का बीज फिर अगली फसल में पल्लवित हो जाता है। श्रुति भी कहती है—'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते, सस्यमिवाजायते पुनः।' (सस्य की तरह मनुष्य पक जाता है और फिर पैदा होता है।) इसलिए जो चीज हमें दिखाई देती है, वह न तो क्षर है, न अक्षर है। इन दोनों का मिला जुला यह पार्थिव शरीर वास्तव में 'विक्षर' है क्योंकि यह मिट कर भी जुट जाता है, नष्ट होकर भी फिर स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार मर-मर कर फिर जीने वाले इस सनातन तत्व को अगले नाम में 'रोहित' की संज्ञा दी गई है। 'रुह्' (उगना) धातु से रोहित शब्द बनता है। उगना जिसका सहज लक्षण है, मिटना उसके लिए संभव नहीं है। वास्तविक तत्व मिटता नहीं है अवास्तविक मिट जाता है। प्रलय में भी जो मछली नहीं मिटती है, वही महामत्स्य रोहित कहलाता है। परमात्मा की चिरंतन सत्ता इसी रोहित के समान है जो अविनश्वर, विक्षर और सनातन है। जो तत्व अविनाशी होता है, वह एक ही स्थान तक या एक ही परिधि में सीमित नहीं होता। वह सर्वत्र फैला हुआ—सर्वव्यापी—होता है। पर आश्चर्य की बात यह है कि वह सबको दिखाई नहीं देता। उसको ढूंढने पर ही उसका पता लग सकता है। इसलिए उसे 'मार्ग' कहा गया है। 'मृग्यते' (खोजा जाता है।)—इसलिए वह मार्ग है। उसे कैसे और कहां खोजा जाए, इसका स्पष्टीकरण अगले नाम 'हेतु' में पाया जाता है।

वह सबका 'हेतु' है, कारणों का कारण है। प्राणियों का

हेतु अन्न है, अन्न का हेतु 'वर्षा' है, वर्षा का हेतु 'यज्ञ' है, यज्ञ का हेतु 'कर्म' है, कर्म की प्रेरणा ब्रह्मा से मिलती है और ब्रह्म पदार्थ अक्षर से निकलता है। इस प्रकार हेतुवाद का पर्यवसान भी उसी अक्षर भारती में होता है। अक्षर का विक्षर बन जाना ही सृष्टि का रहस्य है। क्षर और अक्षर में विलीन इस विक्षर तत्व को खोजने का यही सही मार्ग है। हेतुवाद से उसे बांधना या पकड़ना संभव नहीं है क्योंकि वह लंबोदर है, उसका पेट बहुत ही लंबा चौड़ा है।

एक बार मां यशोदा ने बालकृष्ण को नटखट समझकर रस्सी से बांधना शुरू कर दिया, पर वह संभव नहीं हो सका। महोदर को दामोदर बनाने का सारा प्रयास विफल हो गया। यशोदा की मानसिक तुष्टि के लिए वह बंदी तो बना दिखाई दिया—पर बंदियों को मुक्ति प्रदान करने के लिए। 'दाम' शब्द के दो अर्थ हैं—रस्सा और माला। जिस रस्सी से हम परमात्मा को बांधने की कोशिश करते हैं, वह उनके लिए माला बन जाती है। 'दम' से भी 'दाम' बनता है। अपने को 'दम' (संयम) का सबक सिखाने पर दामोदर का पता चलता है।

सकल चराचर जगत् को मोह पाश में बांधने वाले परमात्मा को छोटी रस्सी से बांधने का प्रयास यशोदा माता ने किया था। पर अंतर्यामी बालक हंसी खुशी में सब कुछ सह रहा था। परमात्मा की सहनशीलता की यह पराकाष्ठा है। उनको अपनी अपरिमेय शक्ति का पूरा भरोसा है और प्राणी मात्र पर अपार अनुकंपा है। इसलिए वह सब कुछ सह लेते हैं। अगला नाम 'सह' बहुत छोटा है, पर बहुत ही सार

गर्भित है। सब को सहने वाला, सब के साथ रहने वाला, सबको पार करने वाला और सबको पार लगाने वाला 'सह' कहा जाता है। 'सह' का मतलब ही 'साथ' है। वह किस-किस के साथ नहीं है ? सबके साथ, सदा साथ है और सर्वत्र साथ है। सुख में, दुःख में, घर में, कानन में, जनन में, निधन में, क्षर में, अक्षर में, ध्यान में, ध्येय में, पृथ्वी में, आकाश में सर्वत्र सदा वह सबके साथ है। इसलिए 'सह' नाम भगवान् की सर्वसहायता का समर्थ प्रतिपादन करता है।

वही 'महीधर' है, पहाड़ के समान है। भगवान् का सहारा समस्त जगत् को मिलता है। सारी मही या पृथ्वी का धारण करने वाले पर सभी लोगों का समान अधिकार है। वह सबका है और सब उनके हैं। इसलिए वह 'महाभाग' हैं। सारा संसार उन्हीं का है, उन्हीं का बसा हुआ है। इसमें किसी का अपना कोई स्वत्व नहीं है। सब लोग अपना-अपना भाग्य (अपने भाग में जो कुछ मिला है) भगवान् की देन समझकर उसी की आराधना में उसका विनियोग या उपयोग कर लेते हैं। इतने विशाल विश्व में अपनी संपत्ति और संतति को व्याप्त पाकर विश्वात्मा सर्वत्र विराजमान होते हैं। एक कोने से दूसरे कोने में पहुंचना उनके लिए कोई कठिन काम नहीं है क्योंकि वह वेगवान् है। वायुवेग और मनोवेग से उनका वेग अधिक है। श्रुति कहती है—

"अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्
तद्धावतोन्यानन्येति तिष्ठत्
तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।"

(एक जगह टिका हुआ होने पर भी वह मन से भी अधिक गतिशील होता है। पहले निकले देवता भी उसे पा नहीं सकते। दौड़ने वाले प्राणियों को भी वह आसानी से पकड़ लेते हैं। उसी में पानी और हवा को आश्रय मिलता है।)

यह है परमात्मा की गतिशीलता। सारा संसार उनकी गति और स्थिति में समा जाता है। संसार की उत्पत्ति उन्हीं से होती है और लय भी उन्हीं में होती है। प्रलय के समय सारा विश्व उनके कराल मुंह में समा जाता है। इसलिए उनको 'महाशन' कहा गया है। असल में सभी लोग जो कुछ खाते पीते हैं, वह सब उन्हीं का भोजन है, उन्हीं को संतुष्ट करने के लिए है। शरीर के भीतर बैठे हुए भगवान् वैश्वानर को शांत करने के लिए ही हम भोजन करते हैं। यही ईश्वरीय भावना भोजन को पावन बना देती है। भगवान् ने भी स्पष्ट शब्दों में इस बात की घोषणा कर दी—

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमास्थितः
प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥"

—०—

२०. करण कारण कर्ता

सर्वेश्वर की सर्वलक्षण सपन्नता का सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत करने के बाद अगले श्लोक में परमेश्वर की परम पावन उदात्तता, गंभीरता और कार्यपरायणता का वर्णन किया जाता है—

"उद्भवः क्षोभणो देवः श्रीगर्भः परमेश्वरः ।
करणं कारणं कर्ता विकर्ता गहनो गुहः" ।।४१।।

सारा संसार सर्वात्मा से ही समुद्भूत होता है। पर सर्वात्मा का उद्भव और किसी से नहीं होता। वह स्वयं 'उद्भव' हैं। जो उत्पन्न होता है, वही भव या संसार कहा जाता है। भव से ऊपर स्थित होने के कारण परमात्मा को यहां पर उद्भव कहा गया है। भगवान् शंकर को भी 'भव' कहा जाता है। शंकर से भी उदात्त स्थिति में होने के कारण भी परमात्मा 'उद्भव' हैं। जब वह स्वयं उद्भव हैं, तो उनके और किसी पदार्थ से उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। भव का उद्भव उन्हीं के संकल्प से होता है।

यही 'क्षोभण' है। जब तक किसी वस्तु में कोई क्षोभ उत्पन्न नहीं होता तब तक उद्भव संभव नहीं है। अंधकार

का मंथन करने से आलोक फैलता है, समुद्र का आलोडन करने से अमृत निकलता है और विष भी निकलता है और मानस के मंथन से मनुष्य की महनीयता का परिचय मिलता है। क्षोभ से ही चेतना जाग पड़ती है और लोभ से चेतना मुड़ पड़ती है। अतः क्षोभण परमात्मा की पावन लीला का प्रत्यक्ष प्रमाण है। यही लीला भगवान् को 'देव' की संज्ञा से अभिहित कर देती है। संसार को संचालित और संभावित करना सर्वात्मा का स्वभाव है। सृष्टि, स्थिति और लय—तीनों के प्रवर्तक परमात्मा के इन्हीं तीन गुणों को व्यंजित करने वाले नाम हैं—उद्भव, देव और क्षोभण। पर ध्यान देने की बात यह है कि इन तीनों नामों के क्रम में पहले उद्भव (सृष्टि), बाद में क्षोभण (लय) और अंत में देव (स्थिति) का उल्लेख किया गया है। सृष्टि और स्थिति के बीच में लय का अवस्थान है। जो प्रकट होता है, उसका पार्थिव तत्व लीन हो जाता है, पर उसका अपार्थिव आलोक हमेशा प्रकाशित होता है।

इसी चिरंतन कांति पुंज को 'श्रीगर्भ' कहा गया है। 'श्री' तत्व जिसके गर्भ में है उससे उद्भूत प्रत्येक पदार्थ सश्रीक होता है। श्री मुख्यतः लक्ष्मी का नाम है। श्री के दो अर्थ हैं—अमृत और विष। ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। आपस में मेल न खाने वाले दो विरोधी तत्वों को अपने में समाए रखने में ही श्रीगर्भ की सश्रीकता है।

यही सश्रीकता श्रीगर्भ को 'परमेश्वर' बनाती है। परमेश्वर सबका प्रभु है, इसलिए उनका और कोई प्रभु नहीं है। प्रभुओं के प्रभु, पालकों के पालक, शासकों

के शासक और ईश्वरों के ईश्वर होने के कारण वह परमेश्वर हैं।

वही संसार के समस्त कार्यों को संपन्न करने में सहायक सर्वश्रेष्ठ साधन हैं। साधकतम होने के कारण उनको 'करण' की संज्ञा दी गई है। कर्ता को कर्म के आचरण में यथेष्ट सहायता पहुँचाने वाला उत्कृष्ट साधन 'करण' कहलाता है। कर्ता हमेशा स्वतंत्र होता है। वह जब चाहे, जो चाहे, जैसे चाहे, कर सकता है। वह क्यों करता है, यह कोई नहीं कह सकता। यह करने वाला ही जानता है और कभी-कभी वह भी नहीं जानता है। पर वह जिनको करण या साधन बनाकर करता है, वह तो स्पष्ट दिखाई देता है। कारण कभी स्पष्ट होता है और कभी अस्पष्ट होता है। जब कारण अस्पष्ट होता है तब कर्ता विकर्ता बन जाता है। जब कर्ता करते हुए भी न करता हुआ दिखाई देता है तब वह विकर्ता बन जाता है। यही गीता में वर्णित विकर्म है। परमात्मा कार्य को संपन्न बनाने में सहायक करण के रूप में भी है, उसके पीछे स्पष्ट और दोनों रूपों में भासित होने वाले कारण के रूप में भी है और कर्ता के रूप में भी है और विकर्ता के रूप में भी।

इसलिए वह गहन हैं, गूढ़ हैं, आसानी से समझ में आने वाले नहीं हैं। इसीलिए उनको 'गुह' भी कहा गया है। किसी गह्वर गुहा में गूढ़ रूप से प्रकाशित होने वाले परमात्मा को गहन गोचर गुह कहना बहुत ही समीचीन है। आदि कवि वाल्मीकि ने रामचंद्र के सखा और आराधक केवट को गहनगोचर कहा है (गुहो गहन गोचरः)। शिवजी के पुत्र कुमार को भी गुह कहा जाता है। जो गंभीर है, गहन है, वह गुह है। परमात्मा का अवस्थान भी गहन और गुह है।

इस आत्मा का अवस्थान अगले श्लोक में वर्णित है—

"व्यवसायो व्यवथानः संस्थानः स्थानदो ध्रुवः ।
परर्द्धिः परमस्पष्टस्तुष्टः पुष्टः शुभेक्षणः" ॥४२॥

व्यवसाय सारी व्यवस्था का आधार है। निश्चित धारणा को लेकर निर्मल मन से निर्दिष्ट दिशा में निर्विराम गति से आगे बढ़ना और अध्यवसायिता से काम करना ही व्यवसाय है। विराट् विश्व का शासन, अनुशासन और प्रशासन संचालित करने वाले विश्वात्मा में इसी व्यवसायत्मिक बुद्धि के होने से सारा काम-काज ठीक-ठीक चल रहा है। पल भर भी वह खाली नहीं बैठते और क्षणभर भी वह एक जगह नहीं रहते। देश-काल से परे होते हुए भी देश-काल का पूरा-पूरा उपयोग किया जाता है। इसलिए भगवान् को 'व्यवसाय' कहा गया है। कितना सुन्दर नाम है और साथ ही कितना सारगर्भित। व्यवसाय एक मनोदशा या मनोधर्म का द्योतक है, न कि व्यक्तिवाचक। फिर भी परमात्मा का सूक्ष्माति-सूक्ष्म स्वरूप किसी मनोवृत्ति का भी प्रतीक बन सकता है। इसी 'व्यवसाय' के फल स्वरूप जो अन्य परिणाम निकलते हैं, वे ही अगले नामों में व्यंजित हैं।

दिन रात मेहनत करने से संसार की सारी व्यवस्था ठीक हो जाती है। कौन-सी चीज़ कहां किस रूप में कब प्रस्तुत करनी है और कौन-सा काम किस तरह किस प्रयोजन के लिए संपन्न करना है, यही व्यवसाय पुरुष का 'व्यवस्थान' है। अव्यवस्थित जगत् को सुव्यवस्थित बनाने में ही भगवान् की व्यवसायिता का प्रयोजन है। सारे संसार में एक ही अखंड चेतना विराजमान है। वही सभी प्राणियों में निर्धारित

मात्रा में नियमित रूप से फैल जाती है। इस प्रकार समस्त प्राणियों में अपने को फैलाने वाले अनंतात्मा की आनंदभावना में ही उनका व्यवस्थान है।

इसी व्यवस्था में सभी लोग बसे हुए हैं, संस्थित हैं। प्रत्येक प्राणी समझता है कि मैं अलग हूं, मेरा बसेरा अलग है, मेरे शरीर की अपनी विशेषताएं हैं, मेरे मस्तिष्क की अपनी महत्ता है, मेरी पूंजी अपनी निजी है और मैं सबसे विलक्षण हूं। पर वास्तव में विश्वात्मा की इस विराट् व्यवस्था में किसी की कोई अलग सत्ता नहीं है। एक ही सत्ता में सभी लोग स्थित हैं और सब में उसी की सत्ता सुव्यवस्थित, सुनियोजित और सुविभाजित रूप में फैली हुई है। इसलिए उस सर्वसत्ताक परमात्मा को 'संस्थान' कहा गया है।

वही सबको यथोचित स्थान प्रदान करता है। इसलिए वह 'स्थानद' हैं। परमात्मा के द्वारा प्रदान किया गया यह स्थान क्षणिक दिखाई देने पर भी तात्विक दृष्टि से वह शाश्वत है, ध्रुव है क्योंकि वह स्वयं अचंचल और शाश्वत हैं। अंतरिक्ष में जितने तारे हैं, सब चंचल हैं, पर ध्रुव तारा अपनी जगह पर टिकी रहती है और सबका स्थान नियत करती है। इसी प्रकार परमात्मा भी स्वयं निश्चल, निर्मल और निर्विकल्प रूप धारण कर स्थिर होते हैं और सबको गतिशील और आयतनवान् बनाते हैं। सबको स्थान निर्धारित करने वाले 'स्थानद' का अपना स्थान 'ध्रुव' ही हो सकता है।

इसी प्रकार भगवान् की समृद्धि या ऋद्धि का भी एकमात्र प्रयोजन सबको समृद्ध बनाना है। औरों को समृद्ध बनाने

के लिए वह अपनी ऋद्धि की व्यवस्था कर लेते हैं। इसलिए वह 'परर्द्धि' है। वह समृद्धि की पराकाष्ठा हैं, इसलिए भी वह 'परर्द्धि' कहे जा सकते हैं। वह सबके साथ हैं, सबसे उनका लगाव है और सभी लोग उनके अस्तित्व, प्रकाश और प्रेम का अनुभव करते हैं। इसलिए वह परम स्पष्ट हैं। जो वस्तु एक ही स्थान पर एक ही समय में एक ही प्रेक्षक समूह के लिए गोचर होती है, उसको साधारण रूप से हम स्पष्ट कह सकते हैं। पर जो सर्वत्र सदा सबके लिए समान रूप से स्पष्ट है, वह परम स्पष्ट है। स्पष्टता की यही पराकाष्ठा सर्वात्मा के सार्वभौमिक अस्तित्व, प्रकाश और प्रेम में परिलक्षित होती है। इसी तरह अपने लाभ से संतुष्ट होना साधारण प्राणी की तुष्टि का परिचायक है। पर परमात्मा सबके संतोष में अपना संतोष देखते हैं और सबके पोषण को अपना पोषण मानते हैं। इसलिए वह हमेशा 'तुष्ट' और 'पुष्ट' हैं। यही स्वस्थ दृष्टिकोण विश्व की शासन व्यवस्था को संतुलित बनाए रखता है। इस दृष्टि से देखने पर संसार में सर्वत्र शुभ ही शुभ दिखाई देता है। सबकी भलाई में अपनी भलाई देखने वाला सबको अच्छा समझते हैं। उनकी दृष्टि में कोई बुरा नहीं है और न कहीं कोई बुराई हो सकती है। इस समदर्शिता से संपन्न सर्वात्मा को 'शुभेक्षण' कहा गया है जो कि इस श्लोक का अंतिम नाम है।

नित्य तुष्ट और सदा पुष्ट राम राज्य का वर्णन करते हुए आदिकवि अपनी रामायण की भूमिका में कहते हैं—

"प्रहृष्ट मुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः।"

राम राज्य में सभी लोग हमेशा खुश रहते थे, संतुष्ट रहते थे और हृष्ट-पुष्ट जीवन बिताते थे क्योंकि वे धर्मपरायण थे। सत्य और धर्म को दो चरण बनाकर संचरण करने वाले सनातन स्वामी के शासन में लोग तुष्टि और पुष्टि का अविरत अनुभव करते रहे, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। राम राज्य की यही रमणीय कल्पना अगले श्लोक में साक्षर और साकार बन जाती है—

"रामो विरामो विरतो मार्गो नेयो नयोऽनयः।
वीरः शक्तिमतां श्रेष्ठो धर्मो धर्म विदुत्तमः॥"४३॥

इस श्लोक का पहला नाम 'राम' दशरथ नंदन राम का भी द्योतक हो सकता है और साधु संतों के सात्विक अंतःकरण में सनातन और सात्विक रूप में सर्वदा संचरित होने वाले सर्वांतर्यामी राम का भी प्रतीक बन सकता है। दशरथ नंदन राम भी धर्म परायण, धर्म प्रवण, धर्मप्राण और धर्म के मूर्त रूप हैं। परब्रह्म राम और दशरथ नंदन राम में तात्विक दृष्टि से कोई अंतर नहीं है। इसलिए भगवान् को 'राम' कहने में जितनी सार्थकता है, 'विराम' कहने में भी उतनी ही सच्चाई है। वह राम भी हैं और विराम भी। संसार के समस्त प्राणियों में सदा रममाण होने वाली सर्व-शक्तिसंपन्न चेतना उनसे अलग रह कर भी उनको नियंत्रित करती है। वह सबके साथ हैं और सबसे अलग भी हैं। मर्त्य में जो अमरत्व के लक्षण हैं, उनके साथ राम का सपर्क है। जो क्षणभंगुर लक्षण हैं, उनसे वह अलग हैं। इसलिए निरति और विरति दोनों भगवान् में हैं। मानव जीवन की पावन भावना में वह हमेशा रममाण और निरत हैं तो उसी

की तुच्छ वासनाओं से वह हमेशा दूर, पराङ्मुख और विरत होते हैं। राम, विराम और विरत—इन तीन नामों में भगवान् की निर्लिप्त प्रेम लीला का रहस्य निहित है।

यह निर्लिप्त राम निर्विकल्प हैं। वह हमेशा विद्यमान हैं और हर जगह विद्यमान हैं। पर जिनमें देखने की शक्ति है, खोजने की क्षमता है और अनुभव करने का अधिकार है, उन्हीं के लिए वह प्रकट होते हैं। इसलिए उनको 'मार्ग' कहा गया है। मृग्यते—खोजा जाता है, इसीलिए वह मार्ग है। भगवान् को खोजते-खोजते हम जिस मार्ग पर चलते हैं, वही मार्ग भगवान् का रूप बन जाता है। खोजने का जो साधन है, उसी में खोज की सामग्री है। इसी विचित्र घटना की ओर संकेत करते हुए कबीर कहते हैं—

"लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल"

श्रुति भी कहती है कि इसके लिए कोई दूसरा मार्ग ही नहीं है (नान्यः पंथा विद्यते—अयनाय।) 'राम का अयन' खोजने के लिए और कोई रास्ता ही नहीं है, राम ही एक मात्र मार्ग है। राम के सहारे ही, राम के भरोसे ही, राम नाम का संबल लेकर ही राम के अयन पर पहुंचना संभव है। वही रास्ता दिखाने वाला है और वही खुद रास्ता बन बैठा है। यह सचमुच एक अजीब कल्पना है। इससे भी चौंकानेवाली बात अगले तीन नामों में मालूम पड़ती है—नेय, नय और अनय। जिनको ले जाना है, जो ले जानेवाला है और जिनको कोई नहीं ले जाता है—ये तीनों वही मार्ग रूपी परमात्मा के अलग-अलग रूप हैं। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता तीनों विशुद्ध ज्ञान स्वरूप परमात्मा के तीन विभिन्न रूप हैं।

इसी प्रकार ध्यान, ध्येय और ध्येता भी परमात्मा के ही रूप हैं ! इसी सादृश्य पर यहां नेता, नेय और नयको परमात्मा के प्रतिरूप बताया गया है। चलने वाले को चलाने वाले की जो चाल होती है, वही नय है। यह कभी-कभी अनय भी बन जाता है। चलते हुए भी नहीं चलता—सा दिखाई देना और न चलते हुए भी चलता-सा नजर आना सबको चलाने वाले चालक की चाल की चाल-चलन की विशेषता है। नय-अनय की इसी विचित्रता में धर्मपरायण राम के अयन की विशेषता है। राम अपने में अचल हैं, पर राजतिलक की भावना ने राम को गतिशील बना दिया। लोक कल्याण की भावना से ही राम का अयन शुरू होता है। अन्यथा वह केवल रमणशील रमणीयता के मूर्त रूप हैं। रामायण की रमणीयता का रहस्य इस श्लोक के ग्यारह नाम उद्घाटित करते हैं।

अगला नाम है—'वीर'। राम को 'वीर' कहने में कोई विशेषता नहीं दिखाई देती। पर 'वीर' शब्द की गहराई में पैठकर देखने से पता चलता है कि इसमें राम तत्व का सार समा गया है। मुंह से निकलने वाले समीर (हवा) से जो वाणी बनती है, वही ईरण या ईर है। सुनने में मधुर, मनन करने में रमणीय और आनंद की अनुभूति में अलौकिक लगने वाली वाणी भगवान् राम की निजी संपत्ति है। वह 'वदतां वर' (बोलने वालों में श्रेष्ठ) हैं। उनकी वाणी की इसी रमणीयता की ओर यह 'वीर' शब्द संकेत करता है। पर वह केवल वाग्वीर नहीं हैं, कार्यं शूर भी हैं, काम करने में भी पटु हैं। इस बात को अगला नाम स्पष्ट करता है।

वह 'शक्तिमतां श्रेष्ठ'—शक्तिशालियों में श्रेष्ठ—हैं। संसार में शक्तिशाली लोग अनेक हो सकते हैं। पर शक्ति या

सामर्थ्य के साथ-साथ सौजन्य और सौंदर्य का मेल बहुत कम पाया जाता है। राम की शक्तिमत्ता की यही सबसे बड़ी विशेषता है कि उसमें सामर्थ्य, सौजन्य और सौंदर्य की त्रिवेणी का मधुर मंजुल प्रवाह दिखाई देता है। इसीलिए उनकी शक्ति का सार्थक प्रयोग होता है। धर्म की रक्षा करना ही उनकी शक्तिमत्ता का एकमात्र प्रयोजन है। सबसे पहले राम जब घर से निकल पड़े तो विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करना उनका एकमात्र ध्येय था। मिथिला पहुँचे तो राजा जनक की प्रतिज्ञा की रक्षा करना उनका प्रधान आशय था और जानकी के साथ उनका विवाह प्रासंगिक था। इसी प्रकार वनवास की दीक्षा ग्रहण की तो पिता की सत्यनिष्ठा को सुनिश्चित करने के लिए। रावण से घोर युद्ध किया तो अधर्म का अंत करने के लिए न कि अपनी पत्नी को पुनः प्राप्त करने के लिए। इस प्रकार राम की हर चेष्टा में धर्म के प्रति पूर्ण निष्ठा का परिचय मिलता है। वह धर्म के मर्मज्ञ हैं और स्वयं धर्म के मूर्त रूप हैं। 'रामो विग्रहवान् धर्मः' —के अनुसार यहां पर भगवान् का नाम ही 'धर्म' रखा गया है क्योंकि धर्म का रहस्य जानने वालों में वह सर्वश्रेष्ठ हैं—धर्म विदुत्तम हैं। वह इतने धर्मिष्ठ हैं कि उनको देखने से ही धर्म की भावना जाग पड़ती है। जहां राम है, वहां धर्म है, धर्म सम्मत कर्म भावना है। धर्मिष्ठता और कर्मिष्ठता का मणि-कांचन संयोग राम के जीवन के पग-पग में दिखाई देता है।

यह राम वैकुंठ में विराजमान परम पुरुष, प्राण पति प्रणव स्वरूप परमात्मा हैं, यह बात अगले श्लोक में स्पष्ट होती है—

वैकुंठः पुरुषः प्राणः प्राणदः प्रणवः पृथुः ।
हिरण्यगर्भः शत्रुघ्नो व्याप्तो वायुरधोक्षजः ।।४४।।

भगवान् की गति कभी कुंठित नहीं होती। अबाध गति से वह आगे बढ़ते हैं। इसलिए वैकुंठ उनके परम धाम का नाम है और वही उनका भी नाम है। वैकुंठ कहने मात्र से वैकुंठवासी परम पुरुष का बोध होता है। पुरुष शब्द ही उनका वाचक बन सकता है। सभी प्राणियों में प्रवेश कर सबके आगे रहकर सबको अपने साथ ले चलने वाले परमात्मा के हाथ में सबके प्राण हैं। प्रधान प्राण या मुख्य प्राण वही हैं। वही सबको प्राण प्रदान करते हैं। इसलिए वह 'प्राण' भी है और 'प्राणद' भी। सबके प्राण उन्हीं में निहित हैं। अपान, उदान, समान, व्यान—चारों प्रकार के प्राणों के मूल में जो प्रधान शक्ति प्राण रूप में विराजमान होती है, वही परमात्मा का रूप है। वह पुरातन से पुरातन हैं और नवीन से नवीन हैं। इसलिए उनको प्रणव की संज्ञा दी गई है। वह हर जगह व्याप्त हैं, सबसे महान् हैं, सबसे विशाल हैं और सबसे विराट् हैं। इसलिए वह 'पृथु' हैं।

उनके अंदर संसार की सारी संपत्ति निहित है। इसलिए वह हिरण्यगर्भ हैं। उनको देखते ही दुश्मन डर के मारे कांप उठते हैं। और भाग जाते हैं। इसलिए वह 'शत्रुघ्न' हैं। वह सब जगह फैले हैं। ऐसी कोई जगह नहीं है, जहां पर उनकी पहुंच न हो। इसलिए वह 'व्याप्त' हैं। वह इस तरह से व्याप्त हैं—जैसे 'हवा'। हवा हर जगह रहती है। इसी प्रकार भगवान् भी सर्वत्र विराजमान होते हैं। इसलिए उनको वायु की संज्ञा दी गई है। हवा खुशबू फैलाती है।

इसी प्रकार वायुरूपी भगवान् संसार के कण-कण में सुगंध फैलाते हैं।

लेकिन सर्वत्र विराजमान सर्वात्मा का हम तब तक अनुभव नहीं कर पाते जब तक हमारी इंद्रियजन्य भावना अंतर्मुख नहीं हो पाती। सृष्टिकर्ता ने सभी इंद्रियों को बहिर्मुख बना दिया है, बाहर की तरफ़ उनका मुंह खोलकर रखा है। इसलिए साधारण व्यक्ति बाहर के सुख से संतुष्ट हो जाता है, भीतर का ऐश्वर्य देखने का प्रयास नहीं करता। कोई-कोई पहुँचा हुआ संत इन इंद्रियों को अंतर्मुख बनाकर आंतरंगिक आनंद का रसास्वादन कर पाता है। भीतर के आनंद की तुलना में बाहर का कोई भी सुख, चाहे वह कितना भी महान् हो—टिक नहीं पाता। इसी अलौकिक, आंतरंगिक और अनुभव से ही जानने योग्य आत्मानंद को प्राप्त करने के लिए 'अधोक्षज' की अनुकंपा आवश्यक है। अधोमुखी अक्षों (नेत्रों) से प्राप्य यह आत्मानंद ब्रह्मानंद से भी बढ़कर है। ब्रह्मांड पुराण में यही बात कही गई है—

स्वात्मानंदलवीभूतब्रह्माद्यानंदसंततिः।

—o—

२१. ऋतु में ऋत

अनंत काल की निरंतर गति में आत्मा का निवास है और परमात्मा का अवस्थान है। चतुर्भुज भगवान् विष्णु के हाथ में जो सुदर्शनचक्र दृश्य जगत् में अदृश्य रेखाओं को अंकित करते हुए स्वयं अलंकृत होता रहता है, वह इसी काल-चक्र का कमनीय प्रतीक है। इसी काल की नियमित और निर्विराम गति को सहस्रनाम का अगला श्लोक दस नामों में दर्शाता है—

ऋतुः सुदर्शनः कालः परमेष्ठी परिग्रहः।
उग्रः संवत्सरो दक्षो विश्रामो विश्वदक्षिणः ॥४५॥

काल का अस्तित्व ही काल्पनिक है। वास्तव में काल का कोई विश्लेषण या विभाजन संभव नहीं है। वह अनादि है, अनन्त है और असीम है, पर अक्षुण्ण और अविनश्वर है। इसलिए भगवान् काल की संज्ञा से अभिहित हैं। काल का जानकार परमात्मा का पारखी बन सकता है। लोक साक्षी भगवान् भास्कर के साक्षात्कार से ही काल का सापेक्ष बोध संभव हो जाता है। दिन-रात उन्हीं के अस्तित्व या प्राकट्य पर आधारित हैं। सूर्योदय से सूर्यास्त तक का समय, काल का सबसे अटल प्रमाण है और इसी मौलिक कल्पना के आधार पर घड़ी, पहर, दिन, सप्ताह, पखवाड़ा, महीना,

ऋतु, अयन, वर्ष, युग आदि काल-मापक प्रस्तुत हो गए हैं। काल का, कल्पित रूप से ही सही, मापन करने वाली इन इकाइयों में ऋतु ही एक मात्र ऐसी सत्ता है जो निराकार काल पुरुष को साकार बनाती है। दिन दिखाई नहीं देता, महीना दिखाई नहीं देता, वर्ष दिखाई नहीं देता, पर ऋतु या मौसम में परमात्मा की परमपावन और बहुमुखी सुषमा स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। वसंत का उल्लास, ग्रीष्म की प्रचंडता, वर्षा की शीतलता, शरद की सांद्र चंद्रिका, हेमंत की सुनहली छटा और शिशिर की सातुर विह्वलता अनुभव की वस्तुएं हैं। मानव जीवन के साथ इन परिवर्तनशील परिस्थितियों का गहरा संबंध है। मानव को माधव से मिलाने वाली मधुरिमा इसी ऋतु सौंदर्य में विद्यमान है। कभी वासंती बहार को वाहन बनाकर, कभी जेठ दुपहरी के झुलसते क्षणों के बीच में से और कभी सरिताओं को सरसाने वाली बरसात की रसधाराओं के साथ प्रकृति के स्वामी प्रकट होते हैं। वही स्वामी कभी शरद् के साथ सैर करते हैं, हेमंत के साथ हंसते हैं और शिशिर के साथ सिहर उठते हैं। स्वामी का यही सुदर्शन रूप इस श्लोक के पहले तीन नामों में प्रकट होता है। काल निराकार है, पर ऋतु साकार है। भगवान् के इन साकार और निराकार प्रतिरूपों के बीच में प्रतिष्ठित सुदर्शन न केवल भगवान् के हाथ का सायुध आभूषण है, बल्कि गतिशील जगत् का चलता-फिरता प्रतीक है।

भगवान् काल के संचालक अवश्य हैं, पर काल के अधीन नहीं हैं। वह कालातीत हैं। देश काल की सीमा से परे अदेश और अकाल के अनंत अंतराल में उनका निवास है।

इसीलिए उनको परमेष्ठी की संज्ञा दी गई है। परम व्योम में प्रतिष्ठित परमात्मा पार्थिव जगत् से निर्लिप्त या निस्संग नहीं है। वह सबको अपनी ओर खींच लेते हैं और सबके साथ सीधा संबंध बनाए रखते हैं। सबके गुण-दोष, पाप-पुण्य, सुख-दुःख, हर्ष-शोक सब कुछ ग्रहण कर लेते हैं। इसलिए वह परिग्रह हैं।

परमेष्ठी कालपुरुष जब चारों तरफ की परिलब्धियों को समेटकर आगे बढ़ता है तो कभी-कभी उग्ररूप भी धारण करता है। इसी उग्ररूप से व्यग्र होकर संसार संयत गति से निरन्तर आगे बढ़ता रहता है। एक संवत् के बाद दूसरा संवत् संसरणशील प्राणी की भांति किसी स्वायत्त सत्ता की परिक्रमा करता-सा दिखाई देता है। यही संवत्सर समस्त चराचर जगत् का आवास है। प्रति वर्ष वही वसंत, वही ग्रीष्म, वही वर्षा, वही शरद, वही हेमन्त और वही शिशिर किसी विश्ववीणा में अपने स्वर मिलाकर मधुर रागिनियां सुनाते-से नज़र आते हैं। इसी लय में संसार बसता है। इसी गति में चराचर स्वामी की स्थिति है। समस्त प्राणियों के चिर निवास और चरम आवास के रूप में विराजमान परमात्मा संवत्सर की संसरणशीलता में साकार होते हैं।

जो सब में बसता है और सबको बसाता है, वह सब कुछ कर सकता है। सभी दृष्टियों से वह 'दक्ष' है। संसार में उसके लिए असंभव कुछ नहीं है। अज्ञान के कारण हम कभी-कभी समझते हैं कि अमुक काम हमारी सामर्थ्य से संपन्न हुआ है, यह हमारी दक्षता का प्रमाण है। पर वास्तव में दक्ष को दक्षता प्रदान करने वाला दक्षिणेश्वर वही विश्वदक्ष

परमात्मा है। दक्षता के इसी दम्भ को परमेश्वर के तैजस दूत वीरभद्र ने चूर-चूर कर दिया था। अपने को दक्ष मानने वाले दंभी का दर्प मिटाकर संसार भर में अपनी अनुकम्पा को प्रसारित करने वाला स्वामी सबको दक्ष बना सकता है और आवश्यकतानुसार सबको विश्राम भी प्रदान कर सकता है। असल में भगवान् का नाम लेना ही विश्राम का अमोघ साधन है। जीवन के संग्राम में लड़-लड़कर निराशा के क्षणों में विश्राम की खोज में निकल पड़ने पर सर्वलोकाश्रयी स्वामी सबको विश्राम प्रदान करते हैं। स्वामी और सेवक एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं। स्वामी को विश्राम देना सेवक का धर्म है। पर परमात्मा संसार का ऐसा विलक्षण स्वामी है जो अपने सेवक को विश्राम देने के लिए हमेशा तत्पर रहता है। यही लोकस्वामी की विशेषता है जो उनको भूरिदक्षिण और विश्वदक्षिण बनाती है।

विश्वात्मा सबके लिए अनुकूल होते हैं। 'न मे द्वष्योऽस्ति न प्रियः'—उनके लिए न तो कोई अत्यंत प्रेमी है, न शत्रु। सबको समान रूप से देखने के कारण सर्वात्मा सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी बन जाता है। इसी विस्तार की महनीयता अगले श्लोक में प्रसक्त है—

> विस्तारः स्थावरस्थाणुः प्रमाणं बीजमव्ययम्।
> अर्थोऽनर्थो महाकोशो महाभोगो महाधनः ॥४६॥

संसार के कोने-कोने में सर्वात्मा की सत्ता फैली हुई है। जड़-चेतन, स्थावर-जंगम, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे सब में परमात्मा का अंश है। अन्तर केवल मात्रा का है। किसी में दिव्यता अधिक होती है और किसी में कम। पर सबमें उसका अंश

किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान है। नश्वर प्राणियों में अविनश्वर आत्मतत्व इस प्रकार समाया हुआ है कि प्राणियों का पार्थिव अस्तित्व मिट जाए तो भी उनके भीतर का अपार्थिव आत्म-तत्व अक्षुण्ण बना रहता है। वह स्थावर भी है और स्थाणु भी। वह अचंचल है और स्थिर है। उसके अस्तित्व के लिए किसी बाहरी प्रमाण या साक्ष्य की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं अपना प्रमाण है। संसार है। मैं हूं, मैं करता हूं, मैं देखता हूं—मेरे अन्दर की यह जो चेतना है, वही जड़ चेतन के स्वामी के निरंतर, विस्तृत, स्थावर और शाश्वत अस्तित्व का प्रमाण है। परमात्मा के विस्तार की एक और विशेषता है। वह स्वयं अमिट रहकर अपना विस्तार कर लेते हैं। अक्सर सृष्टि में देखा जाता है कि बीज से पेड़ पैदा होता है, पर बीज का रूप मिट जाता है। बीज से पेड़ बनता है और फिर पेड़ से नये बीज बन जाते हैं। पर बीज के मिट जाने पर ही उसका विस्तार होता है। किन्तु परमात्मा, जो सृष्टि के बीज रूप हैं, ऐसे साधारण क्षरणशील बीज नहीं हैं। वह ऐसे बीज के समान हैं जो खुद नहीं मिटता, पर अपने को फैलाता है। इसीलिए उनको अक्षय बीज या 'बीजमव्ययम्' कहा गया है।

इसके बाद भगवान् के दो नाम आते हैं—अर्थ और अनर्थ। स्थूल दृष्टि से देखने पर इन दोनों में विरोध का आभास दिखाई देता है। वह अर्थ भी हैं और अनर्थ भी। यह कैसे हो सकता है ? यहां पर अर्थ का सही अर्थ समझने में ही इन दोनों नामों के पीछे निहित परमार्थ है। अर्थ बहुत ही व्यापक शब्द है। मानव मन में जितने विचार उठते हैं, जितनी धारणाएं बनती हैं, जितने प्रत्यय प्रकट होते हैं, वे सबके

सब 'अर्थ' की परिधि में आते हैं। संसार में जो कुछ प्राप्त करने योग्य पदार्थ हैं, वह भी अर्थ के अंतर्गत आता है। जो कुछ अभिलषणीय है, प्रापणीय है, प्रार्थनीय है, वह सब अर्थ है। इसके अलावा शब्द-संसार में सुनने में आने वाले अनेक शब्दों के पीछे जो मूल आशय होता है, वह भी अर्थ है। संक्षेप में, जिसे प्राप्त करना है, जिसे प्राप्त करने से जीवन धन्य होता है, वही अर्थ है। इस अर्थ में भगवान् केवल अर्थ ही नहीं, बल्कि परम अर्थ हैं। इसी परमार्थ की ओर यह छोटा-सा नाम संकेत करता है। परम वरणीय, परम ग्रहणीय परतत्व 'अर्थ' का छोटा-सा नाम परमार्थ के पारखी के सामने प्रस्तुत कर देता है।

पर 'अर्थ' के नाम से अभिहित यही परम सत्ता 'अनर्थ' कैसे? क्योंकि वह कुछ नहीं चाहता। उसके लिए पाने योग्य और कोई अर्थ संसार में नहीं है। यहां पर वनवास के लिए तत्काल तैयार होकर कैकेयी को संबोधित करते हुए भगवान् राम के कहे वचन अनायास याद आते हैं—

'नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे'।

(देवी, मैं अर्थ-परायण नहीं हूँ, मैं सारे संसार को बसाने के लिए उत्सुक हूँ।)

जिसमें कोई कामना नहीं हो, जो अपने लिए कुछ नहीं करना चाहता हो, जिसमें स्वार्थ की गंध तक न हो, वही अनर्थ है। इस अर्थ में परमात्मा अनर्थ भी हैं। 'जा को कछू न चाहिए, सोई साहंसाह'—वही राजाधिराज परमेष्ठी महाकोश हैं, महा भोगी हैं और महाधन भी। इस श्लोक

के ये अंतिम तीन नाम परमात्मा की इसी परमोत्कृष्टता को स्पष्ट करते हैं।

असल में देखा जाय तो संसार का सार दो ही चीजों में है—अर्थ और परमार्थ। जब तक जीवित हैं तब तक अर्थ से सब कुछ बन जाता है। भौतिक जीवन से प्राणी विश्राम लेता है तो परमार्थ साथ आता है। पर परमात्मा का आश्रय लेने से अर्थ और परमार्थ दोनों प्रशस्त बन जाते हैं। अर्थ और अनर्थ दोनों प्रकार की परस्पर विरोधी, पर परस्पर निकट विभूतियों से विभूषित होने के कारण परमात्मा का कोश विलक्षण है, महान है। उनके कोश की विशेषता है कि उसमें से कितना भी निकाला जाए उतना और वह बढ़ जाता है। यही आनन्दमय कोश है जो अन्नमय कोश, मनोमय कोश आदि से श्रेष्ठ है। वह अन्न से भी अधिक पौष्टिक है, मन से भी अधिक विस्तृत है और आनन्द उसकी अक्षय निधि है। संसार के समस्त कोशों का सारतत्व उसमें समाया हुआ है।

जैसा कोश है, वैसा भोग भी है। जिसका कोश जितना महान् होगा, उसका भोग भी उतना विराट होगा। महा-कोश परमात्मा महान् भोगी हैं। संसार के समस्त प्राणियों का भोग अंततः उन्हीं को मिलता है। वह महाधन भी है। वास्तव में पार्थिव-अपार्थिव दोनों प्रकार का कोश, भोग और धन परमात्मा में पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है। उन से बढ़कर कोशकार, भोगी और धनी अन्यत्र नहीं है। 'ईशावास्यमिदं सर्वम्'—यह सब उन्हीं का बसा बसाया बसेरा है।

विराट् पुरुष की इस महनीयता के पीछे जो धर्म-सम्मत कामना है, उसका विशद वर्णन अगले श्लोक में किया जाता है—

अनिर्विण्णः स्थविष्ठोऽभूर्धर्मयूपो महामखः।
नक्षत्रनेमिर्नक्षत्री क्षमः क्षामः समीहनः ।।४७।।

'निर्वेद' नाम की चीज़ भगवान् में नहीं है। वह कभी निराश नहीं होते। वह दृढ़व्रती हैं, मन के पक्के हैं और कभी हिम्मत नहीं हारते। दुनियां लाख बुरी होती है, लोग बहुत ही भ्रष्ट रहते हैं, स्वार्थ, हिंसा और वासना का प्रकोप बराबर बढ़ता रहता है। पर परमात्मा कृतसंकल्प है कि पापी से पापी प्राणी भी ज्ञान के स्पर्शमात्र से सुधर सकता है। सबका उद्धार संभव है। परमात्मा के सुधार-क्षेत्र से कोई नहीं छूट सकता। सब पर उनकी कृपा दृष्टि बराबर बनी रहती है। कभी निर्विण्ण या निर्वेद से ग्रस्त न होने के कारण भगवान् को यहां अनिर्विण्ण कहा गया है।

वह स्थविष्ठ हैं, सबसे बड़े हैं, सबको दिखाई देते हैं। उनका आकार-प्रकार इतना महान् और विराट् है कि कोई उनको नज़रअन्दाज़ नहीं कर सकता। पर चर्म चक्षुओं को वह दिखाई नहीं देते। भौतिक दृष्टि से उनकी सत्ता विषय-गोचर नहीं होती। भू-तत्व से वह अलग हैं। इसलिए वह 'अभू' हैं। संसार में जितनी क्रियाएं होती हैं, वे सबकी सब दो प्रकार की मूल धातुओं से विकसित है—'भू' और 'वा'। इसी परम सत्य की ओर संकेत करते हुए भगवान् पाणिनि कहते हैं—'भूवादयो धातवः'। भू (रहना) और वा (बहना)—इन्हीं से समस्त धातुओं का विस्तार होता है, सारी चेष्टाओं का प्रसार होता है और समस्त सत्ता का संचार होता है।

निश्चल रूप से संसार के कण कण में प्रतिष्ठित परम सत्ता ही भूवाचक है और उसी का विस्तार, प्रसार, प्रचार और संचार प्राणवायु की तरह समस्त प्राणियों को संचालित करता है। वा (बहना) से ही वायु शब्द निष्पन्न होता है। भू (रहना) से ही भूमि शब्द निष्पन्न होता है। एक दृश्य है, दूसरा अदृश्य। परमात्मा के दृश्य और अदृश्य पक्षों का प्रतिनिधित्व करने वाले ये दोनों तत्व क्रियाशील जगत् का रहस्य बताते हैं। इन दोनों मूल धातुओं को—भू और वा को—भगवान् का यह नाम प्रकट करता है। इस नाम को दो प्रकार से पढ़ा जा सकता है—भू और अभू। स्थविष्ठ+भू या स्थविष्ठ+अभू—दोनों प्रकार से विग्रह किया जा सकता है। अगर भगवान् को भूवाचक समझ लिया जाए तो शुद्ध पार्थिव रूप में उनका साक्षात्कार हो जाता है। अगर 'अभू' के रूप में उनको देखा जाए तो पवन की भांति संचरित होने वाले उनके अपार्थिव 'पावन' तत्व को भी हृदयंगम किया जा सकता है। वह 'भू' भी हैं और 'अभू' भी। वह पैदा होते हैं और नहीं भी होते। यही परमात्मा की सत्ता की भव्यता है।

इस भव्यता के पीछे भगवान् को धर्मनिष्ठा भी देखी जा सकती है। इसी की ओर संकेत करता है अगला नाम 'धर्मयूप'। धर्म ही उनको समस्त संसार से बांध देता है। संसार का संचालन उनके लिए महान् यज्ञ है। इस यज्ञ का आचरण वह धर्म रूपी स्तम्भ के आधार पर करते हैं। मन में कभी निर्वेद को स्थान न देना, अपनी बात पर डटे रहना, पृथ्वी में रहते हुए थी अपार्थिव लक्षणों से युक्त रहना—ये सभी गुण पिछले नामों में आ चुके हैं। उन्हीं की पुष्टि 'धर्मयूप' और 'महामख' से हो रही है। भगवान् का यज्ञ

साधारण नहीं है, महान यज्ञ है, क्योंकि इससे किसी व्यक्ति विशेष का कल्याण नहीं होता, बल्कि सकल चराचर सृष्टि का कल्याण इसका ध्येय है।

भगवान् का धर्म क्षेत्र कहां तक विस्तृत है, इसकी ओर संकेत करते हैं—अगले दो नाम—नक्षत्रनेमी और नक्षत्री। वह नक्षत्रों के केन्द्र हैं और स्वयं नक्षत्रों से जुड़े हुए हैं। सारा ज्योति-मंडल उन्हीं के सहारे चल रहा है। इतने सारे ब्रह्मांड को चलाने में वह सक्षम हैं और सारी सृष्टि के नष्ट होने पर भी वह अविनाशी तत्व के रूप में विद्यमान रहते हैं। 'क्षम' और 'क्षाम' दोनों शब्द इसी विलक्षण क्षमता का गुणगान करते हैं। क्षमता और क्षमता की उपज—दोनों के वह मूर्तरूप हैं। यह सब इसलिए संभव है क्योंकि उनकी इच्छा शुभ संकल्प से प्रेरित है। उनकी शिव कामना समस्त संसार की भलाई के लिए है। इसलिए उनको 'समीहन' (अच्छी इच्छाओं से अलंकृत) कहा गया है। भगवान् की भी कुछ इच्छा है और वह यह है कि हमारी कोई गलत या अमंगल कामना न हो। मंगलमय भगवान् की मंगल कामना में समस्त संसार का अमंगल तत्व विलीन हो जाता है। विराट् पुरुष की इच्छा भी विराट् होती है।

शिव संकल्प से प्रेरित परम शुभाभिलाषी परमात्मा के आचरण, संचरण और समीरण में ज्ञान का प्रकाश कैसे दिखाई देता है, यह अगले श्लोक में देखा जा सकता है—

यज्ञ इज्यो महेज्यश्च क्रतुः सत्रं सतां गतिः।
सर्वदर्शी विमुक्तात्मा सर्वज्ञो ज्ञानमुत्तमम् ॥४८॥

'यज्ञो वै विष्णुः' —यज्ञ ही भगवान् हैं। यह उपनिषद्

का सिद्धांत है। सर्वव्यापक परमात्मा को यज्ञ कहा गया है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायंते' —ये समस्त प्राणी कहां से आ रहे हैं, कैसे जा रहे हैं, और कहां जा रहे हैं—इस रहस्य को जान लेना ही यज्ञ (यत्+ज्ञ) है। भगवान् ही यज्ञ हैं। इसका मतलब यह भी निकलता है कि हम यज्ञ रूपी भगवान् को समझने के लिए, जानने के लिए और पाने के लिए यज्ञ करते हैं अर्थात् यज्ञ के द्वारा यज्ञ को प्राप्त करना चाहते हैं। यज्ञ करने वाला, यज्ञ के द्वारा प्राप्त होने वाला और यज्ञ का अनुष्ठान—तीनों तत्वतः एक ही हैं। हम अपने को जानने के लिए अपना ही सहारा लेकर अपने को स्पन्दनशील बना लेते हैं। कितना गहरा रहस्य इन तीनों नामों में छिपा हुआ है—यज्ञ, इज्य और महेज्य। जिस के लिए यज्ञ किया जाता है, वही इज्य है। ऐसे कई देवता हैं जिनको संतुष्ट करने के लिए यज्ञ किया जाता है। पर वे सभी देवता यज्ञ रूपी भगवान् विष्णु को संतुष्ट करने के लिए स्वयं यज्ञ के अनुष्ठान में लगे रहते हैं। इसलिए परम वरेण्य महेज्य की आराधना करने से यज्ञ का चरम ध्येय सिद्ध हो जाता है।

यज्ञ कई प्रकार का हो सकता है—ज्ञान यज्ञ, कर्म यज्ञ, ध्यान यज्ञ, प्राण यज्ञ आदि। उसी को प्रकार भेद से क्रतु, सत्र, मख आदि संज्ञाएं दी जाती हैं। चाहे वह किसी भी रूप में हो, सच्चे रास्ते पर चलकर सत्य का साक्षात्कार करना ही उसका सात्विक लक्ष्य होता है। अग्निहोत्र के माध्यम से आदित्य के हृदय को आह्लादित करने की साधना हो, वाणी के माध्यम से प्रणववाच्य परमात्मा को दहराकाश में देखने की भावना हो या परमात्मा से वरदान के रूप में प्राप्त अंगों को परमार्थ की साधना में लगाकर कर्मवीर आत्मा की

पवित्रता में धर्मवीर परमात्मा का साक्षात्कार है। 'सतांगतिः'—साधु सन्तों का चरम ध्येय वही यज्ञ पुरुष हैं।

परमात्मा सबकी साधना को पहचानता है। सच्चे दिल को परखने वाले भगवान् सर्वदर्शी हैं। कोई स्थान नहीं, जहां पर उनकी दृष्टि नहीं पहुँचती हो। पर सब कुछ देखते हुए भी वह निर्लिप्त हैं, विमुक्त हैं। वह किसी बंधन में नहीं पड़ते। दूसरों को बंधन से मुक्ति दिलाने वाले पुरुषोत्तम स्वयं बंधन में कैसे पड़ेंगे ? स्वयं मुक्त होने के कारण ही वह दूसरों को मुक्त करते हैं। इसलिए उनको विमुक्तात्मा कहा गया है। वह सब कुछ जानते हैं, इसलिए 'सर्वज्ञ' हैं। उनका ज्ञान उत्तम श्रेणी का है क्योंकि उनको जानने के बाद और कुछ जानने योग्य नहीं रहता। भगवान् को जानना परमार्थ को जानना है। परमार्थ ही परमात्मा का उत्तम ज्ञान है। 'सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म'—सत्य ही ज्ञान है और ज्ञान का उत्तम रूप ही भगवान् है।

—o—

२२. वत्सर वत्सल वत्सी

उत्तम ज्ञान के माध्यम से सज्जनों को सद्गति प्रदान करने वाले सर्वदर्शी स्वामी के सद्गुण अगले श्लोक के दस नामों में एक सुव्यवस्थित योजना के अनुसार प्रकट किए जाते हैं—

सुव्रतः सुमुखः सूक्ष्मः सुघोषः सुखदः सुहृत्।
मनोहरो जितक्रोधो वीरबाहुर्विदारणः ॥४६॥

लोक कल्याण की मंगल कामना से काम करने वाले पुरुषोत्तम का प्रत्येक कार्य उत्तम होता है, पूजनीय और प्रशंसनीय होता है। उनका व्रत या संकल्प शुभ होता है। उनकी मुख मुद्रा वंदनीय होती है। उनका अंतःकरण अत्यंत सूक्ष्म और सुसंस्कृत होता है। उनकी वाणी रमणीय होती है। उनकी हर चेष्टा दूसरों को सुख प्रदान करने वाली होती है। इसलिए उनको सुव्रत, सुमुख, सूक्ष्म, सुघोष और सुखद कहा गया है। इन सब विभूतियों का रहस्य उनका निर्मल हृदय है। वे सुहृत् हैं, सबके मित्र हैं, अकारण दूसरों की हित-साधना में लगे रहते हैं। पहली पंक्ति के इन छह नामों पर कुछ गहराई के साथ सोचने से एक सुन्दर क्रम दिखाई देता है। 'सुव्रत' शब्द में मंगल कामना से प्रेरित

महनीय आचरण है जिससे काम-वासना का एकदम निराकरण हो जाता है। 'सुमुख' शब्द में प्रसन्न मुख मुद्रा की ओर संकेत है जिसमें क्रोध का लव लेश भी टिक नहीं पाता। इसी प्रकार 'सूक्ष्म' में लोभ का, 'सुघोष' में मोह का, 'सुखद' में मद का और 'सुहृत्' में मात्सर्य का खंडन ध्वनित होता है। जो बारीकी से सोच कर अच्छे-बुरे, हित-अहित, हानि-लाभ आदि का विवेचन कर सकता है, उसके मन में लोभ की भावना प्रवेश नहीं कर सकती। यही 'सूक्ष्म' नाम की सूक्ष्मता है। जिनकी वाणी निर्मल होती है उनके मन में मोह के लिए कोई गुंजाइश नहीं हो सकती। स्वच्छ हृदय से सच्ची बात निकलती है और उसमें सत् को असत् या असत् को सत् समझने का कोई खतरा नहीं हो सकता। दूसरों को सुख देने वाला अहंकारी या दांभिक नहीं हो सकता। वह अधिकार, संपत्ति या यौवन की मादकता से एकदम मुक्त रहता है। वह किसी भी हालत में मदांध नहीं बन सकता। इन छह नामों में अंतिम नाम है—सुहृत्। जो अकारण सब का हित करता है, वही सुहृत् है। मित्र तो उपकार करने वाले का ही उपकार करता है। पर सुहृत् उससे भी ऊंचा है क्योंकि वह बिना प्रतिफल की कामना के अपने शत्रु का भी स्वागत करता है। इसलिए उसमें 'मात्सर्य' की कोई गुंजाइश नहीं हो सकती। मात्सर्य से पीड़ित व्यक्ति दूसरों के अहित में आसक्त रहता है, चाहे उससे उसका अपना हित होता हो या न हो। इसके विपरीत सुहृद्भाव से ओतप्रोत सज्जन का मन अपरिचित व्यक्ति का भी हित चाहता है। इस प्रकार इन छह नामों में हमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य नाम के छह मानसिक शत्रुओं का निरसन दिखाई पड़ता है। एक-एक करके सभी शत्रुओं

का निराकरण हो जाने पर परम वरेण्य परमात्मा के साक्षात्कार से अंतःकरण आलोकित हो जाता है। यह ध्यान देने की बात है कि इन छह नामों का आरंभ पूज्यवाचक निपात 'सु' से होता है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'सु' कर्मप्रवचनीय कहा जाता है। इससे कर्म का प्रवचन या क्रिया की व्याख्या होती है और जिस कर्म के बारे में यह बताता है, उसे वह सर्व श्रेष्ठ और पूजनीय सिद्ध करने की चेष्टा करता है। यहां परमात्मा को सुव्रत, सुमुख, सूक्ष्म, सुघोष, सुखद और सुहृत् कहने में उनके इस आचरण की परम आदरणीयता की ओर संकेत है।

यही नहीं, अपने उत्तम ज्ञान के आधार पर तीनों लोकों का शासन करने वाले लोकस्वामी की प्रशासन-पटुता भी इन नामों में प्रकट होती है। परम वरिष्ठ प्रशासक के रूप में परमात्मा के इन छह नामों में छह प्रमुख प्रशासकीय लक्षण बताए गए हैं। सफल प्रशासक को सबसे पहले दृढ़व्रत होना चाहिए। संकल्प शुद्ध, सात्विक और कल्याणकारी होना चाहिए। विभीषण की शरणागति के प्रसंग में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के द्वारा घोषित महाव्रत का यहां पर स्मरण करना प्रासंगिक होगा—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(एक बार ही सही 'मैं तेरा हूँ' कहकर जो मेरी शरण में आता है, वह चाहे कोई भी हो, उसको अभय प्रदान करना मेरा व्रत है।)

शत्रु, मित्र, उदासीन की विवक्षा के बिना सबको समान रूप से अपनाकर आश्रय देने का यह संकल्प सर्वेश्वर को 'सुव्रत' सिद्ध करता है। सच्चे प्रशासक के लिए भी इसी प्रकार का सुव्रत आवश्यक है।

सुव्रत के साथ सुमुख भी होना चाहिए। व्रत तो मानसिक है और मुख मुद्रा बाहरी है। अंदर का अमलिन मन बाहर की प्रसन्नता में प्रतिबिंबित होना चाहिए। सच्चे शासक को हमेशा हंसमुख रहना चाहिए, चाहे उसके ऊपर शासन का कितना भी गुरुतर भार हो और चाहे वह कितनी ही चिंताओं से व्याकुल हो। गले में गरल, पर चेहरे पर चंद्रकला—यही महेश्वर की सुमुखता का प्रमाण है। जिस में इस प्रकार की सहज प्रफुल्लता हो, वह दूसरों को भी प्रसन्न वदन बना सकता है। सुमुख शासक के लिए सारी प्रजा सुमुख बन जाती है। अनावश्यक गंभीरता, कृतक पटाटोप, प्रच्छन्न प्रसन्नता आदि बुरे लक्षण प्रशासन को दुःशासन बना देते हैं। प्रशासक के मन में जो विचार या संकल्प होते हैं, उनके प्रति प्रजा को सुमुख बनाना बहुत ही आवश्यक है।

प्रशासक का तीसरा लक्षण है—सूक्ष्म निरीक्षण पटुता। किसी भी विचार को अमल में लाने के पहले उसकी बारीकियों को ठीक-ठीक परखना जरूरी है। पहले अपने विचारों को पक्का कर लेना और उनके लिए अपनी और दूसरों की अनुकूलता प्राप्त कर लेना जितना जरूरी है, उससे होने वाले परिणाम का परिशीलन करना भी उतना ही आवश्यक है। यही 'सूक्ष्मता' प्रशासन की सफलता का आधार है। इसी लक्षण को ध्यान में रखकर भगवान् को 'सूक्ष्म' कहा गया है।

इस प्रसंग में लोक नियंता का चौथा नाम है—'सुघोष'। उनके विचार जितने सुलझे हुए होते हैं, मुखमुद्रा जितनी प्रसन्न होती है और विवेचनशीलता जितनी पैनी होती है, उतनी ही मीठी, सीधी और प्यारभरी होती है—उनकी वाणी। अपने मन के विचारों को मननीय ढंग से प्रकट करने की महती क्षमता उनको 'सुघोष' सिद्ध करती है। सारी देववाणी उन्हीं की उद्घोषणा है। अपनी बात सही और सक्षम ढंग से प्रकट करने की क्षमता प्रशासक का चौथा लक्षण है जो 'सुघोष' नाम में व्यंजित है।

ये चारों लक्षण प्रशासक के पूर्व रंग के अंतर्गत आते हैं जब कि पांचवां लक्षण, जो सुखद नाम के द्वारा व्यंजित है, चिंतन के परिणाम की ओर संकेत करता है। समस्त शासन का एकमात्र ध्येय सार्वजनिक सुख होना चाहिए। सुख देने वाला शासन ही सुशासन है। सुख शब्द में सारे वायुमंडल की सात्विक शीतलता और प्रफुल्लता की ओर संकेत है। किसी व्यक्ति विशेष, जाति विशेष या समुदाय विशेष को सुख शांति प्रदान करने वाला शासन उत्तम नहीं माना जा सकता। धरती और प्रकाश के बीच के समस्त अंतराल को आनंद से आप्लावित करने वाला शासन सर्वात्मा का सत्य शासन है। इसलिए वे सच्चे अर्थों में 'सुखद' हैं। 'मा कश्चिद् दुःख भाग् भवेत्', 'सर्वे जनाः सुखिनो भवंतु,' 'समस्तसन्मंगलानि भवंतु,' 'लोकाः समस्ताः सुखिनो भवंतु'—आदि मंगल कामनाओं में मंगलमय भगवान् की इसी दिव्य मंगलता का गुणगान किया जाता है।

लोकपालक परमात्मा का अगला लक्षण है—सौहार्द, जो

'सुहृत्' नाम के द्वारा व्यक्त किया गया है। उनका दिल अच्छा है। अच्छे दिलवाले के सामने कोई भी प्रशासनिक समस्या उत्पन्न नहीं हो सकती। सद्भावना और सार्वजनिक सौहार्द से प्रेरित होकर जो भी काम किया जाता है, वह सुखद होता है।

इस प्रकार सुव्रत, सुमुख, सूक्ष्म, सुघोष, सुखद और सुहृत्—इन छह नामों में प्रशासन के प्रमुख तत्वों की प्रासंगिक व्याख्या मिलती है। प्रासंगिक इसलिए कि भारत युद्ध में विजय प्राप्त युधिष्ठिर के सामने राष्ट्र का शासन चलाने का भी प्रश्न था और धर्म के आधार पर ही वह अपने नव संचित राज्य का पालन करना चाहते थे। युधिष्ठिर की इसी धर्म जिज्ञासा को ध्यान में रखकर आचार्य भीष्म लोक नायक भगवान् के लक्षण बताने लगते हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो श्री विष्णु सहस्रनाम के प्रत्येक नाम में लोक प्रशासन के मूल सूत्रों की बड़ी मार्मिक विवेचना पाई जाती है। यह बात इसी श्लोक के अगले चार नामों का अनुशीलन करने से स्पष्ट हो जाती है।

अगला नाम है—'मनोहर'। परमात्मा का शासन मन बहलाने वाला होता है, मन को दबाने वाला नहीं। शासित को पता तक नहीं चलता कि उसके ऊपर किसी का शासन चल रहा है। जब मन से मन का हरण कर लिया जाता है तो आत्मा से आत्मा का मिलन होता है और शरीर को शासन का बोध नहीं होता, शासन क्या, किसी अन्य सत्ता का भी बोध नहीं होता। परम पिता का शासन इतना मनोहर होता है कि उसकी सुखद शीतल छाया में दुश्मन का मन भी प्रसन्न हो जाता है क्योंकि उसमें सहज आत्मीयता की भावना है,

आधिपत्य का लेश मात्र भी उसमें समावेश नहीं होता। प्रेम से प्रफुल्ल प्रभु का मन समस्त प्राणियों को प्रेम से पुलकित बना देता है, एक दूसरे को प्रेम से आबद्ध कर देता है। "यह लीला जिसकी विकस चली, वह मूल-शक्ति थी प्रेम कला"— इसी प्रेम कला का संदेश सुनाने के लिए मंगलमय भगवान् का मनोहर शासन चलता है।

प्रभु के प्रेम-राज्य में प्रकोप या प्रचंडता का एकदम अभाव हो, ऐसी बात नहीं है। आवश्यकतानुसार प्रभु का क्रोध भी प्रकट हो जाता है, पर संयत रूप में। जिस पर जिस अवस्था में और जिस मात्रा में क्रोध प्रकट करना बिलकुल आवश्यक हो, उस पर उसी समय उचित रूप में क्रोध का अभिनय किया जाता है। असल में भगवान् को न किसी से विशेष प्रेम है और न किसी से विशेष द्वेष। इसलिए क्रोध के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती है। फिर भी धर्मपरायण त्राता को क्रोध के सहारे धर्म को प्रतिष्ठित करना पड़ता है। इसलिए वह बहुत बड़े संयम के साथ इस अमोघ अस्त्र का उपयोग करते हैं। इसी कारण वह 'जितक्रोध' कहे जाते हैं। अधिकार की निरर्थक और सारहीन मादकता से मत्त चंड शासकों को इस नाम को याद रखना होगा।

भगवान् का 'मनोहर' और 'जितक्रोध' होना उनकी असमर्थता का द्योतक नहीं है, बल्कि उनकी अपरिमेय शक्ति का सूचक है। वह 'वीर बाहु' हैं। उनकी भुजाओं में वीरता की गंभीर मुद्रा है। आजानुबाहु (घुटनों तक फैली हुई भुजाओं से युक्त) भगवान् राम की मनोहारिणी शोभा इस नाम से प्रकट होती है। इच्छा मात्र से समस्त संसार को एक

तीर के द्वारा समाप्त करने की क्षमता रखते हुए भी वह प्रसन्न मुख मुद्रा से भक्तों को अभय प्रदान करते हैं।

भक्तों को अभय तभी मिल सकता है जब दुष्टों को भय से दूर भगाया जा सके। लोक कल्याण में विघ्न डालने वाली दुष्ट शक्तियों को नष्ट करने में भी लोक पालक भगवान् बहुत ही पटु होते हैं। इसीलिए उनको 'विदारण' कहा गया है। पाप का विदारण करने पर ही सत् का साक्षात्कार हो जाता है। इसमें दया की भावना से काम नहीं चलता। करुणा-सागर परमात्मा भी असत् और अंधकार को चीरकर संसार के सामने प्रकट होते हैं और सब को प्रकाश देते हैं, वैसे ही परम नियंता परमात्मा पाप को मिटा कर, असत् का परदा हटाकर और अंधकार को चीरकर पावन पुण्य का सत्प्रकाश फैलाते हैं। पर भगवान् जो कुछ करते हैं, हमारे भले के लिए करते हैं, वात्सल्य की भावना से करते हैं और सामासिक दृष्टिकोण से सबको परखते और निरखते हैं। सर्वात्मा की इसी सार्वजनीन वात्सल्य भावना का वर्णन अगले श्लोक में पाया जाता है—

स्वापनः स्ववशो व्यापी नैकात्मा नैककर्मकृत्।
वत्सरो वत्सलो वत्सी रत्नगर्भो धनेश्वरः ॥५०॥

संसार के तीनों तापों को दूर कर जीवात्मा को शांति प्रदान करने वाले परमात्मा का कितना सुन्दर नाम है— स्वापन! जैसे माता अपने बच्चों को गोद में सुलाकर उनको हर तरह का आराम देती है, वैसे ही श्रीमाता के शिव स्वरूप परमात्मा सबको निश्चित निद्रा का आनंद प्रदान करते हैं। जो उनकी शरण में आ गए हैं, उनको किसी भी बात की

चिता नहीं है। सबकी परेशानी अपने ऊपर लेकर वह इतनी अखंड शांति का प्रसार करते हैं कि उस प्रशांत पर्यावरण में वह अपनी सुध-बुध खोकर अपने को आश्वस्त पाता है। योगेश्वर की योग माया से परिकल्पित इस सुन्दर स्वप्न जगत् की एक अद्भुत विशेषता यह है कि इस महती छाया में जो सोता है, वह वास्तव में अपने को खोता नहीं, पाता है। सामान्य जगत् में सोया हुआ आदमी अपने को खो जाता है। पर भगवान् जो नींद सुलाते हैं और उस नींद में जो मीठे-मीठे सपने दिखाते हैं, वे झूठे नहीं हैं, वे सत्य के साकार रूप हैं। उन्हीं स्वप्नों में स्वापन अर्थात् अपने को पाने का साधन मौजूद है। असल में स्वप्न भी एक प्रकार का सत्य है। सांसारिक सत्य में जितनी सच्चाई है उससे कहीं ज्यादा सच्चाई स्वप्न जगत् में है। स्वप्न में जीवात्मा का तेजस व्यक्तित्व जागरित होता है। जागा हुआ व्यक्ति जिस प्रकार जागृति को सत्य समझता है, सोया हुआ आदमी स्वप्न को भी उतना ही सत्य मानता है जब तक सपना टूट न जाए। इस प्रकार जागरण और स्वप्न के बीच में जो संधायक सूत्र है, वही स्वापन रूप परमात्मा है। सोते समय हमें पता नहीं चलता कि नींद कब आई, कैसे आंखें बाहर से भीतर मुड़ पड़ीं। निद्रा रूपी देवी की मीठी गोद में हमें सुलाने वाले चतुर संधाता का, अगर हम सोते समय स्मरण कर सकें तो हम अपने आपको समझ सकते हैं। यह सचमुच एक महती संध्या है, जो न केवल जागरण और स्वप्न को मिलाती है, बल्कि दिन और रात को, प्रकाश और अंधकार को, पृथ्वी और आकाश को, माता और संतान को तथा जीवन और मरण को मिलाती है। इसी संध्या का बोध 'स्वापन' नाम के स्मरण, मनन और अनुशीलन से संभव हो जाता है।

इस प्रकार बेमेल, पर अनमोल युग्मों को मिलाने वाले अमोघ सूत्रधर स्वतंत्र होते हैं, किसी के वश में या किसी के नियंत्रण में काम नहीं करते। इसलिए उनको 'स्ववश' कहा गया है। वह अपने ही वश में रहते हैं। सच्चे अर्थों में वह स्वतंत्र हैं। कर्ता हमेशा स्वतंत्र होता है। जब उनकी इच्छा होती है, तब वह सृष्टि करते हैं, जब चाहें तब अपनी सृष्टि का उपसंहार करते हैं। यह सब उनके लिए लीला है।

यह लीला जड़-चेतन, पशु-पक्षी, स्त्री-पुरुष, मर्त्य-अमर सब को आकृष्ट करती है और सब में फैली हुई है। इसलिए लीलामय भगवान् को 'व्यापी' कहा गया है। वह सब में फैले हुए हैं और उनकी मुद्रा संसार के कण-कण में दिखाई देती है। वह सब से बाहर होते हुए भी सबके भीतर बसे हुए हैं। वह सर्वांतर्यामी हैं। सब के साथ उनका लगाव है, नाता है, रिश्ता है।

इसलिए वह 'नैकात्मा' हैं। उनकी आत्मा एक नहीं, अनेक हैं। जीवात्मा अपने को एक समझता है, पर परमात्मा अपने को एक ही आत्मा तक सीमित नहीं रख सकता। उसकी आत्मा अनेकरूपात्मक है। उसकी संख्या भी निश्चित नहीं है। निश्चित केवल यही है कि वह एक नहीं है। वह हज़ार भी हो सकता है, करोड़ भी हो सकता है और अनंत भी हो सकता है। अनंत को एकांत बनाना संभव नहीं है। इसीलिए उनको 'नैकात्मा' कहा गया है।

जैसा नाम, वैसा काम। नैकात्मा भगवान् के कार्य भी अनेक प्रकार के होते हैं। सबके काम उनके काम हैं, जैसे सबके

नाम उसके नाम हैं। नाम, काम, धाम—सब में वह अनेक हैं, अनंत हैं।

पर सबको वह वात्सल्य की भावना से देखते हैं। सबको अपना समझ कर अपने में सबको आश्रय देते हैं। सारा संसार उन्हीं के अंदर बसा हुआ है और सारे संसार में वह बसे हुए हैं। 'मयि ते तेषु चाप्यहम्'—वे सब मेरे अंदर हैं और उनमें भी मैं मौजूद हूं। भगवान् का यह वचन उनके आवास की सार्वभौमिकता को प्रकट करता है। इस प्रकार सबको अपने अंदर बसाकर सब का भला करने वाली परम सत्ता का वर्णन 'वत्सर' शब्द बड़ी सरल, पर सारगर्भित क्षमता के साथ करता है।

सब को अपने अंदर आश्रय देने वाले अनंत का वात्सल्य भी अनंत होना चाहिए। इसलिए उनको 'वत्सल' कहा गया है। वह भक्त वत्सल हैं, भक्तों को अपनी संतान के समान देखते हैं. उनके योग और क्षेम का निरंतर ध्यान रखते हैं और कभी-कभी वह स्वयं उनके वत्स (संतान) बन जाते हैं। भगवान् की वात्सल्य भावना में यह जो अभेद है, वही उनको 'वत्सल' और 'वत्सी' दोनों बनाता है। माता और संतान के बीच में वात्सल्य रस का परस्पर संचार होता है। दोनों एक दूसरे को वात्सल्य से अभिषिक्त किया करते हैं।

भक्त वत्सल भगवान् की यह वात्सल्य रस वर्षा अक्षय होती है। जितना बरसे, उतना विकसे—ऐसा अक्षय कोश है, परमात्मा का वात्सल्य-धन। वात्सल्य की वह एक ऐसी खान हैं जिसमें से अनेक रत्न निकल सकते हैं। अमूल्य गुणों

के असंख्य रत्न वह अपने अंदर समाए बैठे हैं। इसलिए वह 'रत्नगर्भ' हैं। उन्हीं रत्नों की राशि में से निकला हुआ ऐश्वर्य सारे संसार को समृद्ध बनाता है। संसार का समस्त धन उसी 'धनेश्वर' की देन है।

'धन' शब्द बड़ा ही विचित्र और विचारवर्द्धक है। किसी के द्वारा धरोहर के रूप में इस विशाल धरती में रखी हुई सारी संपत्ति 'धन' की परिधि में आती है।

धनमग्निर्धनं वायुर्धनं सूर्यो धनं वसुः।
धनमिंद्रो बृहस्पतिर्वरुणं धनमश्नुते॥

(आग, हवा, सूरज का तेज, वसुमती का सार, इंद्र की छटा, बृहस्पति की मेधा, तरुण का वरदान—सब धन के अंतर्गत हैं)

जो चीज़ सार्वजनिक उपभोग के लिए सहज रूप में संसार में उपलब्ध है, वही सच्चे अर्थों में सब का मूल धन है। हवा, पानी, बिजली, प्रकाश, गर्मी, सर्दी—यह सब सर्वेश्वर की देन है और सब के लिए सुलभ हैं। मानव अपनी कृत्रिम मेधा से इनको दुर्लभ बनाकर अपनी बनाई गरीबी से परेशान होता है। जो कुछ रखा है और जिस के लिए रखा है, दोनों धन के अंतर्गत हैं। मानव का भोग और भोग का अधिकारी मानव—दोनों धनेश्वर की बसाई हुई संपत्तियां हैं। मनुष्य से बढ़कर कोई धन संसार में नहीं है क्योंकि वह अपने उपभोग के लिए धन की व्यवस्था भी कर लेता है। पर मनुष्य रूपी धन के भी संधाता परमात्मा हैं। इसलिए वह धनेश्वर हैं। असल में वह केवल धनेश्वर ही नहीं, निधनेश्वर भी हैं। धन का निलयन ही निधन है। धन कभी क्षीण नहीं होता

और न मिटता है। संसार का सर्वस्व सदा सर्वदा समान मात्रा में विद्यमान रहता है। पर उसका संस्थान बदल जाता है। जो जिस का धन है, उसका उसके पास पहुंच जाना ही निधन है जिसका कर्ता-धर्ता परमात्मा है। इसी दृष्टि से गीताचार्य ने कहा—"अव्यक्तनिधनान्येव, तत्र का परिदेवना" (आदि और मध्य देखने में आते हैं, पर अंतिम निधन अव्यक्त है। उसके लिए रोना धोना उचित नहीं है।) धन और निधन, संपत्ति और विपत्ति, प्रकाश और अंधकार, ज्ञान और अज्ञान, सत् और असत् तथा क्षर और अक्षर के स्वामी की दुर्ज्ञेय धर्म परायणता के आगे सारा संसार नतमस्तक होकर कहता है—

असतो मा सद् गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतं गमय

—o—

२३. सत् असत्

जहां धर्म है, वहां विजय अवश्यंभावी है। अगर हम धर्म की रक्षा करते हैं तो धर्म हमारी रक्षा करता है। इन सूक्तियों से धर्म की सर्वश्रेष्ठता तो सिद्ध होती है, पर उसका सच्चा स्वरूप समझना अत्यंत कठिन है। धर्म का पालन करने से ही धर्मिष्ठता का तात्विक और व्यावहारिक बोध होता है। भगवान् स्वयं अपनी धर्मपरायणता के द्वारा ही धार्मिक भावनाओं का प्रसार करते हैं। परमात्मा के इसी परम धार्मिक स्वरूप की स्पष्ट अभिव्यक्ति समस्त सांसारिक लीला में देखी जा सकती है। अगला श्लोक इसी रहस्य की ओर संकेत करता है —

धर्मगुब्धर्मकृद्धर्मी सदसत् क्षरमक्षरम्।
अविज्ञाता सहस्रांशुर्विधाता कृतलक्षणः ॥५१॥

धर्म के धाता, विधाता और संधाता होने के कारण धर्मपरायण नारायण धर्म की रक्षा करते हैं, धर्म को प्रचलित, प्रवर्तित और निवर्तित करते हैं और धर्म का स्वयं धारण भी करते हैं। पहला काम है—धर्म की रक्षा करना। जब तक धर्म सुरक्षित रहता है, तब तक धर्मात्मा की रचना भी सुरक्षित रहती है। इसलिए धर्म की रखवाली करना परमात्मा का पहला काम है। 'धर्मगुप्' नाम से इसी रक्षा की भावना प्रकट

होती है। धर्म को गुप्त या गोप्य रखने में ही उसकी रक्षा है। सच्चा धार्मिक कभी अपनी धार्मिकता को प्रकट नहीं होने देता। आडंबर या प्रदर्शन से धार्मिकता का ह्रास हो जाता है। जैसे ग्वाला अपनी गायों को गुप्त स्थान में रखकर उनकी रक्षा करता है और बीच-बीच में उनको चरने छोड़ भी देता है, उसी प्रकार धर्म के रखवाले भगवान् भी धर्मात्माओं के धर्म को कभी प्रकाश में लाते हैं और कभी गुप्त रखते हैं। धर्म की रक्षा करने वाला स्वयं धर्म का आचरण भी करता है। इसलिए भगवान् धर्मगुप् और धर्मकृत् दोनों हैं। धर्म के गोप्ता ही धर्म के कर्ता हैं। असल में वह धर्म के मूर्तरूप होते हैं। इसलिए उनको 'धर्मी' कहा गया है। धर्म के जितने रूप हो सकते हैं, वे सब परमात्मा में विद्यमान हैं। वह सत् भी हैं और असत् भी हैं, क्षर भी हैं और अक्षर भी हैं। आत्म तत्व अविनाशी, अक्षर और अनंत है। वही कभी जीवात्मा के रूप में प्रकट होता है और कभी परमात्मा के रूप में प्रतीत होता है। जीवात्मा के रूप में, शरीर-भावना से वह नश्वर है और परमात्मा के रूप में आत्म-तत्व में एकात्म होकर वही अविनश्वर बन जाता है। असत् या जीव तत्व से प्राणी को सत् या ब्रह्म तत्व की ओर ले जानेवाला साधन भी आत्मा का वही अखंड चैतन्य है। क्षर को अक्षर बनाने वाला अक्षय तत्व भी आत्मा का वही आलोक है। परमात्मा के अंश के रूप में प्रकट जीवात्मा में ये दोनों तत्व-सत् और असत्, क्षर और अक्षर—इस प्रकार घुल मिलकर रहते हैं और उनको एक दूसरे से अलग करना दुष्कर है। इसलिए सत् में और असत् में, क्षर में और अक्षर में, जीव में और ब्रह्म में—सब में उसी परमात्मा को देखने का प्रयास करने में ही साधक का प्रेय और श्रेय दोनों सिद्ध होते हैं।

जो इस रहस्य को जानता है, वही सच्चा ज्ञाता है। पर जो समझता है कि वह इसे भलीभांति जानता है, वास्तव में वह कुछ नहीं जानता। जो जानता है कि वह नहीं जानता है, वही सचमुच जानता है। इसी दृष्टि से सर्वज्ञ परमात्मा को 'अविज्ञाता' कहा गया है। वह कुछ नहीं जानता पर सब कुछ जानता है। यह सचमुच पहेली है जिसको केनोपनिषद् में लगभग इसी प्रकार की भाषा में व्यक्त किया गया है—

"नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो न स्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥"

इस पहेली को अगला नाम 'सहस्रांशु' सुलझाता है। सत्य ज्ञान स्वरूप सर्वात्मा की सहस्र किरणें हैं, हज़ारों कांति-तरंगें हैं। प्रकाश के किसी अंश को देखने मात्र से उसका समग्र रूप समझ में नहीं आता है। इसी प्रकार सहस्रांशु परमात्मा के हज़ारों लाखों रूप हैं। उनमें से कोई भी एक रूप अनेक का निरूपण नहीं कर पाता। अनेक में एक बनकर विराजमान परम तत्व का साक्षात्कार करने के लिए उसी 'एक' में 'एक' बनना पड़ेगा और कोई चारा नहीं है। जब जीवात्मा परमात्मा के इस पारलौकिक तत्व को हृदयंगम कर लेता है, तब वह ज्ञाता नहीं रह जाता। विज्ञाता होकर भी वह अविज्ञाता रह जाता है। अगर वह विज्ञाता है तो एक ही तत्व को विशिष्ट रूप से जानने वाला विज्ञाता है और वह एकमात्र तत्व, जिसको जानने से सब कुछ जाना जाता है, 'अ' कार का आदिम रूप है। 'अ'—कार का सच्चा विज्ञाता—अविज्ञाता—परमात्मा का ही अंश है।

वह सब का विधाता बनता है, सबका धारण करता है।

अविकारी आत्म तत्व जब विकारी बन जाता है तो उसके अनेक आकार-प्रकार बन जाते हैं। ये सब एक ही मूल तत्व के विभिन्न रूप हैं। संसार में जितने साकार रूप हैं, उन सब के विशिष्ट लक्षण हैं। इन लक्षणों के कर्ता भी वही परमात्मा हैं। इसलिए वह कृत लक्षण हैं।

हज़ार किरणों के स्वामी समस्त संसार को कैसे आलोकित करते हैं, इसका विशद वर्णन अगले श्लोक में पाया जाता है—

गभस्तिनेमिः सत्वस्थः सिंहो भूतमहेश्वरः।
आदिदेवो महादेवो देवेशो देवभृद्गुरुः ॥५२॥

गभस्तियों अथवा किरणों के बीच में प्रतिष्ठित होने के कारण प्रकाशात्मा भगवान् चारों तरफ कांति-किरणों का विकिरण करते हैं। आमतौर पर प्रकाश के किसी भी स्रोत से किसी निर्दिष्ट दिशा में ही प्रकाश का प्रसार संभव है। इसलिए प्रकाश के प्रसार से कम से कम कुछ भाग प्रच्छन्न रहता है। पर परमात्मा एक ऐसा प्रकाशपुंज है जो छाया या अंधकार को पास पहुंचने नहीं देता। चारों तरफ प्रकाश ही प्रकाश फैला रहता है क्योंकि वह प्रकाश की किरणों के बीच में हैं। तमस् या अंधकार के परे आदित्य के आलोक से मंडित परमात्मा का तेज ही सूर्य, चंद्र और अग्नि में आधार और आकार के अनुसार प्रतिभासित होता है। "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (उसी के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित होता है।) "आदित्य वर्णः तमसः परस्तात्" (अंधकार के परे वह सूर्य की सुनहरी शोभा से विराजित होता है।) आदि श्रुति सूक्तियां इसी परम सत्य की ओर संकेत करती हैं।

'गभस्ति' आकाश को आलोकित करने वाली कांत लहरी है जिसके केन्द्र में प्रतिष्ठित परमात्मा को यहां पर 'गभस्तिनेमि' कहा गया है। जिस प्रकार गभस्ति साधारण कांति नहीं है, उसी प्रकार 'नेमि' भी साधारण केन्द्र नहीं है। चारों तरफ की रेखाओं को अपनी ओर खींचते हुए और समस्त रेखाओं को गतिशील बनाते हुए स्वयं आगे बढ़ने वाली ज्योतिर्मय बिंदु ही यह 'गभस्तिनेमि' है।

यह 'सत्वस्थ' है। सत्व ही उसका अवस्थान है। सारा प्रकाश रहे या न रहे, यह प्रकाश केन्द्र अवश्य रहता है, अविचल और अटल रहता है। प्रकाश की सभी किरणों में संतुलन बनाए रखने वाला यह केन्द्र सदा सत् की स्थिति में रहता है। यही एकमात्र ऐसी सत्ता है जिसके बारे में लोग बहुत सी बातें कहा करते हैं (एकं सद् विप्रा बहुधा वदंति।) एक ऐसी स्थिति है जिससे चारों तरफ दृष्टि फैल सकती है। संसार के समस्त प्राणियों के ईश्वर (भूत परमेश्वर) आगे भी देखते हैं, पीछे भी देखते हैं, ऊपर भी देखते हैं और नीचे भी देखते हैं। उनकी दृष्टि में सिंह की दृष्टि जैसी गंभीरता है। जिस प्रकार सिंह की दृष्टि वन के समस्त जंतुओं को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है, उसी प्रकार महेश्वर की दृष्टि समस्त प्राणियों या भूतों को अपनी ओर खींच लेती है। मृगराज सिंह की तरह भूतनाथ महेश्वर महामानव के महावन की रक्षा तो करता ही है, उसके प्रभव और प्रलय की भी व्यवस्था करता है।

देव, दानव और मानव—सबके विधाता परमात्मा 'आदिदेव' हैं। देव शब्द दिव्यता, दीप्ति या प्रकाश का द्योतक है। संसार में जो भी दिव्यता है, उसका उद्गम वही आदि-

देव है। 'आदिदेव' शब्द में एक और चमत्कार है। आदान से आदि और दान से देव शब्द निष्पन्न होते हैं। अतः आदिदेव में आदान और प्रदान दोनों भाव निहित हैं। सृष्टि और संहार दोनों आदिदेव के आचरण के प्रमुख अंग हैं। जिस प्रकार भगवान् भास्कर समस्त संसार को प्रकाश प्रदान करते हैं और अपने प्रकाश की किरणों के द्वारा ही संसार का सार और रस सर्वस्व ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार परमात्मा जीवात्मा को चेतनता प्रदान करते हैं और समय समाप्त होने पर उस चेतना को फिर अपने में समा भी लेते हैं। उत्पत्ति, विनाश, प्राणियों का आवागमन—इन सबका रहस्य जानने वाले आदिदेव ही महादेव और देवेश भी हैं। महान् देवता होने के कारण महादेव हैं। महादेव प्रायः शंकर को कहा जाता है। पर आदिदेव विष्णु भी व्यापक अर्थ में महादेव ही हैं। देवताओं का स्वामी होने के कारण वही देवेश हैं। समस्त देवताओं का भरण पोषण करने वाले विश्वात्मा को यहां पर 'देवभृद्गुरु' कहा गया है। बृहस्पति देवताओं का केवल ज्ञान गुरु है। पर परमात्मा उनका हर दिशा में पथप्रदर्शन करने वाला परम गुरु हैं।

धर्मपरायण प्रकाशपुंज परमात्मा को कैसे प्राप्त किया जा सकता है, यह अगले श्लोक में बताया जाता है—

उत्तरो गोपतिर्गोप्ता ज्ञानगम्यः पुरातनः।
शरीरभूतभृद् भोक्ता कपींद्रो भूरिदक्षिणः ॥५३॥

परमात्मा प्राणिमात्र के सभी प्रश्नों का एकमात्र उत्तर है। संसार की समस्त शंकाओं का एकमात्र समाधान सर्वात्मा का सान्निध्य है। उत्तम से उत्तम सत्ता से भी उत्तर या श्रेष्ठ

होने के कारण सर्वात्मा की सत्ता सर्वोपरि है। जो इस 'उत्तर' सत्ता को समझ लेता है और उस उन्नत स्थिति को प्राप्त कर लेता है, उसके लिए समझने और पाने योग्य और कोई सत्ता दिखाई नहीं देती। "अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः"—उत्तर की दिशा में देवतात्मा कहलाने योग्य नगाधिराज बसा हुआ है। इस उत्तर दिशा के अस्तित्व में कोई संदेह नहीं है। इसी प्रकार की उत्तरोत्तर सत्ता परमात्मा की है जिसके ऊपर कुछ नहीं है। वही सबसे ऊपर, सबसे आगे और सबसे बढ़कर है।

वही गोपति हैं, सारे संसार के स्वामी हैं, वाणी के वरदाता हैं, जीवजगत् के धाता हैं, स्वर्गीय सुख के संधाता हैं और आनंद के विधाता हैं। 'गो' शब्द जितना व्यापक है, गोपति भी उतने ही अधिक व्यापक हैं। व्रजपुरी में गायें चराने वाले गोपाल को प्रायः गोपति कहते हैं। यह गोपति का लौकिक और सीमित रूप है। स्वर्ग, पृथ्वी, वाणी और गोपनीय समस्त ज्ञान का द्योतक 'गो' शब्द 'गोपति' को विराट् पुरुष बनाता है। वह गोप्ता भी है, सबका रक्षक है, रखवाला है।

उनको प्राप्त करने का एक मात्र उपाय 'ज्ञान' है। वह ज्ञानगम्य है। ज्ञान के सहारे ही परमात्मा के परम सान्निध्य का अनुभव किया जा सकता है। ज्ञान के बिना कर्म अकर्मण्य बन जाता है और भक्ति भावहीन बन जाती है। सोच समझकर सच्चे दिल से और पक्के मन से जो काम किया जाता है, वही सार्थक और परमार्थ साधक बन जाता है। रूढ परंपरा से प्रेरित मूढ भक्ति को पहले गूढ और धीरे-धीरे प्रगाढ बनाने वाला साधन ज्ञान ही है। कर्म, ज्ञान और भक्ति

एक दूसरे पर आश्रित हैं। सबके समन्वय से निर्मल ज्ञान निःश्रेयस् की ओर ले जाता है। गीता में स्पष्ट कहा गया है कि ज्ञान के समान पवित्र वस्तु संसार में और कोई नहीं है (न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।)

ज्ञान के माध्यम से जानने योग्य यह पुरुष बहुत ही पुरातन हैं। चिर नवीन होते हुए भी वह परम पुरातन हैं। इसीलिए उनको प्रणव स्वरूप माना जाता है। जीव का शरीरधारण जितना पुरातन है, उतने ही पुरातन ये पुरुषोत्तम हैं। शरीरधारण करने वाले समस्त प्राणियों का पालन पोषण वही करते हैं। इसलिए उनको 'शरीरभूतभृद्' कहा गया है। देहधारियों का धारण करने वाले और कारणभूत तत्वों के भी परम कारण भगवान् नारायण केवल अपनी बनाई सृष्टि के कर्ता धर्ता ही नहीं, बल्कि भोक्ता भी हैं। मानव शरीर सृष्टि का सबसे स्पृहणीय साधन है। नश्वर शरीर के भीतर प्रतिष्ठित अविनाशी आत्म तत्व को पहचानने के लिए यह सबसे अमोघ अस्त्र है, परमात्मा की असीम अनुकंपा से उपलब्ध उपादेय उपकरण है। अपनी इस देन के महत्व को भगवान् सही सही पहचानते हैं। जब तक शरीर है, तब तक शरीरधारी अनेक सुख सुविधाओं का उपभोग करता है, खाता है, पीता है, सोता है, खुशबू पाकर खुश होता है, कई चीजें पाता है, खोता है, खोजता है, लेता है, देता है और कई काम करता है। पर यह सब केवल उपभोग मात्र है। वास्तविक भोग शरीरधारी को चलाने वाला कूटस्थ अक्षर पुरुष पाता है। वही असली भोक्ता है। उन्हीं को संतुष्ट करने के लिए जीवी सांसारिक उपभोग में रुचि लेता है। महाभोगी परमात्मा इसीलिए जीवात्मा से कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(तुम जो कुछ करते हो, खाते हो, अर्पित करते हो, देते हो, तपते हो, वह सब कुछ मेरे लिए कर दो और मुझे ही अर्पित कर दो।)

परमात्मा को परम भोक्ता मानकर अपने को केवल उपभोक्ता समझने से कर्म निर्मल बन जाता है, ज्ञान का मार्ग सुगम बन जाता है और परमेश्वर की परम दुर्लभ कारुण्य भावना सुलभ बन जाती है। करुणालय भगवान् की कृपा केवल मानव जाति तक सीमित नहीं है, पशुपक्षियों तक व्याप्त है। वह कपींद्र भी बन जाते हैं। राम रावण युद्ध में महामानव राम ने वानरों का सहारा लिया था। वानर सेना के बल पर ही उन्होंने आसुरी शक्तियों पर विजय प्राप्त की थी। यही नहीं, वह अपने को वानरों का, और विशेषकर हनुमान का, ऋणी मानते हैं। सीता जी का संदेश सुनाने के लिए वह हनुमान को नियोजित करते हैं, सुग्रीव को अपना सखा बना लेते हैं। नर-वानर के सम्मिलित प्रयास से, प्रभु संकल्प के बल पर धर्म का प्रतिष्ठापन होता है। इस प्रकार प्रभु का कपींद्र रूप उनकी उदारता, समता और समरसता का उत्कृष्ट प्रमाण प्रस्तुत करता है।

'कपि' शब्द श्रेष्ठता का भी वाचक है। इस दृष्टि से कपींद्र सर्वश्रेष्ठता का द्योतक बनता है। पत्ते खाकर पानी पीने वाला बंदर परमात्मा की अर्थनिरपेक्ष दृष्टि में सबसे पवित्र और पूज्य हैं। इन पवित्रात्माओं का पथ प्रदर्शक बनकर सबको साथ लेकर संसार की संचित शक्ति को सर्वसुलभ और

धर्म साधक बनाने में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के सौजन्य या दाक्षिण्य का पता चलता है। वह जितने दक्ष हैं, उतने दक्षिण भी। जो अपना काम अपने आप करने में दक्ष होता है, उसे दूसरों के अनुकूल चलने की आवश्यकता नहीं होती। पर भगवान् राम की भगवत्ता इसी में है कि वह कार्यसाधना में स्वयं पटु होते हुए भी उसका श्रेय दूसरों को देने में अपने अलौकिक दाक्षिण्य का प्रमाण देते हैं। इसलिए-उनको 'भूरिदक्षिण' कहा गया है। उनके दाक्षिण्य या सौजन्य की कोई सीमा नहीं है।

प्रायः कहा जाता है—'अन्न जैसा मन'। हम जैसा अन्न खाते हैं, वैसा ही हमारा मन बन जाता है। परमात्मा का मन नवनीत जैसा कोमल है क्योंकि वह निर्मल हृदय वाली गोपिकाओं के द्वारा निकाला हुआ मक्खन प्यार से और चाव से खाया करते थे। यही बात कुछ दूसरे ढंग से अगले श्लोक में कही जाती है—

सोमपोऽमृतपः सोमः पुरुजित् पुरुसत्तमः।
विनयो जयः सत्यसंधो दाशार्हः सात्वतां पतिः ॥५४॥

सोमरस का पान और अमृत का आस्वादन भगवान् को सोम के समान बना देता है। यज्ञ के अनुष्ठान का पर्यवसान सोम है। उसी में सौम्य भावनाओं की अक्षय निधि होती है। अनुष्ठान में जो आराधना की भावना है, उसका सत्व सार सोमरस है इसलिए यह भगवान् का अभीष्ट पेय है। सोम शब्द का संधि विच्छेद अगर स+उम किया जाए तो 'उमया सह' (उमा के साथ) अथवा उमापति महेश्वर भी सोम बन

जाता है। सोम का मतलब अगर चंद्रमा लिया जाए तो भगवान् चंद्र भी बन जाता है और चंद्रशेखर शंकर भी। अमृत की किरणों से मंडित भगवान् सुधाकर कोमलता, शीतलता और सात्विकता के मूर्त रूप हैं। इसलिए 'सोमप' 'अमृतप' और 'सोम' इन तीनों में भगवान् का दिव्य रूप देखने के प्रयास में हम उनको पहले अमृत के समान स्वादिष्ट, पुष्टिकर और प्राणप्रद समझते हैं, फिर अमृत बरसाने वाले चंद्रमा की शांत शीतलता को उनमें देखने का प्रयास करते हैं और अंत में चंद्रमा को ही सिर पर धारण करने वाले भगवान् शंकर मानकर उनकी मंद स्मित सुख मुद्रा को अघा अघा कर देखकर अपने को धन्य समझते हैं। भगवान् शंकर का व्यक्तित्व भी कितना विचित्र है क्योंकि उनके गले में विषधर सांप है और कालकूट भी कूट कूट कर भरा हुआ है, पर चेहरे पर चंद्रहास विलास का उल्लास प्रदर्शित कर देता है। सत् और असत्, क्षर और अक्षर, साधना और सिद्धि का इतना मंजुल सामंजस्य और कहीं देखने को नहीं मिलता। इसीलिए विजय उनके लिए अवश्यंभावी है।

परमेश्वर सामान्य विजयी नहीं हैं, वह 'पुरुजित्' हैं, पहले से जीतने वाले हैं। लौकिक विजय के गर्व से पुलकित होने वाले साधारण वीर शूर समझते हैं कि उन्हीं के बल प्रदर्शन से उन्हें विजय प्राप्त हुई है। पर वे भूल जाते हैं कि इसमें परमेश्वर का सहारा था, इसलिए विजय मिली है। जेताओं से पहले जीतने वाले विजेता हैं—विजय के विधाता पुरुजित्। गीताचार्य अर्जुन को स्पष्ट बताते हैं कि ये सब मेरे हाथों पहले ही मर चुके हैं, तुम केवल निमित्त बनो (मयैवैते निहताः पूर्वमेव, निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्!)। केनोपनिषद् में

देवताओं का विजय गर्व भी इसी मिथ्या धारणा से उत्पन्न हुआ था जिनको यक्ष के रूप में प्रकट उमादेवी ने बढ़िया पाठ पढ़ाया था। वही उमा यहां 'सोम' शब्द में साकार हो गई है।

सबकी जय-पराजय के संधाता स्वामी सबसे आगे रहते हैं। योद्धा अर्जुन पीछे और सारथी स्वामी आगे—यही परमात्मा के सारथ्य का रहस्य है। इसीलिए उनको यहां पुरुसत्तम कहा गया है। आगे रहने वालों में वह सबसे आगे रहते हैं। पर इसमें उद्दंडता या अहम्मन्यता की भावना लेशमात्र भी नहीं है।

वह विनय के मूर्त रूप हैं। उनका नाम ही विनय है और जय भी। जहां विनय है, वहां जय है। अगर परमात्मा पार्थ का सारथी नहीं बनता तो अर्जुन की और पांडवों की विजय में संदेह होता। इसलिए परमात्मा ने अपने लिए विनम्र सारथी की भूमिका चुनकर धर्म की विजय में योग दिया। भगवान् कृष्ण में विनय और जय का मनोहर और अद्भुत सम्मिश्रण पाया जाता है। इन दोनों लक्षणों के साथ-साथ उनकी सत्यनिष्ठा भी विजय की साधना में सहायक बन जाती है। वह विनय मोहन है और सत्यसंध हैं। सत्य की मर्यादा रखने के लिए ही वह सब कुछ करते हैं। धर्म की रक्षा सत्य के सहयोग से ही संभव है। दोनों में कभी-कभी विरोध का आभास दिखाई देता है, पर अंततः दोनों को साथ-साथ चलना ही होगा।

'दाशार्ह' भी भगवान् का एक नाम है। दाशार्ह दान ग्रहण करने वाली एक जाति का नाम है जिसमें भगवान् ने जन्म लिया था। वास्तव में भगवान् केवल दश या दस

वस्तुएं ग्रहण करने के लिए ही नही, बल्कि सब कुछ स्वीकार करने की अर्हता रखते हैं। इसलिए 'दाशार्ह' नाम भगवान् के लिए सर्वथा समीचीन है। सात्वत तंत्र के आराधकों के भी स्वामी होने के कारण परमात्मा को यहां पर 'सात्वतां पति' कहा गया है। इन दोनों वर्गों को समाज में जो आदर पहले नहीं मिलता था, भगवान् के अवतरण से उससे भी अधिक आदर सत्कार मिलने लगा है। इस प्रकार भगवान् ने अपने अवतरण से इस बात को स्पष्ट कर दिया कि किसी चीज़ की महत्ता या सत्ता व्यक्ति के कारण होती है, संस्था, जाति या परंपरा के आधार पर नहीं। संसार में मानव सबसे महान् है।

पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः

—०—

२४. नंदनंदन का आनंद

जीवात्मा और परमात्मा में कोई तात्विक अंतर नहीं है। दोनों एक दूसरे से इस प्रकार घुले मिले और मिले जुले हैं कि उनमें से किसी को दूसरे से अलग करना संभव नहीं है। क्षेत्र में क्षेत्रज्ञ के रूप में, क्षर में अक्षर के रूप में, शरीर में आत्मा के रूप में और जीव में ब्रह्म के रूप में परमात्मा सर्वत्र विराजमान हैं। वह अखंड है, अनंत है और अव्यय है। उन्हीं का व्यक्त रूप जीव या जीवात्मा है। इसी जीवात्मा की आत्मकथा सहस्रनाम के अगले श्लोक में वर्णित है—

जीवो विनयितासाक्षी मुकुंदोऽमितविक्रमः।
अंभोनिधिरनंतात्मा महोदधिशयोऽन्तकः ।।५५।।

भगवान् के हज़ार नामों में 'जीव' भी एक नाम है। जीव परब्रह्म परमात्मा का ही वाचक है। व्यक्ति जीवित है, इसका कारण अव्यक्त परम सत्ता का संकल्प है। प्रत्येक जीव को जीवन प्रदान करने वाले प्राणदाता परमात्मा विनय-सूत्र से सबको अपनी ओर खींच लेते हैं। जिस जीव में जितनी विनयशीलता होती है, उतने ही वह अपने अंदर के ब्रह्म के निकट पहुंच जाता है। विनय शब्द में ही किसी को अपने पास ले जाने की भावना है। 'नी' (ले जाना) धातु से यह शब्द बना है जिसके पहले विशिष्टता वाचक उपसर्ग 'वि'

लगा हुआ है। परमात्मा प्रत्येक जीवात्मा को अपनी विशिष्ट पद्धति के अनुसार अपनी ओर आकृष्ट करता है और इस प्रक्रिया के अंतर्गत वह बार-बार यह देखने की चेष्टा करता है कि जीवात्मा कितना अपने निकट पहुंचा है। विनयिता का साक्षी जानता है कि कौन कितना विनम्र है और कौन कितना उद्दंड। महत्ता की मान्यता मानव को महान् बनाती है और यही विनम्रता का पाठ भी सिखाती है। बाहरी ठाट-बाट और दिखावटी गरिमा से आदमी जितनी दूर रहता है, उतना वह आत्मा के आंतरिक सौंदर्य को हृदयंगम कर पाता है। शारीरिक सौंदर्य, बौद्धिक विकास, आर्थिक समृद्धि, सामाजिक गौरव-प्रतिष्ठा आदि से सुसंपन्न जीवन व्यतीत करते हुए भी अगर मनुष्य अपने को एक महती आत्मा का अकिंचन अंश समझ सकता है तो वह सच्ची और सात्विक विनय का अधिकारी बन जाता है। यही विनयिता परमात्मा को अत्यंत प्रिय है। इसलिए भगवान् का प्रेम पाने और अपने अंदर की सच्ची सत्ता को पहचानने के लिए सहज सात्विक विनम्रता के सांचे में अपने को ढालना पड़ेगा। विनम्रता का मतलब भीरुता, असमर्थता या अकर्मण्यता नहीं है। अनंत गरिमा से अवगत होने पर आदर्श जीव के अनुभव में आने वाली सांसारिक सारहीनता की भावना ही विनय है। इसको परमात्मा आसानी से पहचान लेते हैं और जो जितना विनयी होता है, उसे वह उतना ही अपना लेते हैं। इस विनयिता के पारखी और प्रेमी होने के कारण भगवान् को यहां पर 'विनयितासाक्षी' कहा गया है।

भगवान् के निकट जाने की प्रवृत्ति जैसी-जैसी बढ़ती जाती है, संसार से दूर होने की प्रवृत्ति भी वैसी-वैसी बढ़ती है। बाह्य

आवरण से मुक्त होकर आंतरिक वरेण्यता को आत्मसात् करना ही मुक्ति है। भगवान् की कृपा से ही इस प्रकार की मुक्ति मिल जाती है। इसलिए उनका नाम मुकुंद है। जीवात्मा की शक्ति सीमित होती है क्योंकि वह शरीर के बंधन से जकड़ा हुआ होता है। पर वही जीव जब मुक्तात्मा की दशा पर पहुंच जाता है तो उसकी चेतना अत्यंत व्यापक बन जाती है और वह अनंत पराक्रम से संसार में व्याप्त अमित विक्रम भगवान् में एकाकार बन जाता है। जीव शक्ति परिमित होती है जब कि दैवी शक्ति अपरिमित होती है। परमात्मा में न केवल पांचभौतिक प्राणी विद्यमान हैं, बल्कि सकल चराचर सृष्टि उन्हीं में बसी हुई है। वह एक महान् सागर हैं जिसमें पानी ही नहीं, बल्कि अनेक प्राणी, रत्न और उत्ताल तरंगें हैं। इसलिए उनको 'अंभोनिधि' कहा गया है। अंभस् में मानव, दानव, देवता आदि सभी सम्मिलित हैं। सबकी वह निधि हैं। उनकी आत्मा अनंत है। वह 'अनंतात्मा' हैं। वह हमेशा महासागर में विश्राम करते हैं। जिस सागर में तरंगें उठती गिरती रहती हैं, तूफानों का ज़ोर जलचर प्राणियों को झकझोरता रहता है, रत्नों की चमक दमक से अंतरिक्ष आलोकित रहा करता है, कई उतार चढ़ाव वातावरण को विक्षुब्ध बनाते रहते हैं, ऐसे भयंकर महासागर में 'शांताकार भुजगशयन पद्मनाभ' परमात्मा आराम से लेटे रहते हैं क्योंकि वह अनंत हैं। वह समस्त सृष्टि के अंत में भी प्रशांत रहते हैं। संसार में सभी चीज़ें नश्वर और सांत हैं, पर वह अनंत है। वह अंतक भी हैं और अंतक के अंतक भी। पर स्वयं वह अंतहीन हैं।

जिनका अंत नहीं होता, उनका आरंभ भी नहीं हो सकता।

आरंभ और अंत साथ-साथ चलते हैं जैसे जीवन और मरण, प्रकाश और अंधकार, विकाश और विनाश। इसी जन्महीनता या अजत्व का वर्णन अगला श्लोक करता है।

अजो महार्हः स्वाभाव्यो जितामित्रः प्रमोदनः।
आनंदो नंदनो नंदः सत्यधर्मा त्रिविक्रमः ॥५६॥

भगवान् का जन्म नहीं होता। इसलिए वह 'अज' है। अकार से सारा संसार पैदा हुआ है और संसार या विश्व परमात्मा का ही प्रकट रूप है। इसलिए भी विश्वात्मा भगवान् अज हैं। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा को भी अज कहा जाता है। सबको जन्म देने वाले का खुद का कोई जन्म न होना स्वाभाविक है। 'अ' कार विष्णु वाचक है। इस दृष्टि से 'अज' शब्द भगवान् विष्णु के पुत्र काम देव का भी द्योतक हो सकता है। इस प्रकार 'अज' नाम के कई अर्थ निकलते हैं। इसी अनेकाथकता को और अधिक स्पष्ट करता है—अगला नाम 'महार्ह'।

'महार्ह' या महंगा भगवान् का बहुत ही मार्मिक नाम है। भगवान् सचमुच बहुत महंगे हैं। सागर में सबसे महंगे वही हैं। सात लोकों में चौथा लोक 'मह' कहलाता है—भूःभुवः, सुवः, महः। 'मह' इति ब्रह्म—इस श्रुति के अनुसार 'मह' ब्रह्म वाचक है। इसलिए मह अर्ह-ब्रह्म के समतुल्य या ब्रह्मा से अर्चनीय परमात्मा के लिए 'महार्ह' नाम बहुत ही सार्थक है। यह महार्हता या महती योग्यता भगवान् के लिए सहज रूप से प्राप्त है। असल में भगवान् के जितने लक्षण या गुण हैं, सब सहज रूप से प्राप्त हैं, अर्जित नहीं। अर्जन मनुष्य का धर्म है और सर्जन भगवान् का लक्षण है। स्वभाव से

जितनी बातें होती हैं, सब में भगवान् का संकल्प है। इसी लिए जो सहज रूप से अनायास मिलता है या होता है, उसे स्वीकार करने में जगदीश्वर की आज्ञा का पालन करने का भाव निहित है।

परमात्मा का कोई दुश्मन नहीं है। अगर कोई दुश्मन है तो उसे वह जल्दी ही जीत लेता है। इसलिए वह जित अमित्र या जितामित्र हैं। जब दुश्मन कोई नहीं है तो सब उनके मित्र हैं। सबको वह प्रसन्न रखते हैं। सबको प्रमोद प्रदान करते हैं। इसलिए उनको 'प्रमोदन' कहा गया है।

आनंद ही भगवान् का आलय है। जहां आनंद है, वहां भगवान् हैं। बल्कि यह कहना चाहिए कि आनंद ही भगवान् हैं। जिस को जिस में आनंद आता है उसे उसी में भगवान् का रूप दिखाई देता है। आनंद के कई प्रकार होते हैं और प्रकार के भेद से मात्रा का भी भेद होता है। पर हर प्रकार और मात्रा में आनंद भगवान् के ही सान्निध्य का संज्ञापक होता है। 'आनंदो ब्रह्मे ति व्यजानात्'—यही ब्रह्म जिज्ञासा का अंतिम निष्कर्ष है। ब्रह्म तत्व न अन्न में है, न प्राण में है, न मन में है और न विज्ञान में है। केवल आनंद में है।

आनंद की एक विलक्षण विशेषता यह है कि आनंदित व्यक्ति दूसरों को भी आनंद प्रदान कर सकता है और इससे उसके आनंद की मात्रा तनिक भी नहीं घटती, बल्कि बढ़ जाती है। आनंद से आनंद पैदा हो जाता है, अर्थात् आनंद का नंदन भी आनंद है। इसलिए आनंद और नंदन दोनों भगवान् के नाम हैं। आनंद में मर्यादा वाचक निपात

'आ' है। मूल शब्द 'नंद' है। यह नंद भी भगवान् का ही नाम है। अपरिमेय आनंद ही नंद है। 'नंदति नंदति नंदत्येव'—वह हमेशा आनंद से उछलता रहता है। क्षणभंगुर आनंद में कभी बाधा पड़ सकती है, उसका विच्छेद हो सकता है। पर शाश्वत आनंद में कोई बाधा, रुकावट या अड़चन नहीं होती। वह अतींद्रिय है, इंद्रियों का माध्यम उसके लिए आवश्यक नहीं है। वह केवल बुद्धिग्राह्य है, बुद्धि से अनुभव करने योग्य है। "सुखमात्यंतिकम् यत् तद् बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम्।" इंद्रियों की अपेक्षा रखने वाला हर साधन क्षणिक आनंद ही प्रदान कर सकता है। यह आनंद आता है, फिर जाता है। पर अलौकिक अतींद्रिय और अहेतुक आनंद अखंड और अबाध होता है। इस आनंद का आभास बच्चों के मंदहास में पाया जा सकता है। बच्चा अकारण खुश हो जाता है, अचानक खिल उठता है, पर दूसरे ही क्षण विचलित होता है। ब्रह्मानंद की यह एक झलक है जिसे देखकर माता की ममता पुलक उठती है।

यह आनंद आध्यात्मिक साधना के द्वारा कैसे प्राप्त किया जा सकता है, यह बात भगवान् के अगले नाम—सत्यधर्मा—से स्पष्ट हो जाती है। सत्य और धर्म के सहारे यह शाश्वत आनंद मिलता है। सत्य वाणी से संबंधित है और धर्म आचरण या कर्म से संबंधित है। मन दोनों को जोड़ देता है। मनोबल के सहारे ही सत्य निष्ठा और धर्म परायणता का मार्ग प्रशस्त बन जाता है। इसलिए सत्य और धर्म के अनुपालन में मन, वाणी और कर्म में सामंजस्य बैठ जाता है। इसी सामंजस्य से वास्तविक आनंद का उदय होता है। भगवान् इसी आनंद में विराजमान होते हैं। इस प्रकार का

आनंद भगवान् को त्रिविक्रम बना देता है। तीनों लोकों में उनका विस्तार हो जाता है। प्रणव की तीन मात्राओं—अकार, उकार और मकार—में भी यही आनंद रूपी परमात्मा विद्यमान है। वामन के अवतार में भगवान् ने इसी आनंद का विराट् रूप दिखाया था।

महर्षिः कपिलाचार्यः कृतज्ञो मेदिनीपतिः।
त्रिपदस्त्रिदशाध्यक्षो महाश्रृंगः कृतांतकृत् ॥५७॥

इस आनंद की साधना में कई ऋषि-मुनियों ने सिद्धि पाई। आचार्य कपिल ने सांख्य दर्शन को प्रवर्तित किया था। आत्मा का अंतरंग खोलकर बताने वाला विमल विवेक ज्ञान सांख्य है। वेद का सांगोपांग और समग्र दर्शन करने और कराने वाले आचार्य कपिल को महर्षि की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार के आत्मज्ञानी महर्षियों में भी भगवान् का वही आनंदमय अंश विद्यमान है। भगवान् ने स्पष्ट ही कहा कि जहां कहीं भी कोई विशिष्ट विभूति दिखाई देती है, विशेष सश्रीकता दृष्टिगोचर होती है और विलक्षण ऊर्जा प्रकट होती है, वहाँ उसमें भगवान् का ही अंश प्रादुर्भूत समझ लिया जाए। इसी दृष्टि से यहां आचार्य कपिल महर्षि को परमात्मा का पर्याय बताया गया है।

आत्मज्ञानी कृतज्ञ होता है, केवल तज्ज्ञ या विज्ञ नहीं। किसी बात को गंभीर और समग्र रूप से जानना तज्ज्ञता या विज्ञता है, पर कृतज्ञता सर्वज्ञता की सहोदरी है। जो कुछ किया जाता है या किया गया है, वह कृत है और उसको जानना कृतज्ञता है। हम कई काम करते हैं, पर यह जानकर नहीं कि क्यों करते हैं और कैसे करते हैं और किस बल पर

करते हैं। जो यह सब समझ बूझ कर कर्ता, कारक, कार्य और कृत्य की पूरी जानकारी के साथ करता है, वही कृतज्ञ कहलाने योग्य है। सारा संसार विश्वात्मा की विराट् रचना है, कृति है। इस कृति को जानना भी कृतज्ञता है। हम जो कुछ करते हैं, वह भी हमारा कृत है जिसको भगवान् भली-भांति जानते हैं। इसलिए भी वह कृतज्ञ है। कर्मसाक्षी भगवान् के लिए 'कृतज्ञ' नाम बहुत ही समीचीन और सार्थक है।

परमात्मा समस्त धरती के स्वामी हैं, 'मेदिनी पति' हैं। इसलिए वह सब के कृत्यों को जानते हैं। मेदिनी में संसार की भौतिकता की ओर संकेत है। मेदस् और मेधस् दोनों संसार के दो पहलू हैं। मेधा और मेदिनी दोनों को नियंत्रित करने वाले भगवान् का अधिकार क्षेत्र न केवल पार्थिव जगत् तक सीमित है, बल्कि स्वर्ग, मंर्त्य और पाताल तक व्याप्त है। त्रिपद और त्रिदशाध्यक्ष—इसी बात को स्पष्ट करते हैं। उनके तीन पैर हैं—वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ; स्वर्ग, मर्त्य और पाताल; मन, वाक् और कर्म; ऋक्, साम और यजु आदि। 'पद' शब्द भी अत्यंत व्यापक है। शब्द, पैर, स्थान, पदवी आदि इसके कई अर्थ निकलते हैं। तीन पदों से युक्त और तीन पदों के सहारे प्राप्य भगवान त्रिदशों या देवताओं के भी अध्यक्ष हैं। देवताओं को दिव्य शक्तियां प्रदान करने वाले लोक स्वामी सबके ऊपर मूर्धन्य स्थान पर विराजमान हैं। इसलिए उनको 'महाशृंग' कहा गया है। बड़ी सींग वाली एक मछली की कहानी पुराणों में आती है। शतपथ ब्राह्मण में भी प्रलय में वची एक मछली का किसी नाव से टकराना और सृष्टि के वीज रूप में विद्यमान होना वर्णित

है। इसी प्रकार महाप्रलय में भी पुनः सृष्टि का बीज बोने वाले परमात्मा को यहां पर महाशृंग का नाम दिया गया है।

इस श्लोक का अंतिम नाम है 'कृतांतकृत्'। संसार की समस्त संपन्न रचना को समाप्त करने वाले समाहर्ता का भी समापन करने वाला 'कृतांतकृत्' है। सारा संसार किसी का किया हुआ कृत्य या कृत है जिसको यमराज समाप्त करते हैं। उस यमराज के भी अधिराज भगवान् को यहां पर कृतांतकृत् बिलकुल ठीक कहा गया है।

भगवान् का अपना कोई जन्म न होना, सबके जन्म का कारक होना और समस्त जीव जगत् का तारक बनकर उनको मुक्ति का मार्ग दिखाना काफी गंभीर और रहस्यात्मक तथ्य हैं। इसी गहन गोचर रहस्य की ओर अगला श्लोक संकेत करता है—

महावराहो गोविंदः सुषेणः कनकांगदी।
गुह्यो गभीरो गहनो गुप्तश्चक्रगदाधरः ॥५८॥

जिस दिन भगवान् का स्मरण किया जाता है, वही जीवन का सुदिन है। इसी को वराह (श्रेष्ठ दिन) कहा जा सकता है। इस प्रकार भगवान् का स्मरण करते-करते जितने सुदिन जीवन में बन पाते हैं, उन्हीं में से किसी महत्वपूर्ण पुण्य पर्व पर भगवान् का साक्षात्कार होता है, अपनी अंदर की दिव्यता का आभास होता है और आत्मा का आंतरिक रहस्य प्रकट हो जाता है। वही जीवन का महान् क्षण है और उसी को यहां महावराह कहा गया है। भगवान् वराह का रूप भी धारण करते हैं। वराह अनंतकाल की अभीष्ट घड़ी का

भी सूचक हो सकता है और साधारण जीव का भी। किसी भी रूप में देखा जाए, वह महान् है और भगवान् का वाचक बन सकता है। जीवन में यह महान् अवसर कैसे पाया जा सकता है, इसका संकेत अगले नाम 'गोविंद' से मिलता है।

'गोविंद' भगवान् कृष्ण का लोक प्रिय नाम है। गायों को चराते हुए गो, गोप और गोपी समूह को आनंद प्रदान करने के कारण कृष्ण को 'गोविंद' का नाम दिया गया है। गोविंद का नाम लेने मात्र से कोई भी दिन सुदिन बन जाता है। श्री महाविष्णु की आज्ञा से प्रवर्त्तमान काल के रूप में भगवान् को देखकर कोई भी अच्छा कार्य शुरू किया जाता है। इस प्रकार कार्यारंभ में किया जाने वाला संकल्प गोविंद नाम का तीन बार उच्चारण करने के बाद—श्री गोविंद गोविंद गोविंद कहकर—बोला जाता है। इससे गोविंद नाम की महिमा स्पष्ट होती है। 'गो' शब्द में गाय, भूमि, स्वर्ग, वाणी आदि कई अर्थ निहित हैं। इसलिए 'गोविंद' नाम भी बहुमुखी व्यंजना का आधार बनता है। साधुता, सहिष्णुता, प्रभविष्णुता और ओजस्विता क्रमशः गाय, पृथ्वी, स्वर्ग और वाणी के लक्षण हैं। इन सबसे विभूषित भगवान् विष्णु का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए इन्हीं गुणों की अपेक्षा होती है। सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, आशा-निराशा सबको मौन मुद्रा के साथ स्वीकार करना, दुनियां भरकी बुराइयों को ऊँचे मस्तिष्क और खुले हृदय से सह लेना और मधुर गंभीर वाणी से सबका मन बहलाना—यही गोविंद के लक्षण हैं।

भगवान् की सेवा भी शोभा बढ़ाने वाली होती है; इसलिए उनको 'सुषेण' कहा गया है। वानर सेना का वृद्ध योधा और

संजीवनी का पारखी भी सुषेण के नाम से जाना जाता है। अंधकार से लड़कर प्रकाश की ओर बढ़ना ही जीवन-संग्राम का ध्येय है और इस संघर्ष में बहुत भारी सेना की आवश्यकता पड़ती है। यह सारी सेना भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होती है। सुग्रीव, हनुमान्, अंगद, जांबवान् ग्रादि रामधारा के पोषक सेनानी थे जब कि कुंभकर्ण, शूर्पणखा, त्रिशिर, अतिकाय, विरूपाक्ष ग्रादि राक्षस आसुरी पंथ के अनुयायी थे। इन दोनों पक्षों के योधाओं के नामों का विश्लेषण करने से ही पता चलता है कि भगवान् की सेना कितनी सुमुख ग्रौर सुदृढ़ है। राम-रावण के बीच का यह संघर्ष जड़ चेतनमय जगत् में निरंतर चलता रहता है। इसमें विजय पाने के लिए सुषेण भगवान् की सेना का सहारा बहुत ही ज़रूरी है। यह सेना शारीरिक भी हो सकती है, मौखिक भी हो सकती है और मानसिक भी हो सकती है। श्री ललिता परमेश्वरी की बृहत्सेना को ब्रह्मांण्डपुराण में 'भाषा रूपा' बताया गया है। शारीरिक बल से मौखिक बल अधिक सूक्ष्म और प्रभावशाली होता है और मौखिक बल से भी मानसिक बल अधिक शक्तिशाली होता है। ये तीनों प्रकार के बल सुषेण भगवान् की सेना में मौजूद हैं क्योंकि वह कर्म, मन और वाणी के स्वामी हैं।

उनकी बाहों पर सोने के भुज बंध सजाए हुए हैं। इसलिए उनको 'कनकांगदी' कहा गया है। कनक या सोने की चमक में कांति, बाहुबल में क्षांति और गंभीर मुखमुद्रा में शांति का अलौकिक सामंजस्य भगवान् को लोकोत्तर लावण्य से आलोकित कर देता है। बाहर से वह जितने सुन्दर हैं, भीतर से उतने ही गंभीर हैं। बड़ी गहराई के साथ सोचने और

विचारने पर ही उनका आंतरिक रहस्य समझ में आता है। इसलिए वह गुह्य, गभीर, गहन और गुप्त हैं। किसी वस्तु की रहस्यात्मकता या गोपनीयता को व्यक्त करने के लिए जितने शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है, उन सबका एकत्रित प्रयोग यहां पाया जाता है। परम रहस्यमय तत्व से भी रहस्यात्मक होने के कारण भगवान् को यहां पर गोप्यता वाचक अनेक शब्दों में व्यक्त करने का प्रयास किया गया है।

भगवान् के ही शब्दों में भगवत् तत्व 'गुह्याद् गुह्यतमं परम्' (सबसे अधिक गोपनीय) होता है। फिर भी बाहर से भगवान् चक्र और गदा धारण करने वाले साधारण योद्धा जैसे दिखाई देते हैं। पर ये चक्र और गदा भी रहस्यात्मक हैं। अनंत काल का प्रतिनिधित्व करने वाला सुदर्शन चक्र और समस्त भू-मंडल को उल्लास के हास से सरसाने वाली कौमोदकी गदा—दोनों भगवान् के सत्य और धर्म के उज्ज्वल प्रतीक हैं।

अपनी बृहत् सेना और अमोघ अस्त्रों के द्वारा भगवान् सारी सृष्टि को अपनी ओर खींच लेते हैं। इस आकर्षण शक्ति की प्रचंड पटिष्ठता का वर्णन अगले श्लोक में मिलता है—

वेधाः स्वांगो जितः कृष्णो दृढः संकर्षणोऽच्युतः।
वरुणो वारुणो वृक्षः पुष्कराक्षो महामनाः ॥५९॥

विधि का विधान जितना अटल होता है, भगवान् का शासन भी उतना निश्चित, निश्चल और निर्णायक होता है। शासन करने में वह वेधा हैं, विधि के निर्माता हैं। सफल

शासक के लिए आत्मनिर्भरता और आत्म विश्वास दोनों गुण परम आवश्यक हैं। भगवान् के 'स्वांग' नाम में ये दोनों गुण हैं। वह अपने अंगों से बने हुए हैं, अपने पैरों पर आप खड़े होते हैं, अपनी आंखों से देखते हैं, अपने कानों से सुनते हैं और अपने मुंह से बोलते हैं। बात कुछ अजीब सी लगती है। पर ज़रा सोचने से पता चलता है कि यह कितना कठिन काम है। अपने ही अंगों के सहारे अपने जीवन का स्वांग (नाटक) चलाना कोई मामूली बात नहीं है। ईश्वरीय प्रतिभा के लिए ही यह संभव है। "उद्धरेदात्मनात्मानम्" (अपनी ही आत्मा से अपनी आत्मा का उद्धार करो)—इस आदेश में भी यही 'स्वांग' झलकता है।

जिसमें यह आत्म निर्भरता हो उसकी विजय अवश्यंभावी है। उसे कोई हरा नहीं सकता। इसलिए वह अजित है। शासन का मार्ग सुनिश्चित कर लेना, अपने ऊपर आप निर्भर रहना, पराजय का विचार ही मस्तिष्क से मिटाना—इन गुणों के साथ भगवान् में एक और विशिष्ट गुण है। वह है—आकर्षण। भगवान् के शासन को सब सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। अपनी इच्छा से सब उनके अधिकार को मान लेते हैं। यही कृष्ण नाम की सार्थकता है। कृष्ण शब्द काले रंग का भी द्योतक है। काले रंग में सभी रंग मिल जाते हैं। उस पर कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण में सारी सृष्टि घुल मिल जाती है। वही सबकी पराकाष्ठा हैं। उसे पाने के बाद और कुछ पाने योग्य नहीं रह जाता है। कृषि तत्व से भी कृष्ण शब्द का संबंध है। भूमि पर कृषि की जाती है। सारी पृथ्वी भगवान् के लिए कृष्य (खेती करने की) भूमि है। विशाल विश्व को कृष्य भूमि बनाकर

विराट् कृषक भगवान् अच्छी-अच्छी फसलें उगाते हैं। पर कृषि का फल कृषक को नहीं, कृष्य भूमि को ही मिलता है। यही कृष्ण की कृषि की विशेषता है और यही उनका आकर्षण है।

भगवान् खेल ही खेल में सब कुछ करते हैं, पर हृदय के पक्के हैं। एक बार मन में कुछ संकल्प कर लिया तो उसी के अनुसार काम करते हैं। यह दृढ़ता भी प्रशासक के लिए बहुत ही आवश्यक है। ढिलाई से भले से भला नियम भी निरुपयोग और निरर्थक बन जाता है। भगवान् की यही दृढ़ता दूसरों को उनके पास ले जाती है। दूसरों को समझाने के लिए वह अपने विचारों में परिवर्तन नहीं करते, बल्कि दूसरों को अपने विचारों के अनुकूल बना लेते हैं। यही संकर्षण उनकी सफलता की कुंजी है। वह अच्युत भी हैं, अपने मार्ग से तनिक भी विचलित नहीं होते। धर्म का तकाज़ा है कि धर्म के मार्ग पर चलने वाला ही दूसरों को उस रास्ते पर ला सकता है। स्वयं धर्म का पालन न करे तो दूसरों से कराना असंभव है। इसलिए सच्चे शासक के रूप में लोक नायक भगवान् निर्णायक, आत्म निर्भर, अजेय, आकर्षक, दृढ़, समर्थ और संयत रहते हैं।

वह पानी की तरह सरस होते हुए भी समुद्र की तरह गंभीर होते हैं। वरुण देव में उन्हीं की यह सरस गंभीरता विद्यमान है। बादल की तरह वह गंभीर बन जाते हैं, पर आवश्यक होने पर सरस वर्षा बन कर संसार को रसमय बनाते हैं। वरुण या जल देवता में जितने लक्षण हैं, वे सब भगवान् में हैं। इसे यों कहा जा सकता है कि भगवान् कभी-

कभी वरुण का रूप धारण करते हैं और वरुण जन्य वारुण का भी। संध्याकालीन ज्योति को भी वरुण की संज्ञा दी जाती है। 'इमं मे वरुण श्रुधीहवं' आदि सांध्योपासना के मंत्रों में सायंकालीन संध्या को वरुण के रूप में आमंत्रित किया जाता है। संध्या में संसार का सार निहित है। परमात्मा का परम रहस्यमय तत्व संध्या की किरणों में घुल मिलकर खेलता है। इसीलिए संध्या की उपासना भगवान् की आराधना की सबसे उत्तम विधि बताई गई है। वेदमाता गायत्री संध्या के आलोक में ही निवास करती है। सुबह-शाम जो संध्या की वंदना करते हैं, उनको वरुण और वारुण के रूप में विद्यमान भगवान् की पूरी-पूरी अनुकंपा प्राप्त होती है।

भगवान् के लक्षण 'वृक्ष' में भी देखे जा सकते हैं। अंतरिक्ष में निराधार खड़े हुए पेड़ के रूप में भगवान् का वर्णन किया जाता है। ऊपर को ओर फैली शाखाओं से युक्त पीपल के पेड़ के रूप में भी परमात्मा की परम सत्ता को देखा गया है। वैसे लौकिक दृष्टि से भी वृक्ष की साधना बहुत ही उच्चकोटि की है। धूप-वर्षा, प्रकाश-अंधकार, पशु-पक्षी, बाल-वृद्ध सबका आघात सहते हुए सबको आनंद प्रदान करने वाला और जब तक ज़िंदा है, तब तक अपने स्थान पर अटल रहने वाला वृक्ष कोई कम साधक नहीं है। दूसरों का भला करना ही उसकी साधना का एकमात्र ध्येय है। लोकशासक भगवान् की निष्ठा भी इसी प्रकार की है। बरसने वाले बादल भी वही हैं, सागर को भरने वाला पानी भी वही हैं और पानी पीकर फलने फूलने वाला पेड़ भी वही हैं। पेड़ के ऊपर खिलने वाला फूल भी भगवान् की प्रफुल्लता को ही प्रकट करता है।

वह 'पुष्कराक्ष' हैं। कमल की तरह खिली हुई उनकी आंखें सरोवर की तरह सजल और सदय दिखाई देती हैं। आंखों में मन के विचार झलकते हैं। भगवान् की दृष्टि जितनी निर्मल, व्यापक और कल्याणमय है, उतना ही सुलझा हुआ और उभरा हुआ उनका मस्तिष्क है। वह महामना हैं। महान् मन जीवन की सबसे बड़ी संपत्ति है। उन्नत मन शासन में शान लाता है। इस प्रकार इस श्लोक के सभी नाम लोकनायक भगवान् की शासकीय गरिमा को बड़ी बारीकी से खोलकर बताते हैं। वैसे देखा जाए तो इस दिव्य नाम सहस्र का प्रत्येक नाम विश्व विधाता की सार्वभौमिक शासन-पटुता का कोई न कोई पहलू प्रस्तुत करता है। तभी तो यह अनुशासन पर्व का अंग बन गया है।

—०—

२५. शांति परायण की शमनिष्ठा

भगवान् विष्णु के हज़ार नामों में एक 'भगवान्' भी है। भगवान् शब्द का प्रयोग न केवल परमात्मा के लिए, बल्कि अनेक दिव्यात्माओं और कुछ महात्माओं के लिए भी किया जाता है। 'भगवान्' शब्द की इसी भगवत्ता को दृष्टि में रखकर भागवत महापुराण और भगवद्गीता को भगवत् संबंधी नाम दिए गए हैं। इसलिए भगवान् शब्द जितना व्यापक और लोकप्रिय है, उतना ही मार्मिक और सारगर्भित है। इसी रहस्य का उद्घाटन श्री विष्णु सहस्रनाम के अगले श्लोक में देखा जा सकता है—

भगवान् भगहानंदी वनमाली हलायुधः।
आदित्यो ज्योतिरादित्यः सहिष्णुर्गतिसत्तमः ॥६०॥

संसार का समस्त ऐश्वर्य, धर्मपरायणता, यशस्विता, सश्रीकता, ज्ञान और वैराग्य—ये छह संपत्तियाँ 'भग' शब्द की परिधि में आती हैं। जो इन विभूतियों को प्रदान करने में समर्थ हैं, वही भगवान् हैं। यह सामर्थ्य उन्हीं में होता है, जो असंख्य प्राणियों का उद्भव, विकास और विनाश जानते हों और यह भी जानते हों कि क्या जानने योग्य है और क्या नहीं है। वही भगवान् कहलाने योग्य है। विष्णु पुराण ने

भगवान् शब्द में इसी प्रकार की सर्वज्ञता की अपेक्षा प्रकट की है—

> उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम् ।
> वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ।।

ज्ञान और दया के अपार सिंधु भगवान् में जो हजारों गुण हैं, उन सब के दो प्रमुख आधार स्तंभ हैं जो 'भग' शब्द के दोनों अक्षरों में प्रतिष्ठित हैं। पहला अक्षर 'भ' प्रकाश, ज्योति या द्युति का सूचक है जब कि दूसरा अक्षर 'ग' प्रगति या गतिशीलता का द्योतक है। संसार में जितना प्रकाश है, वह प्रकाशात्मा परमात्मा का ही प्रसाद है—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (उसी की प्रभा से सारा संसार प्रतिभासित होता है।) भगवान् का प्रकाश एक ही जगह पर केन्द्रित या स्थिर रहने वाला नहीं है। वह हर जगह फैलता है। यही गतिशीलता भगवान् के प्रकाश की विशेषता है। इस प्रकार भग शब्द के दोनों अक्षर द्युति और गति के प्रतीक हैं जो भगवान् के प्रधान लक्षण हैं। 'भाति' और 'गच्छति' (चमकता है और चलता है), इसलिए वह भगवान् हैं। भगवान् भास्कर के बारह रूपों में भी एक भग कहा जाता है। 'भग' नामक भास्कर को भी कांति प्रदान करने वाले भगवान् विष्णु प्रकाश के प्रमुख पुंज हैं। चंद्र, सूर्य और अग्नि में जो प्रकाश या तेज होता है, उसका मूल स्रोत भगवान् विष्णु ही हैं।

इसके बाद वाला नाम 'भगहा' भगवान् के दूसरे पहलू पर प्रकाश डालता है। प्रकाश देने वाला भगवान् प्रकाश लेने वाला भगहा या भगघ्न भी बन जाता है। भगवान् शंकर को भी भगघ्न कहा जाता है। सब कुछ नष्ट करने वाले लयकारी

शंकर में जो विलयन तत्व है, वह प्रकाश पुंज परमात्मा विष्णु में भी है। वह प्रकाश देते भी हैं और लेते भी। दिन और रात उन्हीं की लीला के परिणाम हैं। आलोक और अंधकार दोनों उसी लोकस्वामी के अनुग्रह के परिणाम हैं। अंधकार के विना प्रकाश का अस्तित्व नहीं हैं। इसलिए संसार के लिए प्रकाश जितना आवश्यक है, अंधकार भी उतना ही आवश्यक है। दोनों को संतुलित रूप से संसार में प्रसारित करने वाले भगवान् अपने आनंद के लिए यह सब करते हैं और इसी में सबका आनंद है। भगवान् आनंद के मूर्त रूप हैं। चाहे प्रकाश के रूप में हो या अंधकार के रूप में—वह आनंद का ही प्रसार करते हैं।

वह 'वनमाली' हैं। विभिन्न ऋतुओं में विकसित होने वाले तरह-तरह के फूलों से गुंथी हुई, घुटनों तक फैली हुई और बीच में कदंब के फूलों के गुच्छों से सजी हुई नयन मनोहर माला को वनमाला की संज्ञा दी गई है—

आजानुलंबिनी माला सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वला।
मध्ये स्थूलकंदबाढ्या वनमालेति कीर्तिता॥

यही वनमाला भगवान् का कंठहार है। यह माला केवल साधारण फूलों की माला नहीं है, इन फूलों में भगवान् के प्रकाश की प्रफुल्लता है, तरल हृदय की सजलता है। प्रकाश के प्रतापन से धरती का पानी आसमान में बादल बन जाता है और बादल के बरसने से पेड़ पौधे फूलते-फलते हैं। इसी में भगवान् की लीला का आनंद है। इसलिए वनमाली की माला केवल फूल पत्तों की वनमाला नहीं है, वह संसार को आलोकित और आवासित करने वाली जीवन माला है। परमात्मा का प्रकाश अखंड है और प्रचंड भी है। उसी के संतुलित संप्रसारण

और विप्रसारण से सारी सृष्टि जीवन पाती है और उसी जीवन की वनमाला से परमात्मा अपने को अलंकृत पाते हैं।

परमात्मा के हाथ में हथियार भी हैं जिनको वह संसार को रसमय और उर्वर बनाने के लिए काम में लाते हैं। खेत जोतने का लांगल या हल उनका हथियार है। इसलिए उनको 'हलायुध' कहा गया है। हल चलाने से संसार का समस्त कोलाहल शांत हो जाता है और जीवन में वन की शोभा छा जाती है और मन प्रसन्न हो जाता है। इस सारी हरियाली का मूल स्रोत भगवान् का प्रकाश है जो कभी सूर्य में दिखाई देता है, कभी चंद्रमा में और कभी अग्नि के रूप में। कहीं पर वह धूप है, कहीं चांदनी है, कहीं ताप है और कहीं अंधकार है।

यह सारा प्रकाश अक्षर परब्रह्म की अनुकंपा का प्रसाद है। अक्षर से ही प्रकाश का उदय होता है—'अक्षराद् दीप्ति-रुच्यते'। उस अक्षर के आलोक से गुंथी हुई वर्णमाला ही अक्षर परब्रह्म के अपूर्व सौंदर्य को बढ़ाने वाली वनमाला है। उसी में हल् (व्यंजन) है और उसी में स्वर है। हलायुधधारी वनमाली के प्रकाश और प्रताप की यह मनोहर कहानी भगवान्, भगहा, आनंदी, वनमाली, हलायुध--भगवान् के ये पांच नाम बहुत ही सरल भाषा में सुनाते हैं।

अगले दो नाम 'आदित्य' और 'ज्योतिरादित्य' भी इसी पर प्रकाश डालते हैं। अदिति की संतान आदित्य है। वामन के अवतार में भगवान् ने अदिति को माता बनने का सौभाग्य प्रदान किया और वह स्वयं वामन (बौने) बन गए। पर यह वामन अंत में त्रिविक्रम निकले। तीनों लोकों में उनका विराट् रूप छा गया। तीनों संध्याओं में छा जाने वाले

भगवान् भास्कर की भांति वह केवल आदित्य (अदिति के पुत्र) ही नहीं, बल्कि ज्योतिरादित्य (प्रकाश प्रदान करने वाले परमादित्य या विक्रमादित्य) बन गए। भगवान् को केवल आदित्य कहने से काम नहीं चलता। आदित्य तो अनेक हैं। उनमें से ज्येतिर्मय आदित्य—आदित्यों को आलोक प्रदान करने वाले अखंड स्रोत—भगवान् विष्णु हैं। 'आदित्यानामहं विष्णु:'—यह गीता वाक्य इसी बात की पुष्टि करता है।

वह 'सहिष्णु' भी हैं—सबसे बढ़कर और सब कुछ सहने वाले। प्रकाश फैलाने वाली ज्योतिर्मय वस्तुओं में ही नहीं, उस प्रकाश को गतिशील बनाने में भी भगवान् सर्वोपरि हैं। वह 'गति सत्तम' हैं। उन से अधिक गतिशील सत्ता को कल्पना नहीं की जा सकती। श्रुति का प्रमाण है —

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्
तद्धावतोन्यानत्येति तिष्ठत्
तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।

(वह निश्चल है। लेकिन अगर चल पड़ता है तो मन से भी जल्दी आगे बढ़ता है। इसलिए पहले से आगे बढ़े हुए देवता लोग भी उसे पकड़ नहीं पाते और दौड़ने वालों से भी वह आगे दौड़कर खड़ा हो जाता है। संसार का पानी, पवन सब उसी में बसते हैं)।

आत्मा की यही गतिशीलता परमात्मा को गतिसत्तम बनाती है। सहिष्णुता इस गतिशीलता को शालीन बनाती है। प्रकाश देने लेने, प्राणियों में जीवन संचारित करने कराने, सब कुछ सहने और आगे बढ़ते ही रहने के विभिन्न प्रकार के लक्षण भगवान् विष्णु की भगवत्ता को सिद्ध करते हैं।

इसी भगवान् की दो परस्पर विरोधी क्षेत्रों में समान जागरूकता और दक्षता को श्री विष्णु सहस्रनाम का अगला श्लोक स्पष्ट करता है—

सुधन्वा खण्डपरशुर्दारुणो द्रविणप्रदः।
दिवः स्पृक् सर्वदृग्व्यासो वाचस्पतिरयोनिजः ॥६१॥

भगवान् के हाथ में सुन्दर धनुष है जिस से वह शिष्टजनों की रक्षा करते हैं और दुष्टों को दंड देते है। दंडक वन में धनुर्धारी राम का यही काम था। प्रेमपरायण और भक्त जनावन राम को अकारण दुष्टों का संहार करते हुए देखकर सीताजी के मन में शंका उठती है कि जिन्होंने हमारा कोई अपराध नहीं किया है, उनको दंड देने का हमें क्या अधिकार है। राम की सहज सात्विक सरल प्रकृति के कारण सीताजी यह भूल जाती हैं कि राम की दृष्टि में दुष्ट वही है जो शिष्टजनों का अनिष्ट करता है, सज्जनों की सात्विक जीवन-व्यवस्था में बाधा पहुंचाता है। सीधे राम का विरोध या अहित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। करुणासागर राम अपने इष्टजनों के दुःख से अधिक दुःखी होते हैं, अपने दुःख से नहीं। वास्तव में प्रत्येक जीव की वेदना को जो अपनी वेदना समझकर उसका निराकरण करने में तत्पर रहता है; वही भगवान् है। भगवान् का अपना कोई सुख दुःख नहीं होता, राग विराग भी नहीं होता। भक्त या भागवत जनों का योगक्षेम ही भगवान् का एकमात्र ध्येय होता है। इसीलिए वह धनुर्धारी बन जाते हैं।

'सुधन्वा' के बाद 'खण्ड परशु' या अखण्ड परशु जो नाम आता है, उसमें भार्गव राम की ओर संकेत मिलता है। जिस प्रकार भगवान् राम ने धनुष बाण लेकर दानवों का संहार

किया, उसी प्रकार उसके पहले भार्गव राम या परशुराम ने कंधे पर फरसा लेकर इक्कीस बार सारी पृथ्वी में विजय यात्रा की और क्षत्रियों से बदला लेने का संकल्प कर लिया था। यहां पर सुधन्वा और खण्डपरशु—दोनों नाम साथ-साथ देने से दशरथ नंदन राम और भार्गव राम दोनों की ओर एक साथ संकेत करना अभीष्ट है। दशरथ नंदन में शांतिपूर्ण पराक्रम दिखाई देता है जबकि परशुराम में हिंसात्मक और उत्तेजना-पूर्ण। एक में क्षात्र तेज है और दूसरे में ब्राह्म तेज। पर परशुराम से भेंट होने के कारण दशरथ नंदन राम में उनका ब्राह्म तेज भी शामिल हो जाता है। दोनों का संयोग वनवासी राम को दुष्ट संसार के लिए आवश्यक दुर्दान्त दोर्बल प्रदान करता है। भगवान् का फरसा (परशु) खंडित नहीं होता, इसलिए उनको अखण्ड परशु भी कहा जा सकता है।

इसी सम्मिलित पराक्रम के कारण वह दारुण बन जाते हैं। सामान्य शक्ति उनके सामने टिक नहीं पाती। पर वह करुणामय हैं। जिन को जिस प्रकार के द्रव्य या सहयोग की आवश्यकता है, उसे उनको पहुंचाते हैं। वह 'द्रविण प्रद' हैं। दया से उनका हृदय पिघल जाता है और वही संसार की सारी द्रव्य राशि है। सोना, चांदी, तांबा आदि अनेक उपयोगी धातुएं भगवान् के कृपा रस के ही परिणाम हैं।

केवल धरातल की संपत्ति ही नहीं, आकाश या अंतरिक्ष का आलोक भी उन्हीं का है। वह 'दिवः स्पृक्' हैं। वह आसमान को छूने वाले हैं। असल में आकाश ही परमात्मा का शरीर है—आकाशशरीरं ब्रह्म। आकाश से ही पंच-भूतात्मक सृष्टि का विकास होता है। आकाश से वायु, वायु वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी—यही पांच-

भौतिक परिणाम का क्रम है। इस लिए आकाश को स्पर्श करने वाले दिवः स्पृक् परमात्मा पांच महाभूतों और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध नाम की पांच तन्मात्राओं के मूल कारण हैं। गीता में भी कहा गया है कि जैसे आकाश में सर्वत्र पवन का प्रचलन होता है, वैसे ही परमात्मा का पावन सान्निध्य पाँचभौतिक जगत् के प्रत्येक कण में देखा जा सकता है। पर इसके लिए दिव्य दृष्टि की आवश्यकता है। नश्वर नेत्रों को नश्वर पदार्थ ही दिखाई देते हैं। अविनश्वर दृष्टि से देखने पर पार्थिव संसार में प्राणवायु की तरह संचारित होने वाले सनातन सत्य के साकार रूप परमात्मा के दर्शन होते हैं।

चाहे जीवात्मा परमात्मा को देखने में समर्थ हो या नहीं, परमात्मा सभी जीवों को निरंतर देखते रहते हैं। उनकी दृष्टि सर्वव्यापी है। सबको एक साथ अलग-अलग देखने में समर्थ सर्वात्मा को यहां पर 'सर्वदृग् व्यास' कहा गया है। वह सब कुछ देखते हैं, सबको देखते हैं और सब जगह देखते हैं। पर जिस व्यक्ति पर उनकी दृष्टि पड़ती है, वह समझता है कि भगवान् केवल उन्हीं को देख रहे हैं। सर्वान्तर्यामी की यह एकांत तत्परता उनके भक्तों में श्रद्धा और प्रेम का सुन्दर सामंजस्य स्थापित कर देती है। श्रद्धालु अपने श्रद्धेय की दृष्टि अपनी ओर आकृष्ट कर लेना अवश्य चाहता है, पर उसका सारा श्रेय और आनंद केवल अपने लिए नहीं चाहता है। पर प्रेमी अपनी प्रेयसी का पूरा-पूरा प्रेम केवल अपने लिए चाहता है। उसमें किसी और का हिस्सा उससे सहा नहीं जाता। भगवान् की भक्ति भावना में ये दोनों तत्व घुल मिल जाते हैं। जैसे भक्त भगवान् को अपने लिए और सबके लिए चाहते हैं,

वैसे ही भगवान् सबको अपना प्यार अलग-अलग और समुचित अनुपात में बांटते हैं। आकाश कुसुम की भांति अतिदुर्लभ परमात्मा को अपनाकर अपने अंदर प्रतिष्ठित करने के लिए प्रत्येक भावुक भक्त लालायित होता है।

यह कैसे संभव है? इसका समाधान इस श्लोक का अंतिम नाम 'वाचस्पतिरयोनिज' प्रस्तुत करता है। यह बहुत लंबा नाम है। इसमें दो अलग-अलग शब्द हैं—वाचस्पति और अयोनिज। वाचस्पति का मतलब है—वाणी का स्वामी या अधिष्ठाता और अयोनिज का मतलब है कि उसका जन्म अपने आप हुआ है, किसी अन्य आधार से नहीं। ये दोनों शब्द मिलकर भगवान् का वाङ्मय रूप निर्धारित करते हैं। भगवान् हमारी वाणी के रूप में प्रतिष्ठित हैं, पर हमारे मुंह से निकलने वाली हर बात में भगवान् नहीं होता। जो बात हमारी इच्छा या चेष्टा के बिना परमात्मा की प्रेरणा से या अंतरात्मा की अनुकंपा से हृदय के अंतस्तल से निकलती है, उसमें प्रभु का पावन सान्निध्य होता है। वास्तव में वह प्रभु की ही वाणी है। इसी को समाहित या रस सिद्ध वाणी की संज्ञा दी जाती है। प्रायः यह कहा जाता है कि जो ऋषि न हो, वह कवि नहीं बन सकता। पर हम देखते हैं कि जो ऋषि तुल्य नहीं हैं, वह भी कविता लिखते हैं और उनकी कविता काफी लोकप्रिय होती है। इसके पीछे रहस्य यही है कि जब कवि अपनी काव्य साधना में तल्लीन रहता है तब वह ऋषि की मनोदशा में ही रहता है। तभी तो उसकी वाणी प्रभु की वाणी बन जाती है। जो भी वाणी हृदय से निकलकर हृदय को स्पर्श करने वाली हो, वह प्रभु की यादृच्छिक (अयोनिज) वाणी है। इसी में परमात्मा रहते हैं।

परमात्मा का वाङ्मय रूप कहां, कैसे प्रकट होता है, उससे संसार की बाधाओं का उपशमन कैसे होता है और उससे शाश्वत शांति कैसे प्राप्त होती है, ये सब बातें अगले श्लोक में बताई जाती हैं—

त्रिसामा सामगः साम निर्वाणं भेषजं भिषक्।
संन्यासकृत् शमः शांतो निष्ठा शांतिः परायणम् ।।६२।।

मन, कर्म और वाणी—मानव जीवन के तीन साधना-स्थल हैं। इन तीनों से सामंजस्य होने से मानव का अंतःकरण शुद्ध बन जाता है, मानव मन की तंत्रियों से समरसता का सामगान बज उठता है और मानवता में समता की निर्मल सरिता लहर-लहर कर बहती है। पर व्यवहार में मानव का मन सोचता कुछ है, करता कुछ और है और कहता इन दोनों से अलग। इसीलिए सार्वजनिक जीवन में अशांति, असमानता और असंतोष के बादल छा जाते हैं। इससे व्यक्ति का एकांत और क्षणिक प्रयोजन भले ही सिद्ध हो, पर सर्वात्मा की सद्भावना पर आघात पहुंचता है। इसीलिए सर्वेश्वर की इच्छा होती है कि उनके बनाये सभी जीव इस त्रिकरण शुद्धि (मन, कर्म और वाणी में सामंजस्य) के लिए निरंतर प्रयास करें। जिन में यह सामंजस्य है उनकी वाणी में भगवान् निवास करते हैं। उनकी वाणी वेदवाक् बन जाती है। मन का सच्चा और काम का पक्का आदमी कभी झूठ नहीं बोल सकता। उसकी बातों में सामवेद का स्वाद होता है। केवल सामवेद नहीं, ऋग्वेद और यजुर्वेद भी उसके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग बन जाते हैं। वास्तव में अच्छे-अच्छे विचार ऋग्वेद की ऋचाओं का महत्व रखते हैं और लोक कल्याणकारी आचरण यजुर्वेद की याद दिलाते हैं और हृदय

को पुलकित करने वाली वाणी सामवेद की महिमा से अनुप्राणित होती है। समरसता के यही तीन संगम-स्थल तीन वेद हैं जिन में परंधाम का निरंतर निवास होता है। परमात्मा का गुणगान होना चाहिए। तभी तो वह सामग हैं। वह स्वयं साम (सामवेद) हैं। सामगायन से संतुष्ट होने वाले सर्वेश्वर स्वयं सामवेद की मीठी-मीठी स्वर लहरों में रम जाते हैं और उसी में बस भी जाते हैं।

निर्वाण का सही ग्राशय यही है कि जिस वाणी ने प्राणी को जन्म दिया है, उसी में वह समा जाए और अपने को कृतकृत्य समझे। मानव जीवन का सबसे बड़ा वरदान मनुष्य की वाणी है। जीवन के आरंभ में और जीवन के अंत में एक अखंड नीरवता छाई रहती है। नीरवता के इन दोनों छोरों को मिलाने वाली मंजुल वाणी मानव जीवन को मुखरित कर देती है। पर इस वाणी का प्रयोजन ग्रनंत नीरवता में एकाकार होने में ही है। वाणी क्षणिक है, मौन शाश्वत है। जीवन अशांत है, निर्वाण प्रशांत है। पर जीवन ग्रौर वाणी के सहारे ही मौन और निर्वाण की महिमा और गरिमा को हृदयंगम किया जा सकता है। शरीर साधन है, ग्रात्मा साध्य है। शरीर के संबल के बिना आत्मा का आलोक ग्रवगत नहीं होता। इसीलिए सामगान के अंतर्गत आने वाली केनोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि जब शरीर साथ दे रहा है, तभी इस शरीर के अंदर के सत्वसार को हमें ग्रहण करना चाहिए, नहीं तो बहुत बड़ा नुकसान होगा। इस संकेत को सही दृष्टि से समझकर शरीर को साधन बनाकर ग्रात्मा के आलोक में विलीन होना ही 'निर्वाण' है। इसलिए 'निर्वाण' भगवान का दूसरा नाम है।

इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए उपाय भी भगवान् ही बताते हैं। जीवन रूपी व्याधि के लिए वह औषध तैयार करते हैं। पर यह दवा भी वह स्वयं हैं। जीवन को पाकर सत्य का साक्षात्कार करने के लिए भगवान् रूपी औषधि का सेवन करना होगा और यह औषधि भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होती है। इस लिए वह भेषज (दवा) भी हैं और भिषक् (दवा देने वाले वैद्य) भी। यहाँ पर गोस्वामी तुलसीदास की एक सुन्दर पंक्ति याद आती है—

'बिनु सतसंग विवेक न होई, राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।'

इस औषधि या अमोघ साधन को प्राप्त करने के लिए अपना सब कुछ आराध्य के चरणों में अर्पित करना होगा। यह इतना आसान नहीं है, जितना समझा जाता है। इस समर्पण की भावना का शुभोदय भी भगवान् की कृपा पर निर्भर है। भगवान् के श्रीचरणों में अपना सर्वस्व न्यास (ट्रस्ट) के रूप में रखना ही सच्चा संन्यास है। इस संन्यास की दीक्षा भगवान् स्वयं देते हैं—केवल कुछ अधिकारी संतों को। इसके लिए अर्हता प्राप्त करनी है तो ऊपर बताई गई समरसता, सामंजस्य, समबुद्धि और त्रिकरण शुद्धि अनिवार्य है। इस साधना में सिद्ध होने पर भगवान् के सान्निध्य में वह पहुँच पाता है। एक बार भगवान् के दरबार में प्रवेश मिल जाए तो शांति की कोई कमी नहीं होती। शम, दम आदि संयम संपदा अपने आप मिल जाती हैं। अपने को नियंत्रण में रखना तभी संभव होता है जब मनुष्य अपने आप को किसी महत्तर सत्ता का अमोघ अस्त्र समझ ले। जब तक यह भावना हो कि यह काम मैं कर रहा हूँ, यह मेरी उपलब्धि है, मेरी वजह से सबको सुख संपदा मिल रही है, तब तक अहंकार, क्रोध, ईर्ष्या, लोभ मोह आदि बुराइयों को बढ़ावा मिलता है। इसके विपरीत जब मनुष्य

में यह विवेक पैदा हो जाए कि जो कुछ हो रहा है, वह किया नहीं जा रहा है, कराया जा रहा है तब ममता की कोई गंध तक नहीं रहती है। ममता का बंधन मिट जाए तो समता और समरसता की सरिता अपने आप खुल जाती है। सच्चे संन्यास की यह सात्विक भावना सबके स्वांत के स्वामी का प्रसाद है।

वही संन्यासकृत् स्वामी शम, शांति के मूल स्रोत हैं। वह स्वयं शांत हैं, इसलिए शांति की लहरें फैलाते हैं। निष्ठावान् व्यक्ति ही शम या आंतरिक शांति को अपना सकता है। पर निष्ठा रूपी साधन और शम रूपी साध्य—दोनों साधकतम भगवान् की ही देन हैं। संसार में शम दम आदि के सहारे जो भी शांति पाने का प्रयास किया जाता है, वह कहीं बाहर नहीं है। मनुष्य के भीतर शांति ही शांति है। पर असंयम और असावधानी के कारण मानव अशांति का अपने आप आवाहन करता है। मन के अंदर प्रतिष्ठित शांति को निष्ठा के साथ देख लिया जाए, समझ लिया जाए और अपना लिया जाए तो जीवन में अशांति का नाम तक नहीं होगा। सच्ची शांति अंदर से मिलती है, बाहर से नहीं क्योंकि परमात्मा का निवास अंदर है। मानव जीवन की समस्त साधना का एकमात्र पर्यवसान परमात्मा की इस परायणता को समझने में है। वह धर्म परायण हैं, सत्य परायण हैं, शांति परायण हैं और समस्त तत्वों के परायण हैं। हम कोई भी काम करते हैं, तो अपने अंदर के इसी परायण (सर्वश्रेष्ठ) तत्व को समझने के लिए करते हैं। इसीलिए गीताचार्य ने अपने संदेश के सार रूप में बताया है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

—०—

२६. श्रीमान् की श्रीमाला

शांतिपरायण भगवान् की समदर्शिता में वर्ग, स्वर्ग और अपवर्ग का मंगलमय संगम है। लोक और परलोक, श्रेय और प्रेय, आत्मा और परमात्मा सब उन्हीं की रचना के अंतर्गत हैं। इसी संयोग की शोभा का वर्णन श्री विष्णुसहस्रनाम के अगले श्लोक में प्रस्तुत है—

शुभांगः शांतिदः स्रष्टा कुमुदः कुवलेशयः।
गोहितो गोपतिर्गोप्ता वृषभाक्षो वृषप्रियः ॥६३॥

भगवान् के अंग-अंग में शोभा का सागर उमड़ा पड़ता है। पर यह शोभा शुभ देने वाली है। कमल जैसी आँखें, घुटनों तक फैली लंबी-लंबी भुजाएं, वायु मंडल को चीरकर सुगंध फैलाने वाली नासिका, कैवल्य पद की ओर ले जाने वाले कमनीय चरण-कमल, सृष्टिकर्ता को प्रकट करने वाला नाभि-कमल, भगवती को बसाने वाला विशाल वक्षस्थल, अभय मुद्रा से अलंकृत करतल, शेषनाग के विष को पीयूष बनाने वाली श्रीकांत काया—सब के सब अमंगल को मंगल बनाने वाले शुभांग हैं। भगवान् ऐसे शुभ अंगों से शोभित हैं जिन से सारे संसार का प्रसार होता है। भगवान् के शुभांग से ही संसार की सर्वांग सुन्दरता प्रकट होती है। पार्थिव प्राणियों के अंग क्षणभंगुर है जबकि परमात्मा के अंग अमृत के रस कलश है। इस लिये वह 'शुभांग' हैं।

शुभांग की रूप माधुरी देखने मात्र से मन प्रसन्न हो जाता है, शांति प्राप्त हो जाती है। शांताकार शेषशायी विश्व के आधार हैं और वह आकाश के समान समस्त वायुमंडल में छाए हुए हैं। जहाँ देखें, वहाँ उस शुभांग की शोभा दिखाई देती है। संसार के सारे प्राणी उन्हीं के अंग हैं और वह अंगी हैं, अंगों के स्रष्टा हैं, प्राणों के प्रणेता हैं। स्रष्टा के शुभांग की इसी प्रशांत शोभा से पुलकित होकर द्रष्टा का मन कहता है—

'शांताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेश
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभांगं
लक्ष्मीकांतं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वंदे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथं ॥

समस्त भूमंडल को आनंद-मंगल प्रदान करने वाले परमात्मा को 'कुमुद' कहा गया है। 'कु' शब्द भू-वाच्य है, सत्ता का द्योतक है। संसार की समस्त सत्ता को आमोद-प्रमोद देने वाले को 'कुमुद' कहने में एक और आशय निहित हैं। कुमुद चंद्रमा को देखकर विकसित होने वाला फूल भी है जब कि कमल सूर्य के प्रकाश को देखकर खिल उठता है। भगवान् संसार को देखकर पुलक उठता है—दिन में कमल की तरह और रात को कुमुद की तरह। संसार की प्रत्येक लीला में भगवान् का कुसुम-हास प्रतिबिंबित है। अगला नाम 'कुवलेशय' उनके अवस्थान की ओर सारगर्भित संकेत करता है। भूमंडल के चारों तरफ लहराने वाला सागर उनका आवास है। सागर के अंतस्तल में वह इस प्रकार लेटे रहते हैं कि उनकी शीतल शांत कृपा-तरंगों से सारा संसार सिहर उठे। सागर के भीतर शेषनाग पर लेटे हुए लोकनाथ के

आलोक से समस्त भूमंडल जीने का बल प्राप्त करता है। 'कुवल' शब्द से सागर और शेषनाग दोनों का बोध होता है। जल के अंदर सर्प के रूप में प्रत्येक शरीर का मूलाधार बनकर बसी हुई कुंडलिनी भी 'कुवलेशय' कहलाने योग्य है। अतः शेषशायी भगवान् प्रत्येक प्राणी के अंदर निरंतर निवास करते हैं। पर ये गुप्त रूप में रहते हैं। गोविंद का नाम लेने से भीतर का यह गुप्त आलोक प्रकट होता है।

भगवान् के अगले तीन नाम—गोहित, गोपति और गोप्ता, इसी गोपनीय रहस्य की ओर संकेत करते हैं। 'गो' शब्द 'गाय' के अतिरिक्त पृथ्वी, स्वर्ग, इन्द्रियों और वाणी का भी द्योतक है। भगवान् इन सब के हितैषी हैं और स्वामी हैं। इसलिए उनको गोहित और गोपति कहा गया है। लेकिन वह अपनी हितैषिता और प्रभुता को गुप्त रखते हैं और अपने अधिकार-क्षेत्र में आने वाले समस्त गो-तत्व की निरंतर रक्षा किया करते हैं, इस लिए वह रक्षक या 'गोप्ता' बन जाते हैं। हमारी इन्द्रियों को काबू में रखकर, हमारी वाणी को नियंत्रित कर, हमारी लौकिक और पारलौकिक आवश्यकताओं की यथेष्ट पूर्ति करने वाले गोस्वामी के स्वरूप और स्वभाव को ये तीनों नाम बहुत ही कलात्मक ढंग से व्यंजित करते हैं। मानव की समस्त इन्द्रियों में वाणी का विशिष्ट स्थान है। मन को कर्म से मिलाने वाली कड़ी वाणी ही है। मन में जो कुछ सोचा जाता है, वह वाणी के माध्यम से प्रकट होता है और वाणी के द्वारा कही गई बात फिर कार्य रूप धारण करती है। इसलिए वाणी मन और क्रिया का संगम स्थल है और इसलिए भगवान् को वाणी बहुत ही अच्छी लगती है। अच्छी मीठी बातों से हर प्राणी प्रसन्न होता है तो प्राणों के

प्रणेता परमात्मा को वाणी क्यों न अच्छी लगती। वाणी के माध्यम से भगवान् को भक्त की भावना की गहराई का पता चलता है। जिस वाणी को प्राणी अपनी आराधना का माध्यम बना लेता है, उसके रख-रखाव का दायित्व परमात्मा अपने ऊपर लेते हैं। वही वाणी के कर्ता, धर्ता और भर्ता हैं।

संसार के कण-कण को भगवान् बड़ी बारीकी से देखते हैं, रसीली और चमकीली आँखों से देखते हैं। धर्म की निर्मल धारा और सत्य के सात्विक प्रकाश से सजी हुई उनकी आँखें 'वृषभ' की संज्ञा पाती हैं और वह 'वृषभाक्ष' कहे जाते हैं। सामान्य परिभाषा में वृषभ बैल का पर्यायवाची होता है। पर यहाँ 'वृषभ' शब्द को वृष (बरसाने वाले) तत्व और भा (प्रकाश) तत्व का संकलित रूप समझना चाहिए। बैल के अर्थ में भी वृषभ धर्म का प्रतीक माना जाता है और बैल की पुकार (गरज) सुनकर बादल बरसते हैं। धरती को स्वर्ग बनाने वाली शक्ति कृषकों के सहचर बैल में हैं और आध्यात्मिक साधना के आधार पर धर्म में भी है। जहाँ धर्म है, वहाँ परमात्मा हैं और जहाँ परमात्मा हैं, वहाँ विजय है। इसलिए विजय या सिद्धि का एक मात्र साधन धर्म है। धर्मात्मा और धर्मसंस्थापक भगवान् धर्म की आँखों से प्राणियों के कर्म को देखते हैं, आंकते हैं और हांकते भी हैं।

वह 'वृषभाक्ष' ही नहीं, बल्कि वृषप्रिय भी हैं। धर्म उनके लिए सबसे प्यारा है क्योंकि उसमें बरसने का गुण है, देने की शक्ति है। जड़ को चेतन, नीरस को सरस और असत् को सत् बनाने में समर्थ होने के कारण धर्म भगवान् की इष्ट वस्तु है।

धर्मपरायण परमात्मा की शिव साधना और कर्तव्य निष्ठा को अगला श्लोक और स्पष्ट करता है—

अनिवर्ती निवृत्तात्मा संक्षेप्ता क्षेमकृत् शिवः ।
श्रीवत्सवक्षाः श्रीवासः श्रीपतिः श्रीमतांवरः ।।६४।।

धर्म सम्मत कर्म की विशेषता यह है कि उसमें कर्म भी अकर्म बन जाता है, करने वाला करते हुए भी नहीं करता है। जो ऐसा करता है, वही सही करता है। गीता का भी यही आदेश है—

कर्मण्यकर्म यः पश्चेत् अकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।।

(जो काम करते हुए भी पाता है कि वह कुछ नहीं कर रहा है और न करते हुए भी समझता है कि सब कुछ किया जा रहा है, वह मनुष्यों में मनस्वी है और उसी का किया हुआ काम सही ढंग से पूरा किया गया काम है।)

साधारण भावना से देखने पर यह बात असंगत-सी जान पड़ती है। पर धर्म की कर्तव्य भावना से देखने पर इसका आशय स्पष्ट होता है। काम करना हमारा कर्तव्य है। पर वह अपने निजी प्रयोजन के लिए नहीं, वल्कि धर्म की प्रतिष्ठा के लिए किया जा रहा है, इस धारणा से प्रेरित होकर जो कर्म किया जाता है, वह निर्लिप्त होता है। यही धर्म सम्मत आचरण है जिसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का सह-अस्तित्व होता है। इस आदर्श आचरण के उदाहरण स्वयं भगवान् हैं जो किसी से अपना संबंध नहीं छुड़वा लेते हैं और साथ ही सबसे अपना रिश्ता तोड़ लेते हैं। यह अनिवर्ती भी हैं और निवृत्तात्मा भी। जो काम करने का वह संकल्प करते हैं,

उससे वह तनिक भी विचलित नहीं होते। उसे करके ही छोड़ते हैं। पर उनकी आत्मा या अंतःकरण के साथ उसका कोई लगाव नहीं है। यह बात महाभारत के युद्ध में श्रीकृष्ण की भूमिका का अध्ययन करने से स्पष्ट होती है। कौरव सेना कर्म की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है जब कि पांडव सेना धर्म के नेतृत्व में निवृत्ति मार्ग को निःश्रेयस् का साधन मानकर चलती है। श्रीकृष्ण दोनों में सामंजस्य लाने का प्रयास करते हैं, पर अंत में धर्म की कर्म पर विजयी सिद्ध करते हैं।

यह सब भगवान् ने क्यों किया था? सबके भले के लिए किया था और धर्म सम्मत कर्म को विजय की ओर जल्दी से जल्दी पहुँचने और पहुंचाने के लिए किया था। वह 'संक्षेप्ता' और 'क्षेमकृत्' हैं। जीवन क्षणभंगुर है, पर जीवधारा अनंत है। हज़ारों, लाखों और करोड़ों जन्म लेने पर भी जो नौका इस अनंत जीवधारा को पार नहीं कर पाती है, उसे भगवान् की कृपा से पलभर में पार पहुँचाया जा सकता है। लक्ष्य तक पहुंचने का लघुमार्ग भगवान् के हाथ में है। इसलिए वह संक्षेप्ता हैं। इतनी दूर का रास्ता थोड़ी ही देर में तय करने पर भी राही को थकान का आभास तक नहीं होता। आँखें मूंद लें और सही सलामत पार पहुँच गए, ऐसा लगता है। इसलिए वह 'क्षेमकृत्' हैं, सुरक्षा के कुशल संचालक हैं।

यही भगवान् की शिव साधना है। वह जो कुछ करते हैं, लोक कल्याण के लिए करते हैं, शिव तत्व की सिद्धि के लिए करते हैं। इसलिए भगवान् को यहाँ 'शिव' कहा गया है। भगवान् विष्णु के हज़ार नामों में शिव का नाम पहले भी आ

चुका है। शिव के अलावा, शर्व, ईश, ईशान, ईश्वर, रुद्र आदि शंकर वाचक नाम भी आ चुके हैं। शिवकुमार स्कंद का नाम भी लिया जा चुका है। इन नामों से यही संकेत मिलता है कि शिव और केशव में कोई तात्विक अंतर नहीं है। वास्तव में दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। पहले शिव का नाम जिस प्रसंग में आया था, उससे यह कुछ भिन्न है। पहले सर्व, शर्व, स्थाणु, शंभु आदि के साथ शिव का नाम लिया गया था। यहाँ पर धर्म सम्मत आचरण की शिवात्मकता के संदर्भ में शिव का नाम लिया गया है। जो भी काम शुभ या शिव की ओर अग्रसर होता है, वह धर्म सम्मत है। उसी में सब का श्रेय है। शिवात्मक संकल्प की श्रेयता को स्पष्ट करने के लिए 'शिव' के बाद 'श्री' से आरंभ होने वाले चौदह नाम लिए जाते हैं। वास्तव में शिव तत्व श्रीतत्व या शक्ति तत्व का ही दूसरा रूप है। आगे चलकर जितने श्रीवाचक नाम आते हैं उन में एक प्रकार से शिव तत्व की सश्रीकता का विवेचन मिलता है। हम चाहें तो इसको दिव्य नाम सहस्र का श्रीभाष्य मान सकते हैं।

इस श्रीभाष्य या श्री चतुर्दशी का पहला नाम है—'श्रीवत्स वक्षा'। भगवान् के वक्षस्थल पर श्रीवत्स नाम का चिह्न है। हो सकता है, यह छाती पर शोभा देने वाली केशराशि की एक विशिष्ट आकृति हो जिस में श्रीमुद्रा की छाया है। जो भी हो, यह लक्ष्मी का निवास-स्थान माना जाता है। वैसे प्रत्येक प्राणी का वक्षस्थल देवी या श्रीदेवी का निलय है जबकि दोनों नेत्रों के ऊपर का फाल-भाग शंकर का आवास है। हृदय में विष्णु ग्रंथि है तो फाल-भाग पर रुद्रग्रंथि है। विष्णु ग्रंथि, जहाँ पर श्रीदेवी निरंतर विराजमान रहती है, हमेशा

आच्छन्न रहती है जबकि रुद्रग्रंथि का स्थान, ललाट, निरंतर खुला रहता है। यही कारण है कि हम वक्षस्थल पर हमेशा कुछ न कुछ वस्त्र पहने रहना चाहते हैं और ललाट को तिलक से अलंकृत कर अधिक से अधिक खुला रखना चाहते हैं। स्त्रियों में यह प्रवृत्ति अधिक है। इस प्रकार शिव तत्व और शक्ति तत्व अथवा यों कहें कि प्रणव तत्व और श्रीतत्व, ओंकार और श्रीबिंदु हमारे शरीर के अभिन्न अंग हैं जो क्रमशः आज्ञा और अनाहत चक्रों को प्रवर्तित करते हैं। शिव की आज्ञा और देवी की इच्छा के बिना हमारा कोई भी काम आगे नहीं बढ़ता। इसी परम सत्य को यहाँ पर शिव के बाद आने वाले चौदह श्रीवाचक नाम प्रकट करते हैं। इसीलिए इनको सामूहिक रूप से श्रीभाष्य या श्री चतुर्दशी कहने की इच्छा होती है। वैसे इनका उच्चारण मात्र हमारे अंदर के श्रेय को प्रेय बनाकर सामने प्रत्यक्ष कर देता है। इनमें से पहला नाम—'श्रीवत्सवक्षा'—इस भाष्य की प्रस्तावना प्रस्तुत करता है। 'वत्स' उसी को कहते हैं जिसको आच्छादित किया जाता है, छिपाकर रखा जाता है, संभाला जाता है। भगवान् के वक्षस्थल पर लक्ष्मी देवी को सुरक्षित रखा जाता है। देवी के हमेशा रहने से उस स्थान पर एक चिह्न सा लग गया है और वही श्रीवत्स नाम का एक तिल का चिह्न है। छाती पर तिल और माथे पर तिलक श्रीकार और ओंकार के द्योतक हैं।

श्रीदेवी भगवान् के वक्षस्थल पर हमेशा रहती हैं। इस लिए वह 'श्रीवास' हैं। वह श्रीदेवी के स्वामी हैं, इसलिए वह श्रीपति हैं। यह नहीं कि देवी केवल भगवान् विष्णु की एकांत संपत्ति है। वह सब की हैं। सभी लोगों पर श्रीदेवी

की कृपा है क्योंकि सभी प्राणी भगवान् के ही बनाए हुए उन्हीं के प्रतिरूप हैं। इसलिए सभी लोग श्रीमान् हैं। अंतर केवल मात्रा का है। किसी में यह श्रीमत्ता कम है तो किसी में अधिक मात्रा में होती है। सबसे अधिक परमात्मा में विद्यमान है। इसलिए वह 'श्रीमतांवर—श्रीमानों में श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार श्रीमाला के चार नाम—श्रीवत्सवक्षा, श्रीवास, श्रीपति और श्रीमतांवर—इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में शिव शब्द के तुरंत बाद आए हैं। शेष दस नाम अगले श्लोक में प्रस्तुत हैं—

श्रीदः श्रीशः श्रीनिवासः श्रीनिधिः श्रीविभावनः।
श्रीधरः श्रीकरः श्रेयः श्रीमान् लोकत्रयाश्रयः ॥६५॥

श्रीमानों में श्रेष्ठ श्रीमाली अपनी सश्रीकता को केवल अपने तक सीमित नहीं रखते। वह सबको बांटने में उसकी सार्थकता समझते हैं। पर वह उसके स्वामी अवश्य हैं। किसको किस मात्रा में यह सश्रीकता मिल सकती है, इसका निर्णय वही करेंगे। श्रीपरंपरा को प्रदान करते हैं, इसलिए वह 'श्रीद' हैं। श्रीसंपत्ति पर उनका अधिकार निर्विवाद है, इसलिए वह श्रीश हैं। श्रीदेवी का स्थायी निवास भगवान् का वक्षस्थल है, इसलिए वह 'श्रीनिवास' हैं। जहाँ श्री है, वहाँ भगवान् का निवास होता है। इसलिए भी वह श्रीनिवास हैं। असल में परमात्मा और परा माता को अलग करना संभव नहीं है। वह एक दूसरे से इस प्रकार मिले हुए हैं कि वह एक दूसरे में निवास करते हैं। श्रीदेवी श्रीनाथ में है और श्रीनाथ श्रीदेवी में। इसी अभिन्नता को स्पष्ट करने के लिए श्रीवास और श्रीनिवास दोनों नाम दिए गए हैं। श्रीनिवास का नाम इसके पहले भी आ चुका है।

भगवान् का हृदय श्रीधन की अक्षय निधि है। जैसे एक

दीप से दूसरे दीप को जलाने पर पहले दीप का प्रकाश बिलकुल कम नहीं होता, वैसे ही श्रीमाली के श्रीतत्व को सारे संसार में बांटने पर भी श्रीमान् की शोभा नहीं घटती, बल्कि फैलती है। कारण यह है कि श्रीधन क्षण-क्षण पर क्षीण होने वाली नश्वर संपत्ति नहीं हैं, पल-पल पर बढ़ने वाली विलक्षण अक्षय निधि है जिसके स्वामी होने के कारण भगवान् को 'श्रीनिधि' कहा गया है।

आगे भगवान् को श्रीविभावन कहा गया है। वह श्री को विभावित करने वाले हैं, निष्पन्न करने वाले हैं, उत्पन्न या पैदा करने वाले हैं। जैसे किसी प्रिय वस्तु को देखने पर प्रेमी के अंदर की प्रेम भावना जाग पड़ती है, उभर आती है, वैसे ही भगवान् के दर्शन, स्मरण, कीर्तन आदि से भक्त के भावुक हृदय में सश्रीकता का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार परमात्मा परमेश्वरी के प्राकट्य के आलंबन और उद्दीपन दोनों प्रकार के विभाव प्रस्तुत करते हैं। परम की भावना से परमात्मा का प्रादुर्भाव होता है। रमा रमण, रामारमण या राधा रमण संसार की समस्त आराधना के आलंबन हैं और उन्हीं से आराधक को आवश्यक प्रेरणा या उद्दीपन की प्राप्ति होती है। 'श्रीविभावन' में इतनी गहराई है कि भावना जितनी गहरी हो, भाव उतने ही निखरे निकल आते हैं।

अगला नाम 'श्रीधर' है। श्री भावना का धारण करने के कारण भगवान् को श्रीधर कहा गया है। वह 'श्रीकर' भी हैं, श्रीत्व के उत्पादक हैं, निर्माता हैं। 'श्री' को पैदाकर धारण करने वाले श्रीमान् का एक मात्र ध्येय है—'श्रेय'। लोक कल्याण उनका लक्ष्य है। भगवान् का श्रेय सबका श्रेय है।

पर यह श्रेय कभी-कभी प्रेय से भिन्न हो सकता है। जो हमें अच्छा लगे, उसका हमेशा अच्छा होना जरूरी नहीं है। जो हमें पसंद है, हो सकता है उस में हमारा हित नहीं है। इस प्रकार जब श्रेय और प्रेय में संघर्ष पैदा हो जाए तो भगवान् हमें श्रेय ही प्रदान करते हैं, प्रेय को थोड़ी देर के लिए दबा कर रखते हैं--तब तक जब तक हमें श्रेय में ही प्रेय के दर्शन न हो जाएं। इसलिए 'श्रेय' भी भगवान् का नाम बन गया है।

श्रीवाचक इन सभी नामों का सार एक ही शब्द में कहना हो तो भगवान् को श्रीमान् कहना पर्याप्त है। श्रीमान् शब्द सहस्रनाम में चार बार आता है। यहाँ पर श्रीभाष्य के सार के रूप में आया है। असल में श्री शब्द 'श्रिङ्' धातु से निकला है जिसका मतलब है—आश्रय लेना, सेवा करना, सहारा पाना। श्रीमान् नारायण सबको आश्रय देते हैं, सब की सेवा करते हैं और सब की सेवा ग्रहण करते हैं। नर-नारायण की पारस्परिक भावना इतनी सौजन्यपूर्ण और उदार होती है कि उसमें सेव्य सेवक का अंतर ही नहीं होता। सेवा करना और सेवा लेना एक ही कर्म के दो रूप माने जाते हैं। इसलिए तीनों लोक श्रीमान् की शरण में जाते हैं, उन्हीं के भरोसे चलते हैं और उन्हीं की सेवा में समय बिताते हैं। इसी प्रकार तीनों लोकों के सहारे भगवान् अपनी लीला चलाते हैं। यही श्रीमाली की पावन लीला है जिसका सुन्दर गुणगान इस श्री भाष्य में मिलता है।

—०—

२७. अनीश पर लोकेश

सहज सुन्दर सश्रीकता से सुशोभित होने वाले श्रीनाथ के प्रत्येक अंग से पूजनीय पवित्रता और अपरिमेय आनंद की आभा प्रकट होती है। उनके सान्निध्य मात्र से संशयात्मा मनुष्य के सभी संदेह दूर हो जाते हैं। इसी सौंदर्य धाम की शोभा का वर्णन दिव्य नाम सहस्र का अगला श्लोक प्रस्तुत करता है :

स्वक्षः स्वंगः शतानंदो नंदिर्ज्योतिर्गणेश्वरः।
विजितात्मा विधेयात्मा सत्कीर्तिश्छिन्नसंशय ।।६६।।

भगवान् की आँखें सुन्दर हैं। उनकी दृष्टि निर्मल है। उनको देखते ही मन में पूज्य भावना का उदय होता है। परमात्मा का साक्षात्कार आत्मा को परिपूर्ण बनाता है। जिस को पाने पर और पाने योग्य कोई प्राप्ति प्रतीत नहीं होती, वही उनकी रूप-माधुरी की पराकाष्ठा है। यह पवित्रता और परिपूर्णता केवल उनकी आँखों में ही नहीं बल्कि उनके प्रत्येक अंग में है। इसलिए उनको स्वक्ष और स्वंग कहा गया है। अक्ष और अंग के विशेषण के रूप में प्रयुक्त कर्मप्रवचनीय 'सु' में सौंदर्य, प्रेम, आराधना और आनंद की चतुर्मुखी अभि-व्यंजना है।

परमात्मा के दर्शन से जो आनंद होता है, वह एक नहीं अनेक प्रकार का है। इसलिए वह 'शतानंद' हैं। वह किसी

एक ही व्यक्ति, समुदाय और समाज तक ही सीमित नहीं है। सबका उस पर अधिकार है और सब पर उनकी अनुकंपा है। सबको समान रूप से सन्तुष्ट करने वाले सर्वात्मा संतोष और आनंद के अक्षय भंडार हैं। नंदन उनका स्पंदन है। संसार के करोड़ों प्राणी उन्हीं के प्रिय नंदन हैं और वह भी उनको आनंद प्रदान करने के लिए कभी-कभी उनके लीलानंदन वन जाते हैं। चाहे जगत्पिता के रूप में हो या बाल गोपाल के रूप में अग जग को आनंद के स्पंदन से नंदन वन सा सुन्दर बनाना ही उनका एकमात्र ध्येय है। नन्द बाबा के आनन्द के आधार हैं, इसलिए भी वह नन्दी हैं।

यह आनन्द कहाँ से आता है? आलोक या प्रकाश ही आनन्द का स्रोत है। जहाँ प्रकाश है, वहाँ प्रसन्नता है। अंधकार निराशा का द्योतक है। भगवान् प्रकाश के प्रभु हैं। संसार का सारा प्रकाश उन्हीं से प्रकट होता है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि को प्रकाश प्रदान कर अपने ही प्रकाश को सैंकड़ों, करोड़ों रूपों में प्रकट करने वाले स्वामी ज्योतिर्मय जगत् के कर्ता-धर्ता हैं। इसलिए उनको 'ज्योतिर्गणेश्वर' कहा गया है।

यह सारा आलोक आत्मा का ही स्वत्व है। आलोक आत्मा की निधि है और आत्मा परमात्मा के अधीन है। इसलिए आत्मजयी परमात्मा जड़ चेतन मय जगत् में आत्मा का अनंत आलोक फैलाते हैं। प्रत्येक जीव की आत्मा में जो प्रकाश है, वह परमात्मा का ही प्रसाद है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय जीवात्मा अपने अस्तित्व के इन सभी स्तरों में परमात्मा से ही प्रेरणा प्राप्त करता है। उन्हीं की कृपा से वह अन्न खाता है, प्राण धारण करता है, प्राणों के बल पर जीता है और मन को साधन बनाकर सोचता है,

सोच समझकर ज्ञान विज्ञान की गहराई की थाह लेता है और गोते लगा लगाकर आनन्द का रसास्वादन करता है। यह सारी साधना परमात्मा की देन है, उन्हीं का विधायन है। जीवन विधि है तो जीव विधेय है और परमात्मा विधायक हैं। आत्मा को नियंत्रित करने वाला ही आत्मा का विधायन कर सकता है। इसी दृष्टि से यहाँ पर परमात्मा को विजितात्मा और अविधेयात्मा भी मान सकते हैं। परमात्मा का आत्म तत्व इतना अमोघ है कि उस पर और किसी सत्ता का विधायन नहीं चल सकता। इसलिए वह अविधेय हैं।

आत्मजयी परमात्मा का यश संसार में सर्वत्र फैला रहता है। विश्व का दर्शन ही विश्वात्मा का साक्षात्कार है। पर सज्जन, संयमी और साधुजन ही उनके विस्तृत यश को हृदयंगम कर सकते हैं। भक्त प्रह्लाद को संसार के कण-कण में भगवान् का रूप दिखाई दे रहा था जबकि उनके पिता हिरण्यकशिपु को पग-पग पर शंका हो रही थी। सज्जनों को यशस्वी प्रतीत होने वाले सर्वांतर्यामी स्वामी को यहाँ पर 'सत्कीर्ति' कहा गया है। भगवान् की कीर्तिगाथा में शुद्ध सात्विक सत्ता का ही प्रसार है, सारहीन लालसा के विकार से वह एकदम दूर है। एक बार इस प्रसार के प्रभाव में आने पर संशयात्मा जीव की सारी शंकाएँ दूर हो जाती हैं। जहाँ भगवान् का सान्निध्य है, वहाँ संशय के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती। इसलिए उनको 'छिन्नसंशय' कहा गया है।

भगवान् की सत्ता की सर्वव्यापकता और लोककल्याणकारिता का वर्णन अगले श्लोक में मिलता है :

उदीर्णः सर्वतश्चक्षुरनीशः शाश्वतस्थिरः।
भूशयो भूषणो भूतिर्विशोकः शोकनाशनः ॥६७॥

भगवान् का नाम लेने से उनका रूप सामने प्रकट होता है। बार-बार उच्चारण करने से नाम की महिमा बढ़ती है और उससे नामधारी का रूप उभर आता है। इस प्रकार अक्षय अक्षरों की आभा से आकाश की तरह फैलने वाले शब्द-ब्रह्म को यहाँ पर 'उदीर्ण' कहा गया है। वह अपने आप उभर आते हैं, ऊपर उठते हैं, बढ़ते जाते हैं और सर्वत्र अपनी आभा को फैलाए रहते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि सब ओर जाती है, सब पर छाती है और सबको समेट लेती है। वह सबके द्रष्टा हैं, पर उनके द्रष्टा बहुत कम। वह सबके स्वामी हैं, पर उनका स्वामी कोई नहीं है। इसलिए 'सर्वतश्चक्षु' कहलाने योग्य सर्वांतर्यामी प्रभु 'अनीश' भी हैं। किसी भक्त ने उपालंभ के स्वर में भगवान् को कहा भी था कि स्वामी, तुम तो अनाथ हो क्योंकि तुम ही सबके नाथ हो और तुम्हारा कोई नाथ नहीं है। यह विडंबना की बात है कि संसार का साधारण से साधारण जीव भी सनाथ है जबकि संसार का नाथ—जगन्नाथ—स्वयं अनाथ है। इस अनाथ या अनीश की सत्ता स्थायी और सुदृढ़ है। वह हमेशा के लिए रहेगी और बहुत मज़बूत रहेगी। इसलिए उनको शाश्वत और स्थिर कहा गया है।

आकाश को अपना शरीर बनाकर भी यह अखिलेश पृथ्वी से अपना संपर्क बराबर बनाए रखते हैं। वह भूशय हैं। भूमंडल उनका शयनागार है। क्षीरसागर में सोने वाले स्वामी को भूशय्या भी समान रूप से प्यारी है। वह तो भूदेवी के अलंकार हैं। श्रीदेवी के साथ क्षीरसागर में और भूदेवी के साथ भूतल में वह एक को समरस आनन्द का अनुभव करते हैं और कराते हैं। उनकी भूति जल में, स्थल में, सर्वत्र फैली हुई है। 'भू' का लक्षण ही भूति है। भूलोक से लेकर सत्य

लोक तक भगवान् की विभूति व्याप्त है। जहाँ विभूतिमय सत्ता है, वहाँ भगवान् विराजमान हैं—कहीं आंशिक रूप में और कहीं परिपूर्ण सत्ता के रूप में। भगवान् के सान्निध्य से अंश भी पूर्ण बन जाता है।

जहाँ लोकनाथ हैं, वहाँ शोक लेशमात्र भी नहीं रह सकता। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'। जो सर्वत्र भगवान् को व्याप्त समझता है, उसके लिए किसी भी चीज का न शोक हो सकता है, न मोह। इसलिए भगवान् को विशोक और शोकनाशन कहा गया है। इसका कारण भगवान् की उदीर्णता है। वह इतनी ऊँचाई पर है, उदार, उदात्त और उदासीन हैं कि उस भूमिका तक शोक की छाया पहुँच नहीं सकती। वह एक ऐसी विशोका भूमिका है जहाँ आनन्द ही आनन्द है।

यही कारण है कि भगवान् की सब लोग आराधना करते हैं। पवित्र वाणी से, कोमल सुमनों से अर्चना करते हैं। इसी अर्चना का वर्णन अगले श्लोक में किया गया है :—

अर्चिष्मान् अर्चितः कुंभो विशुद्धात्मा विशोधनः।
अनिरुद्धोऽ प्रतिरथः प्रद्युम्नोऽ मितविक्रमः ॥६८॥

भगवान् पूर्ण कुंभ के समान हैं जो परिपूर्णता और शीतलता का प्रतीक है। जैसे शीतल जल से भरे हुए मंगल कलश की पूजा-अर्चना होती है, वैसे ही सभी दृष्टियों से भरपूर और सबके प्रति दयामय भगवान् सबके आराध्य बनते हैं। उनका अंतःकरण शीतल ही नहीं, बलिक निर्मल भी है। उनकी आत्मा की शुद्धि इतनी प्रभावशाली है कि उसके संपर्क में आने वाला प्रत्येक प्राणी उस निर्मलता से प्रभावित होता

है। वह स्वयं शुद्ध हैं और दूसरों को भी शुद्ध बनाते हैं। इसीलिए उनको विशुद्धात्मा और विशोधन दोनों कहा गया है। घृणित से घृणित पापी भी उनके संपर्क में आकर पवित्रात्मा बन जाता है। जीवन के अंतिम क्षणों में ही सही भगवान् का नाम लेने से सारे पाप धुल जाते हैं। लेकिन यह शुद्ध अंतःकरण से होना चाहिए। पश्चात्ताप से गले हुए पापी का हृदय भीतर की पुनीत भावना से सुनहली शोभा प्राप्त कर लेता है। इसलिए निराश होने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् का सहारा सबको पार कर देता है। निर्मल मन में पूर्णकुंभ के समान भगवान का निवास होता है। जिनके हृदय में इंदीवर के समान सुन्दर भगवान विराजमान हैं, उनकी साधना अबाध गति से चलती है। उनके मार्ग को कोई नहीं रोक सकता। उसमें न निरोध के लिए स्थान है, न प्रतिरोध के लिए। बिना किसी गतिरोध के, अपने मार्ग पर चलते हुए दूसरों को भी साथ ले चलने वाले प्रभु का रथ सबके लिए अनुसरणीय है। वह अप्रतिरथ हैं और अनिरुद्ध हैं।

निरन्तर चलते चलाते रहने पर भी उनकी मुखमुद्रा में थकावट या ढिलाई का कोई लक्षण नहीं दिखाई देता। उनकी द्युति पल-पल में बढ़ती रहती है। इसलिए वह 'प्रद्युम्न' हैं। उनकी शोभा से सभी लोग शोभान्वित हैं। उनके पराक्रम से सभी लोग प्रेरणा पाते हैं क्योंकि उसकी कोई सीमा नहीं है। वह अमित विक्रम हैं। उनके विक्रम का स्रोत आंतरिक है, बाहरी नहीं हैं। उनकी सारी शक्ति भीतर से प्रकट होती है। उनकी उदीर्णता के उद्गम वह स्वयं हैं।

काल की सीमा भी कालजयी को बाँध नहीं सकती। इसी

अकालीनता का सुन्दर समाकलन अगले श्लोक में प्रस्तुत होता है।

कालनेमिनिहा वीरः शौरिः शूरजनेश्वरः ।
त्रिलोकात्मा त्रिलोकेशः केशवः केशिहा हरिः ।।६६।।

काल चक्र के समान हैं जो हमेशा घूमता रहता है। इसकी गति कभी रुकती नहीं और इस अनन्त गतिशीलता में सारा संसार समा जाता है। पर काल की अबाध गति को अपने हाथ के इशारे पर घुमाने की क्षमता कालजयी परमात्मा में है। काल सबको निगल जाता है, पर काल को भी निगलने वाले महाकाल वीर-शूरों के सम्राट् हैं। कालनेमि नामक राक्षस का संहार करने में भी महाकाल को इस कालजयिष्णुता का परिचय मिलता है। साधारण वीर चाहे कितने ही युद्धों में विजय प्राप्त करें, जीवन-मरण के संघर्ष में मौत के शिकार हो जाते हैं। यमराज के आगे सबका सिर झुक जाता है पर परमात्मा की वीरता और शूरता काल और कालिय नाग (काल सर्प) को भी दबाने वाली होती है। इसलिए वह न केवल वीर या शौरि हैं, बल्कि शूरजनेश्वर हैं। जब सारे संसार की शूरता शून्य बन जाती है तो भगवान् शौरि की शूरता अक्षुण रहती है।

भगवान् की शूरता और वीरता केवल एक लोक तक सीमित नहीं है। तीनों लोकों पर उनका शासन चलता है। ये तीन लोक स्वर्ग, मर्त्य और पाताल नाम के बाह्य लोक भी हो सकते हैं, मन, वाणी और कर्म नाम के त्रिकरण भी हो सकते हैं, इच्छा, ज्ञान और क्रिया नाम की तीन शक्तियाँ भी हो सकती हैं और शक्तिकूट, मध्यकूट और वाग्भवकूट नाम के शारीरिक संस्थान भी हो सकते हैं। सृष्टि, स्थिति और संहार

नाम की तीन लीलाओं के भी ये प्रतीक बन सकते हैं। 'लोक' शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ का बोध कराता है। जो कुछ प्रकाश में आता है, देखने को मिलता है या देखने में सहायक होता है, वह लोक कहा जाता है। इसलिए त्रिलोकात्मा और त्रिलोकेश—ये दोनों नाम भगवान् की सर्वांतर्यामिता, सर्वशक्तिमत्ता और सार्वकालिकता को प्रकट करते हैं।

अगला नाम 'केशव' इससे भी अधिक सारगर्भित है। नाम छोटा है, पर भाव गहरा है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि जितने प्रकाश के पुंज हैं, उनसे निकलने वाली ज्योतिर्मय रेखाओं या किरणों को 'केश' कहा गया है। समस्त लोकों को आलोकित करने वाली इन किरणों से अलंकृत परंज्योति को यहाँ 'केशव' की संज्ञा दी गई है। केशव का नाम इससे पहले भी आ चुका है। श्रीमान् और पुरुषोत्तम के बीच में केशव का स्मरण किया गया है—सहस्र नाम के प्रारम्भ में। यहाँ पर लोकालोक के प्रसंग में उसी केशव को दुहराया गया है। किरण के अर्थ में केश सात्विकता का प्रतीक है और बालों के सामान्य अर्थ में तामस जटिलता और लुभावनी उलझन का द्योतक है। सात्विक प्रकाश को फैलाने वाले केशव तामस गुण से ओतप्रोत 'केशि' नामक राक्षस का संहार करते हैं और इसी पर उनका नाम 'केशिहा' बन जाता है। यहाँ पर केशव और केशिहा दोनों नाम साथ-साथ इसीलिए दिए गए हैं। सहज तेज के प्रसारक केशव हैं तो जटिल तिमिर के संहारक केशिहा हैं। दोनों को फिर समान रूप से 'हरि' की संज्ञा दी गई है जोकि इस श्लोक का अंतिम नाम है। हरि का नाम इसके पहले 'हविर्हरि' के प्रसंग में आ चुका है। पर यहाँ स्वतन्त्र रूप से आया है। शिव-केशव, राम-कृष्ण, नर-नारायण आदि अनेक

देवता-युगल 'हरि' शब्द के दो अक्षरों में समा जाते हैं। कलिकलुष को सरलता से मिटाने वाले ये दोनों अक्षर राम और कृष्ण के साथ संपुटीकृत होकर अमोध मन्त्र का रूप धारण करते हैं। नाम संकीर्तन का यह श्लोक प्रत्येक साधक का कंठहार बन चुका है—

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।।'

सोलह नामों का यह मंत्र हरि की महिमा का उद्घोषक बनकर अग जग का उद्धार करता आ रहा है। केशव और हरि भगवान् के चौबीस नामों में प्रथम और लगभग अंतिम हैं। इन दोनों का एक स्थान पर उल्लेख करने से भगवान् के नाम-वैभव का सर्वस्व यहाँ पर व्यंजित हुआ है। हरि नाम संकीर्तन की अपार महिमा से भली भाँति परिचित सूरदास अपने सूरसागर के प्रत्येक स्कंध के आरम्भ में मंगलाचरण के रूप में हरि का ही स्मरण करते हैं—

'हरि हरि हरि हरि सुमिरन करो, हरि चरनारविंद उर धरो।'

भगवान् का नाम लेने से कर्दम काम वासना भी कमनीय उपासना का रूप धारण करती है। ईश्वर के शासन में कामदेव भी कामेश्वर का एकांत आराधक बनकर आगम का आलाप करता है। भगवान की इसी कमनीयता का प्रतिपादन अगले श्लोक में किया जाता है—

कामदेवः कामपालः कामी कांतः कृतागमः।
अनिर्देश्यवपुर्विष्णुर्वीरोऽनंतो धनंजयः ।।७०।।

नर नारी के मानस में मंथन पैदा कर दोनों को एक दूसरे

पर अनुरक्त बनाने वाले प्रेम देवता मन्मथ को काम या कामदेव कहा जाता है। पर काम देवता के मानस में भी मंथन पैदा करने की शक्ति भगवान् में है। वास्तव में मानस मंथन की यह माया कामदेव ने भगवान् की कृपा से ही सीखी है। यह सारा संसार प्रेम, अनुराग, आसक्ति या आकर्षण के आधार पर ही चल रहा है। इस प्रेम-कला के प्रबोधक, प्रवर्तक और प्रचारक प्रेमपरायण परमात्मा ही हैं। पर परमात्मा से प्रेरित प्रेम भावना, पवित्र होती है और लोक मंगल को ध्येय बनाकर चलती है। धर्मसम्मत काम भगवान् की आराधना का ही दूसरा रूप है। प्रेम करना पाप नहीं है, पर प्रेम को स्वार्थ का साधन बनाना पवित्र तीर्थ को पंकिल बनाना है। स्वस्थ दृष्टि से, निःस्वार्थ भाव से और निर्लिप्त मन से जो प्रेम किया जाता है, वह कामेश्वर की एकान्त आराधना है, कामदेव की कमनीय उपासना है और निर्मल कामी की कल्याण कामना है। इसीलिए इस श्लोक में भगवान् को क्रमशः कामदेव, कामपाल, कामी और कान्त कहा गया है। कामवासना को उजागर करने वाले वही भगवान् हैं जो उसको सही दिशा में प्रवर्तित करते हुए उसका लालन पालन करते हैं। काम के स्वामी वही कामी हैं जो काम का भी मन मोहने वाली कान्ति से सुशोभित हैं। भगवान् का यह नाम-सूत्र उनके अलौकिक काम सूत्र का सुन्दर भाष्य प्रस्तुत करता है।

इसके पहले भी 'कामहा', 'कामकृत्', कान्त', 'काम' और 'कामप्रद' नाम प्रभु के लिए आ चुके हैं। उनमें से 'कांत' यहाँ पर दुबारा आया है। पहले की नामावली में काम का निषेध भी है और विधायन भी। यहाँ पर काम को देवता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। भगवान् को कामी तभी कहा जा

सकता है जब उनके द्वारा प्रवर्तित काम में कल्याण की कमनीय भावना हो। वास्तव में विधि-निषेध, पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, सत्-असत् के निर्णायक आगमशास्त्र उन्हीं के उद्‌गार हैं। श्रुति, स्मृति और पुराण आदि के आलय वही करुणालय भगवान् हैं। उन्हीं के निश्वसन मात्र से सारे वेद (निगम, आगम) प्रवर्तित होते हैं। इसलिए उनको 'कृतागम' कहा गया है। सारी वाणी उन्हीं का वरदान है। संसार में जो कुछ उतर आया है, प्रकट हुआ है, वह उन्हीं की रचना है। परम भागवत प्रह्लाद के वचन के अनुसार यह सारा संसार आत्मा का ही विस्तार है— 'आत्मावास्यमिदं सर्वम्।'

इसीलिए भगवान् का रूप-निर्देश करना कठिन है। वह प्रत्येक रूप में हैं, सर्वत्र विद्यमान हैं और सर्वदा विराजमान हैं। 'अनिर्देश्य' कहकर ही उनके अस्तित्व का सही निर्देश किया जा सकता है। इससे भी संक्षेप में कहना हो तो केवल 'विष्णु' कहने से उनका स्पष्ट निर्देश हो जाता है। विष्णु सहस्र नाम का यह विशिष्ट नाम—विष्णु—यहाँ पर तीसरी बार आया है। पहले ही श्लोक में विश्वात्मा के रूप में विष्णु का स्मरण किया गया है। फिर वृषाही, वृषभ, वृषपर्वा और वृषोदर के सन्दर्भ में अपार करुणा बरसाने वाले धर्म देवता के रूप में भगवान् विष्णु का नाम लिया गया है। अब यहाँ पर अनिर्वचनीय, अनिर्देश्य और अपरिमेय सत्ता के रूप में उन्हीं का गुणगान किया जा रहा है।

इसी प्रसंग में भगवान् को 'वीर' की संज्ञा भी दी जा रही है। 'वी' धातु से व्याप्ति, प्रकाश, आसन, उपभोग आदि अनेक भावों की व्यंजना होती है। जो सब जगह व्याप्त हैं, सबको प्रकाश देते हैं, सबको बसाते हैं और अन्त में सबको

अपने अन्दर समा लेते हैं, उन्हीं को यहाँ पर 'वीर' कहा गया है। उनकी विभूति अनन्त है, इसलिए वह अनंत कहे गए। इस श्लोक का अंतिम नाम 'धनंजय' है। धन अत्यन्त व्यापक शब्द है। पानी, आग, हवा, धूप, चांदनी, मिट्टी, आसमान, पेड़-पौधे, पशु पक्षी यह सारी सम्पत्ति 'धन' के अंतर्गत आती है। मानव अपनी अल्पज्ञता के कारण इसे अपना धन समझता है। अपने-पराये का भेद भाव बढ़ाकर स्वामित्व, संघर्ष, ईर्ष्या, द्वेष, महत्वाकांक्षा आदि विकारों का शिकार बन जाता है। पर इस सारी सम्पत्ति के सही स्वामी भगवान् धनंजय हैं। पांडवों में श्रेष्ठ अर्जुन को भी धनंजय कहा जाता है। भगवान् ने अपनी अनन्त विभूति का स्थूल निर्देशन करते हुए अर्जुन से कहा था कि पांडवों में मैं धनंजय हूँ। अर्जुन को कृष्ण के साथ तादात्म्य प्रदान करने वाला विशिष्ट गुण यही धनंजयिष्णुता है। भगवान् की इस उक्ति का परमार्थ समझना परमात्मा को समझने के समान है। दैवी वाक् दैवी शक्ति का प्रतीक है।

२८. ब्रह्म सूत्र की ब्रह्मण्यता

श्रीकांत की कमनीय कामपालिका से प्रवर्तित, परिवर्द्धित और परिचालित कामसूत्र से ही नामरूपात्मक संसार का प्रसार होता है। पर यह काम धर्म सम्मत है और धर्म सम्मत काम काम-वासना को ब्रह्म जिज्ञासा में परिवर्तित कर देता है। वास्तव में कामदेव और ब्रह्मदेव की प्रवृत्तियाँ एक ही प्रयोजन को लेकर आगे बढ़ती हैं—सृष्टि का प्रसार। पर काम कभी-कभी अन्धा होता है जबकि ब्रह्म तत्व निरन्तर जागरूक होता है और प्रकाश का प्रसार ही उसका एकमात्र ध्येय होता है। काम के 'रस' को ब्रह्म की 'ज्योति' से मिलाने वाला मंगलमय ब्रह्म सूत्र श्री विष्णु सहस्र नाम के अगले श्लोक में मिलता है।

ब्रह्मण्यो ब्रह्मकृद् ब्रह्मा ब्रह्म ब्रह्मविवर्धनः।
ब्रह्मविद् ब्राह्मणो ब्रह्मी ब्रह्मज्ञो ब्राह्मणप्रियः ॥७१॥

निरन्तर बढ़ने वाले सनातन तत्व को 'ब्रह्म' कहा जाता है। जीव जगत् का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि यहाँ का प्रत्येक जीव अपने में सीमित प्रकाश का प्रतीक होते हुए भी संसार में सर्वत्र फैली हुई अखंड ज्योति का अंश है। इसीलिए संसार नश्वर भी है और अविनश्वर भी। जीवी मर्त्य भी है और अमर भी। जीवधारी का यही अविनश्वर पक्ष उसे सनातन ब्रह्म तत्व से मिलाता है। नश्वर शरीर से

जब जीव का सम्बन्ध समाप्त होता है, तब वह अपने अविनश्वर ब्रह्म तत्व में समा जाता है। इसी को 'ब्रह्म निर्वाण' कहा गया है। पर मरने वाला प्रत्येक प्राणी इस ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त नहीं कर पाता। जिसको अपने अन्दर के ब्रह्म का बोध हो चुका है और जिसने अपने को उस परब्रह्म से अभिन्न अनुभव किया है, वही इस नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाले सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ब्रह्म पदार्थ में एकाकार हो जाता है। शरीर में अनेक नाडियाँ (नसें) हैं जिनमें एक नाड़ी इस ब्रह्म की ओर मुँह किए हुए होती है। वही ब्रह्म नाडी है जिसे ब्रह्म को जानने वाले जानते हैं। इस नाडी को पहचानना ही ब्रह्म को पहचानना है। इसी नाडी से शरीर में जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति नाम की तीन अवस्थाएँ ही नहीं, इनसे परे की समाधि या तुरीय (चौथी) अवस्था भी काम करती है। यही पार्थिव जगत् का परम सत्य है। शेष सब मिथ्या है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः।'—इस निष्कर्ष के पीछे की विचार धारा यही है। जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। पर इसका ज्ञान केवल अनुभूति से होता है—गहरी अनुभूति से जिसको तपस्या कहा जाता है। तत्व के जिज्ञासुओं को तप तप कर इस बात का पता करना होगा कि इस संसार का उद्‌गम कहाँ से हो रहा है, किसके सहारे यह जीवघानी चल रही है और किस कराल काल में समस्त लीला का उपसंहार हो रहा है। यह जो मूल स्रोत है, वही ब्रह्म है और उसी का अनुसंधान ब्रह्म जिज्ञासा का एक मात्र साधन है। उपनिषद् इसी गवेषणा की ओर जिज्ञासु को प्रेरित करते हुए कहती है: 'यतो वा इमानि भूतानि जायंते, येन जातानि जीवंति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशंति, तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।' ब्रह्म वही है जो सारी लीला का आरम्भ, विकास और

उपसंहार करता है। प्रणव नाद में ब्रह्म का निवास होता है। ओंकार का उच्चारण करने मात्र से जीव का ब्रह्म तत्व जाग पड़ता है। इसीलिए जितने वैदिक मंत्र हैं या स्तोत्र हैं, सबका आरम्भ प्रणव या ओंकार से होता है। प्रणय के देवता कामदेव हैं तो प्रणव के देवता ब्रह्म हैं। प्रणय और प्रणव की इसी संपृक्तता को देखते हुए सहस्रनाम का प्रस्तुत श्लोक कामवल्ली के बाद ब्रह्मवल्ली को प्रस्तुत करता है।

प्राय: देखा जाता है कि कामुक व्यक्ति वाचाल होता है, बेतुकी बातें करने लगता है जबकि ब्रह्मचारी या ब्रह्म का जिज्ञासु मौन या मितभाषी होता है, नपी तुली भाषा में सार की बात कहता है। असंयत वाणी काम वासना का लक्षण है, जबकि रसनिर्भर मितभाषिता योग साधना का द्योतक है। व्यक्ति की गहराई उसकी वाणी से स्पष्ट होती है। इसीलिए स्पष्ट, सशक्त और चिर स्मरणीय वाणी को 'ब्रह्म' का ही रूप माना गया है। तपस्संपन्न व्यक्तियों की वाणी में ब्रह्मा प्रतिष्ठित होते हैं। ओंकार अपने में ब्रह्म का प्रतिरूप बनता है और ओंकार से पल्लवित अनेक वैदिक मन्त्र उसी परब्रह्म के विभिन्न रूप हैं। श्रीमद्भागवत में प्रह्लाद अपने मित्रों को उपदेश देते हैं कि सुबह-शाम संध्या के समय वाणी को काबू में रखकर 'ब्रह्म' का जाप करना चाहिए। (उभे संध्ये च यतवाग् जपन् ब्रह्म समाहित:)। यहाँ पर 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग गायत्री जैसे पवित्र मन्त्रों के अर्थ में हुआ है। अतः मन्त्र वाक् ही ब्रह्मा हैं। इसी ब्रह्म पदार्थ से भगवान् विष्णु का अटूट सम्बन्ध है जो कि इस श्लोक के दस नामों में स्पष्ट किया गया है।

सबसे पहला नाम है—'ब्रह्मण्य'। प्रतिदिन हम भगवान्

को नमस्कार करते हुए कहते हैं—'नमो ब्रह्मण्यदेवाय...।' ब्रह्म या पावन वाणी के प्रेमी भगवान् 'ब्रह्मण्य' हैं। शंकर के कुमार भगवान् स्कंद को 'सुब्रह्मण्य' कहा जाता है। कुमार स्वामी प्रणव के प्रामाणिक ज्ञाता माने जाते हैं। इसलिए वह ब्रह्मण्यों में, अर्थात् मन्त्रों के मर्मज्ञों में, श्रेष्ठ हैं। तभी तो वह सुब्रह्मण्य हो गये। बढने या ऊपर उठने को भी ब्रह्मत्व कहा जाता है। बृंहति (बढ़ता है)—इति ब्रह्म—जो निरन्तर बढ़ता है, वही ब्रह्म है। इस बढ़ोत्तरी को जो बढ़ावा देता है, उसी ब्रह्मदेव को यहाँ पर 'ब्रह्मण्य' कहा गया है।

भगवान् ब्रह्म प्रेमी ही नहीं, बल्कि ब्रह्मकर्ता भी हैं। वह ब्रह्म को बनाते हैं। ब्रह्मा सारे संसार को बनाते हैं और उनको बनाने वाले भगवान् 'ब्रह्मकृत्,' हैं। मरीचि, अत्रि, अंगिरस्, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ नाम के सात प्रजापतियों के अधिपति भगवान् विष्णु हैं। पुराणों में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं जिन में ब्रह्मा को सुप्रसन्न वर दाता के रूप में प्रस्तुत किया गया हैं। रावण, हिरण्यकशिपु आदि राक्षसों ने तपस्या से ब्रह्मा को प्रसन्न बनाकर दुर्लभ वर प्राप्त कर लिए थे और उनसे होने वाले अरिष्ट का निवारण करने के लिए भगवान् विष्णु को अनेक उपाय करने पड़े थे। इस प्रकार की कहानियों से यही स्पष्ट होता है कि ब्रह्म या वाणी के स्वामी का काम केवल वाणी का यथोचित फल देना है। उससे क्या परिणाम होगा और उससे होने वाले खतरे से संसार को कैसे बचाया जाए, यह भगवान् विष्णु का काम है। मन्त्र की साधना अभीष्ट फल अवश्य देती है, पर हम उसका कैसे उपयोग करें, यह हमारी बुद्धिमत्ता पर निर्भर है। अगर हमारी बुद्धि गलत रास्ते पर जाने लगती है तो भगवान् विष्णु उसे सही रास्ते पर

लाने का यथेष्ट उपाय ढूँढ़ लेते हैं। यही ब्रह्मा और विष्णु के बीच का आध्यात्मिक सम्बन्ध है।

भगवान् विष्णु के नाभि-कमल से ही ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है और ब्रह्मा से सारे ब्रह्मांड की उत्पत्ति होती है। मार्कण्डेय पुराण में एक कहानी है जिसमें लक्ष्मी और सरस्वती के बीच के कलह का मनोहर वर्णन है। झगड़ा इस बात पर चलता है कि लक्ष्मी और सरस्वती में कौन श्रेष्ठ है। अन्तिम निर्णय के लिए दोनों ब्रह्मा के पास चलती हैं। विधि-विधान के निष्पक्ष वक्ता ब्रह्मा लक्ष्मी को ही श्रेष्ठ बताते हैं। इस पर सरस्वती नाराज़ होकर अपने पति के हाथ से सृष्टि दंड छीन लेती हैं। संसार का सृष्टि-कार्य एक दम रुक जाता है। तब भगवान् विष्णु ब्रह्मा की लाचारी को देखकर उन पर प्रसन्न होकर दूसरा सृष्टि दंड देते हैं। कहानी का आशय यह है कि वाणी के सहयोग से ही वाक्पति का सृष्टि-कार्य चलता है और यह सारा तन्त्र भगवान् विष्णु के हाथ में है। सृष्टि-कर्ता ब्रह्मा और सृष्टि कार्य ब्रह्मा-दोनों के संचालक भगवान् विष्णु को यहाँ पर ब्रह्मा और ब्रह्म कहा गया है। वास्तव में वेदवाक् ही ब्रह्म है। वेदों की वाणी परमात्मा के निश्वास के समान है जो सारे ब्रह्मांड में फैली हुई है। इसको फैलाना ही परब्रह्म का काम है। इसलिए उनको 'ब्रह्म विवर्द्धन' (ब्रह्म भाव को बढ़ाने वाला) कहा गया है।

परमात्मा को पाने के लिए ब्रह्मज्ञता एक साधन है। मंत्राक्षरों के प्रकाश के सहारे ही परंज्योति का साक्षात्कार सम्भव होता है। जीवात्मा और परमात्मा के बीच का संधान देवता ब्रह्मा हैं। जैसे ही जीवात्मा को अपने भीतर के ब्रह्म तत्व का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, उसी क्षण वह मुक्तात्मा

बनकर परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है। इसलिए परमात्मा ब्रह्मा को पहचानते हैं और ब्रह्म के द्वारा पहचाने जाते हैं। 'ब्रह्मविद्'—नाम इस आशय को प्रकट करता है।

परमात्मा को 'ब्राह्मण' कहा गया है। ब्राह्मण वही है, जो ब्रह्म-परायण है, ब्रह्म को समझता है और समझाने का प्रयास करता है। जिसकी जिह्वा पर वेदमाता प्रतिष्ठित होती है, समाहित वाणी समासीन रहती है और बात-बात में रस और प्रकाश की झलक मिलती है, वही सच्चे अर्थों में ब्राह्मण है। ब्राह्मण कुल में पैदा होना ही ब्राह्मणत्व का द्योतक नहीं है। ब्रह्म पदार्थ इतना सस्ता नहीं है कि वह सहज ही मिल जाए। उसके लिए साधना और तपस्या चाहिए। निरन्तर साधना और नैष्ठिक तपस्या के द्वारा जो समस्त वायुमंडल (आकाश) में निरन्तर व्याप्त अक्षर परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, वही ब्राह्मण है और ब्रह्मा से वह भिन्न नहीं है। जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म के ही समान बनता है। भगवान् भी ऐसे ब्राह्मणों में एकाकार बन जाते हैं। ब्रह्म तत्व के ज्ञाता होने के कारण वह ब्राह्मण हैं। ब्रह्म उन्हीं से उत्पन्न हैं, इसलिए वह ब्रह्मी हैं। ब्रह्मज्ञ ही ब्राह्मण हैं (ब्रह्म को जानने वाले ही ब्राह्मण हैं। इसलिए ब्राह्मण उनको अच्छे लगते हैं। जन्म मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं बनता। साधना, संस्कार और सत्कर्म से ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया जाता है। इस प्रकार बने ब्राह्मण भगवान् को अच्छे लगते हैं।

'मह इति ब्रह्म'—इस श्रुति वाक्य से जो कुछ महान् है, लोकोत्तर है, अपार्थिव है और आनन्दमय है, वही ब्रह्म है। आनन्द ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही आनन्द है क्योंकि दोनों महान्

हैं। ब्रह्मानन्द की इस महत्ता का सांगोपांग वर्णन सहस्र नाम के अगले श्लोक में मिलता है :

महाक्रमो महाकर्मा महातेजो महोरगः ।।
महाक्रतुर्महायज्वा महायज्ञो महाहविः ।।७२।।

भगवान् का क्रम महान् है, इसलिए वह 'महाक्रम' हैं। चलने का ढंग या आगे बढ़ने का विधान 'क्रम' कहलाता है। वामन के अवतार में भगवान् ने तीनों लोकों में अपना विराट् रूप फैलाकर अपना 'त्रिविक्रम' रूप प्रदर्शित किया था। भगवान् का प्रवेश संसार के क्या, ब्रह्मांड के कोने-कोने तक होता है। इसी सार्वत्रिक गतिविधि के कारण उनको 'महाक्रम' कहा गया है।

भगवान् का क्रम ही नहीं, बल्कि कर्म भी महान् है। इसलिए वह 'महाकर्मा' हैं। जिधर वह डग भरते हैं, उधर ही जग चलते हैं, लोगों के पग बढ़ते हैं और सबकी दृष्टि उनके अलौकिक कार्य-कलापों पर पड़ती है। जहाँ भी कुछ लोकोत्तर लीला दिखाई देती है, उसे भगवान् का ही महान् क्रम और महत्तर कर्म मानना चाहिए। वेदों ने भगवान् विष्णु को 'उरुक्रम' कहा है—'शं नो विष्णुरुरुक्रमः।' उर्वी को उर्वर बनाते हुए आगे बढ़ने वाले इसी उरुक्रम को यहाँ पर महाक्रम और महाकर्मा कहा गया है।

जैसे क्रम और कर्म हैं, वैसे उनका तेज भी महान् है। विश्वव्यापी पद-क्रम और विराट् कार्यभार को सफलतापूर्वक संपन्न बनाने के लिए महती तेजस्विता की भी आवश्यकता है। वास्तव में तेज या प्रकाश के रूप में ही भगवान् का संचार और व्यवहार चलता है। प्रकाश ही परमात्मा का प्रकट रूप है।

परमात्मा प्रकाश का मूल स्रोत है। उन्हीं से सारे संसार को प्रकाश मिलता है। सूर्य, चन्द्र अग्नि में जो तेज है, वह उन्हीं का है। भगवान् का वचन स्वयं इसका प्रमाण है—

'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलं।
यच्चंद्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥'

प्रत्यक्ष देवता भगवान् भास्कर को तेजस्वियों में सबसे श्रेष्ठ (तेजसामपि तेजस्वी) माना जाता है। पर इस परम तेजस्वी भास्कर को भी तेज प्रदान करने वाले महातेजा विष्णु बारह आदित्यों में प्रधान हैं। 'आदित्यानामहं विष्णुः'— भगवान् का यह वचन परमात्मा की परम तेजस्विता का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

अगला नाम 'महोरग' कुछ चौंकाने वाला है। भगवान् को महान् परक्रमी, महान् कार्यकर्ता और महान् तेजस्वी कहने में कोई नई बात नहीं है। पर उनको महान् सर्प या महोरग कहना कुछ अजीब-सा लगता है। पर है यह सारगर्भित भावना। उर या छाती के बल पर रेंगते हुए जाने वाले जीव को उरग या सांप कहा जाता है। भगवान् भी हृदय के अन्तस्तल के स्वामी हैं। सबके हृदय में वह रहते हैं और हृदय हृदय को सदय बनाकर सबको सहृदय बनाते हैं। प्रत्येक प्राणी के हृदय में आत्मा की ज्योति बादल में बिजली की तरह प्रकाश फैलाती रहती है, जिसकी झलक कभी-कभी किसी-किसी को जन्म-जन्म की साधना के फलस्वरूप प्राप्त होती है। उसी दीप-शिखा के मध्य में परमात्मा का प्रतिष्ठान है। 'तस्याशिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः।' वही ब्रह्मा हैं, वही शिव हैं, वही हरि हैं, वही इन्द्र हैं और वही अपने आप में

परिपूर्ण प्रभुता से विभूषित स्वराट् हैं। भगवान् की इस सारी ज्योतिर्मय गाथा का सार महातेजा नाम चार अक्षरों में समाकर प्रस्तुत कर देता है जिसको महोरग नाम पल्लवित करता है।

हृदय के बल पर चलने वाले महोरग महाकाल के भी प्रतीक हैं। सांप देखने में सुन्दर होता है, मीठी आवाज़ सुनकर वह फन फैलाए नाचता है, सबसे नज़र बचाकर ज़मीन के अन्दर बिल में छिपा रहता है, पर अपने भीतर के विष से सबको भयभीत कर देता है। यही सांप भगवान् शिव के गले में आभूषण बन जाता है और भगवान् विष्णु के लिए सुखद शय्या का आयोजन करता है। परमात्मा की हृदयज्ञता भी इसी प्रकार की है। वह सबके दिल में छिप-छिप कर रहते हैं और मौका पाकर प्रकट होते हैं। संसार के विष को अपने अन्दर समाकर अन्तरात्मा के भीषण सौंदर्य को हृदय-हृदय में संचारित करने वाले परमात्मा को महोरग कहने में काफी गहरी भावना है जिस पर जितना मनन किया जाए, उतनी रोशनी मिल जाती है।

इस श्लोक की दूसरी पंक्ति में भगवान् के चार नाम हैं—महाक्रतु, महायज्वा, महायज्ञ और महाहवि। ये चारों नाम यज्ञ के अनुष्ठान से सम्बन्धित हैं। 'यज्ञो वै विष्णुः'—इस मंत्र वाक्य के अनुसार यज्ञ भगवान् का ही रूप है। 'यत्' को जानना ही यज्ञ है। जिससे संसार का प्रसार होता है, वही मूल तत्व 'यत्' कहा जाता है जिसको जानना यज्ञ है। यह यज्ञ कई प्रकार का हो सकता है। निष्काम भाव से नियत कार्य का निष्ठा से आचरण करना यज्ञ है। निर्मल मन से भगवान् का नाम स्मरण करना यज्ञ है। ज्ञानियों की बात श्रद्धा से

सुनकर उसे हृदयंगम करना यज्ञ है। दीन दुखियों का दर्द मिटाना यज्ञ है। स्वार्थ को छोड़कर संसार के कल्याण में सहयोग देना यज्ञ है। पर यज्ञ का नाम लेते ही हमें अग्निकुंड, हवन सामग्री, होता और हवन का दृश्य दिखाई देता है। अग्नि में आहुति देना ही प्रायः यज्ञ माना जाता है। संसार को सजग बनाने वाली चिरंतन ज्वाला में इसी ज्वाला के प्रतीक प्राणी का अपना सर्वस्व अर्पित करना यज्ञ के अनुष्ठान का आधारभूत तत्व है। त्याग और विराग, प्रेम और प्रकाश, निष्ठा और निवेदन यज्ञ के मूलभूत तत्व हैं। इसीलिए यज्ञ को परमात्मा का स्वरूप माना गया है। कर्मकांड को प्रधान मानकर किया जाने वाला यज्ञ क्रतु है और ज्ञान को प्रधान मानने वाला यज्ञ याग कहा जाता है। दोनों में त्याग समान रूप से विद्यमान होता है। महाक्रतु और महायज्ञ दोनों यहाँ पर भगवान् के रूप बताए गए हैं। इतना ही नहीं, यज्ञ करने वाला यज्वा भी भगवान् है और यज्ञ के अनुष्ठान में आग में दी जाने वाली आहुति या हवि भी भगवान् के ही रूप हैं। ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञाता तीनों भगवान् के ही रूप हैं। इसी प्रकार यज्ञ की भावना, यज्ञ का आचरण, यज्ञ का यजमान और यज्ञ की सामग्री—चारों तत्व अलग-अलग दिखाई देने पर भी बारीकी से देखने पर चारों एक ही मूल तत्व के विभिन्न रूप सिद्ध हो जाते हैं। विचार, आचरण, साधक और साधन चारों परमात्मा के ही रूप हैं। हमारी आँखों के सामने जो दृश्यमान जगत् दिखाई दे रहा है, वह महायज्वा भगवान् के महाक्रतु या महायज्ञ का ही परिणाम है जिसमें महाप्राण पुरुष अपने आप महाहवि बन जाते है। दिया जलता है तो असल में होता क्या है ? बत्ती जलती है या तेल जलता है या आग जलती है ? असल में तीनों का अन्योन्य संयोग है। तीनों

अलग-अलग नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा की प्रेरणा से ही आत्मा, आत्मा के सहारे आत्मा के अन्दर ही आत्मा का साक्षात्कार करती है। परमात्मा को महायज्ञ के रूप में पाना ही आत्मा की उपलब्धि है।

आराधना की यह अखण्डता अगले श्लोक में स्तोत्र, स्तोता, स्तुत्य और स्तुति के रूप में समझाई जाती है:—

स्तव्यः स्तवप्रियः स्तोत्रं स्तुतिः स्तोता रणप्रियः।
पूर्णः पूरयिता पुण्यः पुण्यकीर्तिरनामयः ॥७३॥

भगवान् की सब लोग स्तुति करते हैं, क्योंकि वह स्तुति करने योग्य हैं, स्तव्य हैं। वह केवल स्तव्य ही नहीं, प्रशस्तव्य हैं। उनके बारे में जितना कहा जाए, वह थोड़ा है। वेदों के असंख्य मन्त्रों में उसी प्रशस्तव्य की प्रशंसा की गई है। फिर भी उनका सही और पूरा वर्णन नहीं हो पाया और हो भी नहीं पाता क्योंकि वह स्तवनीय होने पर भी स्तोता, स्तोत्र और स्तुति—तीनों में विद्यमान होते हैं। स्तुति करने वाला भी भगवान् का ही प्रतिरूप है। स्तुति में जो प्रशस्त वर्णमाला होती है, वह भी अक्षर परब्रह्म का रूप है। स्तवन की जो क्रिया है, वह भी भगवान् की इच्छा से ही प्रेरित होती है। इसलिए स्तोत्र का फल स्तोत्र से भिन्न नहीं है। साधक के लिए साधना से साध्य प्रधान नहीं है। वास्तव में साधना ही सिद्धि का रूप है। इसी भावना से प्रत्येक साधक की साधना या आराधना चलनी चाहिए और इसी प्रकार की स्तुति पर भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं। इस श्लोक के पहले पाँच नाम—स्तव्य, स्तवप्रिय, स्तोत्र, स्तुति और स्तोता—स्तोत्र की प्रक्रिया से सम्बन्धित हैं जबकि अगला नाम 'रणप्रिय' कुछ अलग सा

दिखाई देता है हालाँकि वह भी इसी क्रम के अन्तर्गत आता है।

भगवान् को यहाँ पर 'रणप्रिय' कहा गया है। रण का मतलब आमतौर पर युद्ध होता है। युद्ध को रण इसलिए कहा जाता है क्योंकि उसमें काफी आवाज़ होती है। वास्तव में सारा संसार रण है, ध्वनियों का आवास है जहाँ तरह-तरह की आवाजें मिली-जुली सुनाई देती हैं। कोई रोता है तो कोई हँसता है। कोई उपदेश देता है तो कोई उपहास करता है। कोई किसी की स्तुति करता तो कोई किसी की निंदा करता है। चलते फिरते खाते पीते सोते जागते लोग कई तरह की आवाज़ें करते है और सुनते हैं। पर इन सभी आवाज़ों में जो एक आवाज आत्मा के आवास में पहुँचने में मदद देती है, वही परमात्मा के लिए सबसे प्यारी आवाज़ है और उसी को यहाँ पर रण की संज्ञा दी गई है। साधारण ध्वनि 'रव' के अन्तर्गत आती है जबकि आत्मा की आवाज़ 'रण' की संज्ञा पाती है जिसको सुनने के लिए ही नहीं, बल्कि देखने के लिए वैदिक ऋषि लालायित होकर कहा करते थे—'महे रणाय चक्षसे'।

आत्मा की यह आवाज़—रण—भगवान् को बहुत प्रिय लगती है। युद्ध के अर्थ में भी रण भगवान् को प्रिय है क्योंकि युद्ध जीवन-मरण का प्रश्न उभारकर आत्मा का आलोक हमारे सामने रखता है। समर से ही मानव अमर बनता है। जीवन एक रणरंग है जहाँ पर निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। असत् पर सत् की, अन्धकार पर प्रकाश की और मृत्यु पर अमरत्व की विजय ही जीवन संग्राम की चरितार्थता है। इस युद्ध में पार्थिव जगत् के विजय सारथी परमात्मा ही बनते हैं।

महाभारत का युद्ध केवल कौरवों और पांडवों के बीच में कभी पुराने जमाने में ही नहीं हुआ, बल्कि प्रतिदिन प्रत्येक प्राणी के अन्दर कर्म और ज्ञान के संघर्ष के रूप में निरन्तर चलता रहता है। ज्ञान की विजय ज्ञानी को रणप्रिय का दर्शन कराती हैं।

यह प्रशस्त ध्वनि अपने में पूर्ण है। उसी से सारा संसार भरपूर है। इसलिए भगवान् स्वयं पूर्ण हैं और दूसरों को परिपूर्ण और पवित्र बनाते हैं। आकाश, जो भगवान् का शरीर माना जाता है, ध्वनि से पूर्ण है। शब्द आकाश का विषय है। आकाश के बिना शब्द का प्रसार नहीं होता। इसलिए जहाँ आकाश है, वहाँ शब्द है और जहां शब्द है, वहां शब्द ब्रह्म परमात्मा है। यह तो स्पष्ट है कि सारे ब्रह्मांड में ऐसी कोई जगह नहीं है, जहां आकाश नहीं है। इसलिए सर्वत्र विद्यमान आकाश चिरंतन नाद को अनन्त जगत् में फैलाते हुए परिपूर्ण, परिपूरक और पवित्र सत्ता परमात्मा का सार्वकालिक और सार्वभौम प्रतिनिधित्व करता है। आकाश अपने में पूर्ण है और समस्त शून्य को भर देता है। दूसरी दृष्टि से देखा जाए तो वह स्वयं शून्य है और समस्त संसार को शून्यवत् दिखाता है। पर वास्तव में आकाश शून्य होते हुए भी पूर्ण है और आकाश रूपी शरीर धारण करने वाले परमात्मा भी इसी प्रकार की परिपूर्णता से ओतप्रोत हैं। वह हर जगह विद्यमान् हैं। पर जो उनको देख नहीं पाते, उनके लिए वह कहीं नहीं हैं। पुण्य जनों की पवित्र दृष्टि में वह सर्वत्र विराजमान हैं। इसीलिए भगवान् को यहां पुण्य और पुण्यकीर्ति कहा गया है।

पुण्य क्या है, यह काफी जटिल प्रश्न है। जिसमें पाप नहीं है, वही पुण्य है। पर इससे पुण्य का सही-सही और

पूरा बोध नहीं हो पाता। भगवान को पुण्य कहने का आशय यही है कि जो भगवान् की तरह सर्वव्यापक, स्वयंपूर्ण और सर्वसंपूरक होता है, वही पुण्य समझना चाहिए। जिसकी सब लोग प्रशंसा करें, जिसकी याद करने से आदमी का मन पवित्र बन जाए, जिसका यश कोने-कोने में अपने आप फैल जाए जैसे आकाश का प्रकाश, वही पुण्य कहा जा सकता है। और भी सरल शब्दों में कहना हो तो जो काम दस लोगों के सामने कहने लायक हो और जिसकी चर्चा करने में उस कार्य के कर्ता के मन में संकोच, भय या लज्जा की भावना न हो, वही पुण्य है। जो इससे भिन्न है, वही पाप है। भगवान् पुण्य के प्रतीक हैं या वह स्वयं पुण्य हैं क्योंकि उनका स्मरण, मनन या ध्यान ही घृणित से घृणित पाप को धो डालता है और पापी का मन परमात्मा के स्मरण मात्र से निर्मल बन जाता है। पर उनकी कीर्ति का महत्व पुण्य जन ही समझ सकते हैं। इस लिए वह 'पुण्यकीर्ति' कहे जाते हैं। यहाँ पर ब्रह्माण्ड पुराण के अंतर्गत प्रस्तावित श्री ललिता परमेश्वरी की सहस्रनामावली का स्मरण हो आता है जहाँ पर श्रीकांत की तरह श्रीदेवी को भी 'पुण्य कीर्ति' पुण्यलभ्या और पुण्य-श्रवणकीर्तिता,' कहा गया है। 'यज्ञप्रिया यज्ञकर्त्री यजमान स्वरूपिणी' आदि नाम भी—'महाक्रतुर्महाज्वा महायज्ञो महा-हविः' आदि नामों के प्रतिरूप से प्रतीत होते हैं। श्रीमान् और श्रीमती के गुणगान में कोई तात्विक अंतर नहीं हो सकता। दोनों एक ही सत्ता के दो विभिन्न रूप हैं।

इस श्लोक का अंतिम नाम है—अनामय। भगवान् का नाम लेते ही सारी अस्वस्थता दूर भाग जाती है। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक—सभी प्रकार की अप्राकृतिक,

अस्वाभाविक और अस्वस्थ व्यवस्थाओं को ठीक करने की शक्ति अनामय भगवान् में है। आमय या अस्वस्थता के लिए उनमें कोई गुंजाइश नहीं है। जो सबकी प्रशंसा का पात्र हो, जो सत्संग का प्रेमी हो, जो अपने में पूर्ण हो, पवित्र और पुण्य-जीवी हो, वह हमेशा स्वस्थ रहता है। मन ही मानव के स्वास्थ्य का निर्णायक है—केवल शारीरिक स्वास्थ्य का ही नहीं, बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य का भी। इसलिए जिनका मन परमात्मा के चिंतन में लीन है, उनके लिए भगवान् अनामय बनकर उनका हानि-लाभ, योगक्षेम, भला बुरा सबका ख्याल करते हैं।

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः॥

—०—

२६. वासुदेव की वसुवासना

आकाश की तरह निर्मल, निर्लिप्त और निरंजन परमात्मा समस्त संसार को सर्वात्मना आवासित करते हैं। मन की गति से वह चलते हैं और संसार की सारी संपदा को आत्मसात् करते हैं। ऐसा लगता है कि सारा संसार उसी गतिशील और वसुमती सत्ता से आवासित है। इसी ईशावास्य वसुमती का वर्णन सहस्रनाम का अगला श्लोक प्रस्तुत करता है —

मनोजवस्तीर्थकरो वसुरेता वसुप्रदः।
वसुप्रदो वासुदेवो वसुर्वसुमना हविः ॥७४॥

इस श्लोक का पहला नाम है—'मनोजव'। मन के समान चलने, मचलने वाले को मनोजव कहा जाता है। हनुमान् को भी मनोजव कहा जाता है। 'मनोजव, मारुततुल्यवेगं' आदि गुणों से प्रशस्त हनुमान् मन और पवन की गति से चलने वाले बताए जाते हैं। यहां पर भगवान् विष्णु को भी 'मनोजव' कहा गया है। हनुमान् के संदर्भ में 'जव' शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से वेग या गति के अर्थ में हो सकता है, पर परमात्मा के संदर्भ में 'मनोजव' का आशय केवल मनोवेग से नहीं है, बल्कि स्पंदनशीलता, संवेदनशीलता और स्फुरणशीलता से भी है। मन की भावना जितनी जल्दी जहाँ चाहे, वहाँ पहुंच सकती है, उतनी ही द्रुत गति से भगवान् हर जगह

पहुँच जाते हैं। जैसे ही मन में भगवान् का स्मरण हो आता है, वैसे ही उनका मनभावन रूप सामने प्रकट होता है। शरीर जितना जड़ होता है, मन उतना ही चेतन होता है। हम कहीं बैठे-बैठे मन को सारे भुवन में घुमा सकते हैं। मन की गति में कोई बाधा नहीं डाल सकता। किसी को पता तक नहीं चलता कि हमारा मन कहाँ-कहाँ घूम रहा है और क्या-क्या बना बनाया दृश्य देख रहा है। शरीर अलग-अलग हो सकते हैं, पर दूर-दूर के मन पल भर में मिल सकते हैं। असल में मन एक ऐसी अनोखी चीज़ है जो मूर्त और अमूर्त (साकार और निराकार) को एक दूसरे से मिलाती है और स्वयं अमूर्त होते हुए सजीव और सक्रिय रहती है। मानव जीवन के दो पहलू—अन्न और प्राण—मूर्त या साकार हैं और दो पहलू—विज्ञान और आनंद—अमूर्त और अनुभवजन्य हैं। इन दोनों जोड़ियों को जोड़ने वाली कड़ी है—मन। मनुष्य के शरीर में जो कुछ दिखाई देता है, मूर्त है, वह सब मिटने वाला है। जो तत्व दिखाई नहीं देता है, पर शरीर में स्फूर्ति, प्रकाश और प्रेरणा का संचार कर देता है, वह अमिट है, अमर है और अमरत्व के प्रति आस्था पैदा करने वाला है। इन दोनों तत्वों का संधायक है—मन। मन को अन्नमय और प्राणमय अस्तित्व की ओर खींचकर उससे नश्वर सुख को प्राप्त किया जा सकता है और इसके विपरीत उसको विज्ञानमय और आनंदमय भूमिका में प्रतिष्ठित कर अलौकिक अनुभूति भी प्राप्त की जा सकती है। भगवान् इसी मन के नियंता हैं। इसीलिए उनको 'मनोजव' कहा गया है। अलग-अलग शरीरों में बसे हुए प्राणियों को मन के सूत्र से भगवान् अपनी ओर खींचते हैं, कभी इस सूत्र को ढीला बनाकर हमें स्वतंत्र छोड़ देते हैं और कभी-कभी जगह-जगह घुमा फिरा-

कर तरह-तरह के नाच दिखाते हैं। 'सबहिं नचावत राम गोसाईं'—पर यह नचानेवाला नाचनेवाले के अंदर ही बैठा है। जैसे ही स्मरण किया जाए, वैसे ही संचरणशील चरणों का स्फुरण हो जाता है।

जहाँ प्रभु के चरण चलते हैं, वहाँ का 'पग पग प्रयाग' बन जाता है। स्वार्थ से पंकिल भूमि तीर्थ का-सा महत्व प्राप्त कर लेती है। इसलिए उनको 'तीर्थंकर' कहा गया है। जैन मुनियों में पहुंचे हुए संतों को भी तीर्थंकर कहा जाता है। असल में तीर्थ वही है जो स्वयं पार कर गया है या जिसे पार करना ही जीवन का परम ध्येय है। तीर्थस्थान प्रायः नदियों के तट पर रहते हैं। पानी ही सबको पवित्र बनाता है। 'आपः पुनंतु पृथिवीं, पृथिवी पूता पुनातु मां'—पानी मिट्टी को पवित्र बनाता है और इस प्रकार पवित्र बनी मिट्टी मनुष्य को पवित्र बनाती है। पानी के बिना मिट्टी सूखी, फीकी और बीहड़ लगती है। इसलिए पानी ही पृथ्वी का तीर्थ है जिसके स्रष्टा भगवान् तीर्थंकर हैं।

संसार में जो कुछ सरस दिखाई देता है, तरल बनकर बहता है और पृथ्वी को सजल बनाता है, वही परमात्मा का वीर्य है। इसलिए भगवान् को 'वसुरेता' कहा गया है। संसार की सारी संपत्ति भगवान् की देन है। पर यह नहीं समझना चाहिए कि भगवान् हमें चावल, कपड़ा, दूध, दही, पैसा, बर्तन आदि देते हैं। ये सब साधन जिस पर निर्भर हैं, वह मूल संपत्ति भगवान् की देन है। धरती, पानी, हवा, प्रकाश, प्रभात, सूर्य, चंद्र, दिन, रात, तारे ज्योति आदि भगवान् के वरदान के फलस्वरूप मानव के उपभोग के लिए मौजूद हैं। सुख समृद्धि के इसी भंडार को सामूहिक रूप से

'वसु' कहा जाता है जो कि भगवान् के वीर्य के समान है। 'वसु' शब्द के अंतर्गत स्थूल रूप से आठ प्रकार की संपत्ति मानी जाती है —

धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टाविति स्मृताः॥

यह सारी संपत्ति हमें भगवान् से मिलती है। इसलिए उनको 'वसुप्रद' कहा गया है। 'वसु' शब्द 'वस्' धातु से निकलता है जिसका मतलब है—बसना, बसाना, छाना, पहनना और पहनाना। संसार की प्रत्येक वस्तु 'वसु' शब्द की इस परिभाषा के अंतर्गत आती है। हर चीज़ यहां पर बसती और दूसरी चीज़ को बसाती है, स्वयं छाया बनती है और दूसरों को छाया देती है, खुद कुछ न कुछ पहनती है और दूसरी चीज़ को पहनावा देती है। यही लक्षण 'परा वस्तु' परमात्मा में भी हैं। वह हर जगह बसते हैं और हरेक को बसाते हैं। सबको आश्रय देते हैं और आराम की हर चीज़ उपलब्ध कराते हैं।

पर भगवान् हमें जो संपत्ति देते हैं, वह दो प्रकार की होती है—लौकिक और पारलौकिक। इन दोनों प्रकार की संपत्तियों की ओर संकेत करने के लिए यहां पर 'वसुप्रद' नाम को दोहराया गया है। वैसे सहस्रनाम में अनेक नाम दो तीन बार आते हैं। पर एक ही स्थान पर एक ही नाम को दोहराने का यह एकमात्र प्रसंग है। जो नाम इस श्लोक की पहली पंक्ति के अंत में आता है, वही नाम—'वसुप्रद'—दूसरी पंक्ति के आरंभ में भी आता है। इससे यही आशय निकलता है कि पार्थिव जगत् की चरम उपलब्धि और पारलौकिक जीवन की प्रारंभिक पूंजी (प्रारब्धि) भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होती

है। दोनों प्रकार की संपत्ति प्रदान करने वाले 'वासुदेव' संसार में सर्वत्र विराजमान हैं। हमारे शरीर में, आहार में, विहार में, हवा में, पानी में, प्रभात में, प्रदोष में, दिन में, रात में, जागरण में, स्वप्न और सुषुप्ति में, वेष-भूषा में, भाषा में और हमारी जीवन-रागिनी के प्रत्येक स्वर में वही वासुदेव हमारा मार्ग प्रशस्त करते हुए साथ देते हैं। उनको केवल 'वसु' कहना काफी है। वही विश्व काव्य की मूल कथा वस्तु हैं। संसार की लाज बचाने वाले परिधान भी वही हैं। उनका मन वसुधा की तरह विशाल, संपन्न, स्वस्थ और प्रशांत है क्योंकि उसी में सारी सृष्टि का निवास है। इसलिए उनको 'वसुमना' कहा गया है। जिसका मन निर्मल हो, उसके लिए सारी वसुधा अपनी है। 'वसुमना' होने के कारण ही परमात्मा को पहले तीर्थंकर कहा जा चुका है। वास्तव में वसुमती मति ही तीर्थराज है। संपन्न मन से बढ़कर कोई तीर्थ नहीं हो सकता। 'शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्।'

यहां पर एक बात ध्यान देने योग्य है। सहस्रनाम के प्रवक्ता आचार्य भीष्म को 'वसूत्तम' कहा जाता है। वह वसुओं में श्रेष्ठ माने जाते हैं। वह अपने निर्वाण के आप निर्णायक थे। वसुओं से प्रसूत होकर वसुओं में विलीन होने वाले वसूत्तम के श्रीमुख से यह वसु-सूक्ति निकलती है। वास्तव में वासुदेव की वासना से ही तीनों भुवन आवासित हैं—आबाद हैं। उसी वासुदेव की उपासना सच्चे भागवत के लिए श्रेय प्रदान करने वाली है। लौकिक सुख या प्रेय के लिए भी उनकी आराधना की जा सकती है। और पारलौकिक श्रेय या निःश्रेयस् के लिए भी उनकी उपासना की जा सकती है।

ये दोनों मार्ग इस श्लोक की दोनों पंक्तियों में उभर आते हैं। पहली पंक्ति प्रेय या लौकिक कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती है तो दूसरी पंक्ति श्रेय या कैवल्य पद को दर्शाती है।

इसीलिए निःश्रेयस् को निरूपित करने वाली दूसरी पंक्ति का अंतिम नाम है—'हवि'। परमात्मा का नाम लेकर परम पावन अग्निकुण्ड में अर्पित करने वाली आहुति का नाम है—'हवि'। हम जो कुछ करते हैं, जो कुछ पाते हैं, जो कुछ खाते हैं, देते हैं या लेते हैं, सब में ब्रह्म भावना होनी चाहिए। यह सब हम अपने लिए नहीं कर रहे हैं। करना हमारी विधि है, इसलिए कर रहे हैं। जो काम किया जाता है, वह ब्रह्म की आज्ञा और इच्छा से किया जाता है। करने वाला भी ब्रह्म का प्रतीक है और कराने वाला भो भगवान् का संदेश वाहक है। इसी ब्रह्म कर्म की ओर गीता में मार्मिक सकेत मिलता है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हवि र्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गंतव्यं ब्रह्म कर्म समाधिना ॥

इस ब्रह्म भावना से जो भी काम किया जाता है, वह सद्गति का साधक बनता है। इसी सद्गति की सत्ता का वर्णन अगले श्लोक में मिलता है—

सद्गतिः सत्कृतिः सत्ता सद्भूतिः सत्परायणः।
शूरसेनो यदुश्रेष्ठः सन्निवासः सुयामुनः ॥७५॥

जो भगवान् के भरोसे रहते हैं और उन्हीं को प्रसन्न करने के लिए सब कुछ करते हैं, उनको परम शुभ प्रदान करना भगवान् का काम है। वास्तव में भगवान् 'सद्'—रूप हैं। वही सत् हैं, बाकी सब असत् हैं। इसीलिए 'असतो मा

सद्गमय' आदि वैदिक ऋचाओं में असत् से सत् की ओर जाने की कामना प्रकट की जाती है। परमात्मा की प्रवृत्ति या गति सत् है, मंगलमय है, शाश्वत है और वास्तविक है। उनका आचरण भी सद्भावना से पूर्ण होता है। असल में वह 'सद्' के ही साकार या निराकार रूप हैं। इसलिए उनको 'सत्ता' कहना ही काफी है। उनका अस्तित्व निर्विवाद है क्योंकि उन्हीं से सारा संसार उत्पन्न होता है। जिससे सारा संसार प्रसार पा रहा है, वह अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त जगत् के स्रोत के रूप में अव्यय और अविनाशी है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति।

जो सर्वव्यापक है, वही शाश्वत सत्ता है। वह सार्वकालिक भी होती है।

सज्जन या संत भी 'सत्' की संज्ञा के अधिकारी होते हैं। अगर सत् को इस अर्थ में लिया जाए तो सद्गति, सत्कृति, सद्भूति और सत्परायण इन नामों से यह स्पष्ट होता है कि भगवान् सज्जनों के आप्त बंधु हैं। उनका योग क्षेम उन्हीं के साथ में है। वास्तव में भगवान् संतों के हैं और संत भगवान् के हैं। दोनों का एक दूसरे से अटूट संबंध है। भगवान् की प्रतिज्ञा है—'हम संतन के, संत हमारे'।

संतों की यह बृहत् सेना भगवान् को 'शूरसेन' बनाती है। उनकी सेना में प्रह्लाद, अंबरीष आदि शुद्ध सात्विक ज्ञानी भी हैं और गजेंद्र जैसे हाथी भी हैं। सात्विक, राजस और तामसी—सभी प्रकार के भक्त उनकी संत सेना में शामिल हैं।

इसी सेना को लेकर वह यदुकुल में पैदा हुए और यदुश्रेष्ठ माने गए। भगवान् के गोकुल में अवतरित होने के पहले ही उनकी सेना सपरिवार गो, गोपी और गोपाल समेत यमुना के तट पर पहुंच चुकी थी। भगवान् की सारी योजना बनी बनाई होती है। परमात्मा की पावन लीला के लिए सारी साज-सज्जा पहले से तैयार थी। व्रज की कुंज गलियां, यमुना का सुन्दर तट, उद्धार की प्रतीक्षा में बैठे राक्षस परिवार आदि यदुश्रेष्ठ की सुव्यवस्थित योजना के प्रमाण हैं। श्रीकृष्ण की अवतार लीला जैसे ही समाप्त हो जाती है, कलियुग का प्रारंभ होता है। पर जब तक भगवान् कृष्ण यमुना के किनारे वृंदावन को नंदन वन का आनंद प्रदान करते रहे, तब तक यमुना का परिसर परम पवित्र और रमणीय रहा। यही रमणीयता इस श्लोक के अंतिम नाम 'सुयामुन' से स्पष्ट होती है। परमात्मा के संपर्क से साधारण नदी भी अलौकिक आनंद से निनादित होती रही।

पर नंद नंदन केवल वृंदावन के वासी नहीं हैं। वह अखिल जगत् के निवासी हैं, संतों के हृदय विहारी हैं। यही सन्निवासता उनको सुयामुन बनाती है। जहाँ 'सत्' है, वहाँ सन्निवास विराजमान हैं। सन्निवास के सान्निध्य से नदी, पर्वत, लता वीरुध, पशु पक्षी सब अलौकिक आलोक से अलंकृत हो जाते हैं, यमुना को नियमित गति से चलाने की क्षमता भी सन्निवास में है। सज्जनता और संयम साथ-साथ चलते हैं। 'सन्निवास' नाम भगवान् की सत्प्रियता को प्रकट करता है तो 'सुयामुन' नाम उनके सहज सात्विक संयम को स्पष्ट करता है। भगवान् जिस संयम और अनुशासन या नियम का प्रवर्तन करते हैं, उसका आधार है—प्रेम। प्रेम से जो

अनुशासन या नियम अपनाया जाता है, वही सात्विक और शाश्वत होता है। यम नियम की इसी सुव्यवस्थित और सुरुचिर योजना के कारण भगवान् को 'सुयामुन' कहा गया है।

सच्ची निष्ठा में सबसे बड़ा घातक होता है—अहंकार। साधना के मार्ग में बाधा डालने वाले इस अहंकार या दर्प को सर्वांतर्यामी वासुदेव किस प्रकार चूर-चूर कर देते हैं, यह अगले श्लोक में स्पष्ट किया जाता है —

भूतावासो वासुदेवः सर्वासुनिलयोऽनलः।
दर्पहा दर्पदो दृप्तो दुर्धरोथापराजितः ॥७६॥

प्रत्येक प्राणी में परमात्मा का निवास होता है। मिट्टी, पानी, प्रकाश, हवा और आकाश पांच तत्व हैं जिन से पांचभौतिक प्राणी का पालन पोषण होता है। इन सभी भूतों में भगवान् रहते हैं। इसलिए उनको 'भूतावास' कहा गया है। वह न केवल इनमें निवास करते हैं, बल्कि उनको बसाते भी हैं। 'भूतावास' में यही 'आवास' की भावना है। 'आवास' में अंतर्यामिता और व्यापक अस्तित्व की भावना है। अगला नाम 'वासुदेव' पिछले श्लोक में भी आ चुका था। यहां पर इसको दुहराने में वसुदेव के पुत्र वासुदेव की अनंत आवासिता को प्रकट करना अभीष्ट है। देवकी और वसुदेव के पुत्र रूप में उत्पन्न श्रीकृष्ण पैदा होते ही नंद-यशोदा के घर पहुँच गए और उसके बाद मथुरा, द्वारका, इंद्रप्रस्थ, हस्तिनापुर आदि कई स्थानों पर पहुंच गए। नंद बाबा का वही लाडला कान्ह धीरे-धीरे कुंज विहारी, कंस संहारी, गीताचार्य, पार्थसारथी और योगेश्वर बन गया। उनकी लीला का विस्तार वास्तव में

चौदह भुवनों तक पहुंचता है। जो कुछ दिखाई देता है और जिसकी कल्पना की जा सकती है, यह सारा का सारा वास्तव में वासुदेव की वासना से ग्रावासित है।

वह सबके प्राणों में निवास करते हैं। इसलिए उनको 'सर्वासुनिलय' कहा गया है। जब तक ग्रात्मा के साथ परमात्मा का संपर्क रहता है, तभी तक शरीर में प्राण रहते हैं। जिस क्षण में परमात्मा अपनी विविक्त आत्मा या जीवात्मा को वापस बुला लेते हैं, उसी क्षण में प्राण शरीर को छोड़कर चले जाते हैं। इसलिए प्राणों का प्रणयन, प्रचलन ग्रौर प्रलयन परमात्मा की इच्छा पर निर्भर है। तभी तो वह कहते हैं कि जो तुम्हारे बस की बात नहीं है, उसके लिये क्यों रोते हो। नींद कब आती है और कब खुलती है, इसका हमें ठीक-ठीक पता नहीं चलता। अगर पता चल सकता है तो नींद न आती है, न खुलती हैं। इसी तरह जीवन लीला कब कैसे ग्रौर क्यों आरंभ होती है और कब समाप्त होगी, इसका हमें ज्ञान नहीं है। इसके महानियंत्रक परमात्मा हैं। उनके इशारे पर प्राण बनते और बुनते हैं।

ग्रगला नाम है—'अनल'। जो कभी तृप्त नहीं होता, संतुष्ट नहीं होता, उसको 'अनल' कहते हैं। इसी दृष्टि से आग को अनल कहा जाता है। ग्राग में जो भी चीज़ डालते हैं, सबको वह पल भर में भस्म कर देती है और जितनी भी सामग्री जलाने के लिए मिल जाए, वह संतुष्ट नहीं होती है। अलं या 'पर्याप्त' या 'काफी' नाम की भावना उसमें नहीं है। इसी प्रकार भगवान् की लीला भी ग्रनंत है, अनल (आग) के समान कभी शांत नहीं होने वाली है। अनेकों प्राणों की आहुति के बावजूद प्राणों के प्रणेता परमात्मा की यह प्राणलीला

प्रलय की घड़ी तक चलती रहती है। प्राणों की यह होली प्रत्येक प्राणी प्रतिदिन अपनी आँखों के सामने देखा करता है। फिर भी वह जितनी आयु जीता है, उतनी और जीना चाहता है। मरना वह कभी नहीं चाहेगा। इसीलिए ज्ञानवृद्ध बालक नचिकेता यमराज से कहते हैं, 'महाराज, हजारों वर्ष जीने के बाद भी सारी जिन्दगी छोटी-सी दिखाई पड़ेगी, इसलिए मुझे दीर्घायु का वरदान नहीं चाहिए।' पर यह आत्मबोध अनेक जन्मों के संस्कार का परिणाम है। परमात्मा को 'अनल' के रूप में देखने से हमें अपनी सीमित आयु को सार्थक बनाने के लिए प्रेरणा मिलेगी।

इसके बाद दो नाम आते हैं—'दर्पहा' और 'दर्पद'। स्थूल दृष्टि से देखने पर दोनों एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं। दर्प या घमंड को चूर करने वाला 'दर्पहा' है और उसे बढ़ावा देने वाला 'दर्पद' है। भगवान् दोनों काम करते हैं। बल, बुद्धि संपदा आदि देकर भगवान् हमारे अन्दर तृप्ति और दृप्ति (संतोष और गर्व) की भावना जगाते हैं। तृप्ति या सन्तोष में कोई खतरा नहीं है। पर जैसे ही वह दृप्ति या गर्व का रूप धारण करती है, जीवन की गाड़ी गलत रास्ते पर जाने लगती है। इस तरह मनुष्य को भटकाने वाले दर्प को भगवान् काबू में रखते हैं। अगर दर्प की भावना बिलकुल नहीं है तो आदमी में आत्म-विश्वास नहीं होता और वह आगे बढ़ने का प्रयास नहीं करता। वास्तव में 'अहं' ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) 'शिवोऽहं' (शिव मैं ही हूँ) 'सोऽहं' (वह मैं हूँ) आदि वेदांत के ध्येय सूत्र आत्मबोध कराने वाले हैं। पर यह आत्मबोध अहंकार का रूपांतर नहीं है। अपने को अखंड चैतन्य का अभिन्न अंग समझने में अहं की भावना तो है, पर

वह ग्रस्वस्थ नहीं है। इस 'अहं' में 'तत्' भी शामिल है, केवल 'अहं' नहीं। इसलिए साधक को इस सम्बन्ध में बहुत ही सावधान रहना पड़ता है। अपने को अमृत सन्तान मानकर अक्षय आलोक के प्रशस्त पथ पर आगे बढ़ना जरूर चाहिए, पर इसे अपने पौरुष का द्योतक समझना नहीं चाहिए। यही भाव-सन्तुलन 'दर्पहा' और 'दर्पद'—इन दो नामों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। तीसरा नाम 'दृप्त' भी इसी भाव संतुलन का पोषण करता है। पर यह भगवान् के निजी लक्षण को स्पष्ट करता है। परमात्मा में दर्प है, पर वह दूसरों के दर्प को नियन्त्रित करते हैं।

अगला नाम है—'दुर्धर'। जिसका धारण करना कठिन है, वही दुर्धर है। जीवन में हमारा ध्यान कई चीज़ों पर केंद्रित होता है और कुछ चीज़ों पर रम जाता है, पर भगवान् पर मुश्किल से टिकता है। मानव शरीर का निर्माण भी कुछ इस प्रकार से हुआ है कि उसके सारे दरवाजे बाहर की तरह खुले हुए होते हैं। आँखें बाहर की तरफ आसानी से देख पाती हैं। कान बाहर की आवाजें जल्दी ग्रहण करते हैं। जीभ बाहर की रसीली चीज़ों का स्वाद लेने के लिए हमेशा लालायित रहती है। पर भीतर का सौन्दर्य, अंदर का माधुर्य और आत्मा का आनन्द सुगमता से अनुभव के क्षेत्र में नहीं ग्राते। इसीलिए अन्तर्यामी परमात्मा पर पल भर भी ध्यान नहीं टिकता। बड़े-बड़े साधक, संयमी और सन्त जन्म जन्मांतर की साधना के फलस्वरूप भीतर के ऐश्वर्य को देखकर अन्दर ही अन्दर आनन्दित हो उठते हैं। इसलिए भगवान् को 'दुर्धर' कहा गया है।

प्रत्येक प्राणी के अन्दर प्रतिष्ठित परमात्मा केवल दुर्धर

ही नहीं बल्कि, दुर्जेय भी हैं। जिसने उस दुर्धर का साक्षात्कार किया, वह उसी का बन गया। उसे कोई हरा नहीं सकता और न उसके आगे कोई सत्ता है। वह सबकी पराकाष्ठा है और सबको जीत चुका है। इसलिए उनको 'अपराजित' कहा गया है। वह दूसरों की पकड़ में आने वाले नहीं हैं—दुर्धर हैं। वह दूसरों के सामने हार मानने वाले नहीं हैं—अपराजित हैं। इन दोनों के बीच में 'अथ' का प्रयोग हुआ है जो प्रणव की तरह पवित्र माना जाता है। ओंकार और 'अथ' ब्रह्मा के कंठ से निकली ध्वनियाँ हैं। इसलिए ब्रह्म के सत्स्वरूप की सारगर्भित व्याख्या का उपसंहार और महाप्राण परमात्मा की मूर्तिमत्ता के मनोहर वर्णन का आरम्भ करने के इस प्रसंग में 'अथ' शब्द का ठीक प्रयोग हुआ है।

भगवान् मूर्त भी हैं और अमूर्त भी। सारा संसार उन्हीं का मूर्त या साकार रूप है। संसार की प्रत्येक वस्तु उन्हीं के प्रकाश से प्रतिभासित होती है। वह एक हैं और अनेक भी हैं, व्यक्त हैं और अव्यक्त भी हैं। इसी असंख्य और अनन्त मूर्तिमत्ता का वर्णन अगले श्लोक में मिलता है।

विश्वमूर्तिर्महामूर्तिर्दीप्तमूर्तिरमूर्तिमान् ।
अनेकमूर्तिरव्यक्तः शतमूर्तिः शताननः ।।७७।।

विश्व तो दिखाई देता है, पर विश्वात्मा विश्व के कण-कण में व्याप्त होने के कारण स्थूल रूप से दिखाई नहीं देते हैं। पर इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह महान् हैं, बहुत बड़े हैं। उनकी मूर्ति अत्यन्त विशाल, व्यापक और विश्वव्यापी है। उस मूर्ति का प्रकाश संसार के कोने-कोने को आलोकित करता है। पर चर्मचक्षुओं से उस मूर्ति को देखने

का सारा प्रयास विफल हो जाता है। उनकी अपनी कोई मूर्ति नहीं होती है। दृश्यमान जगत् की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक दृश्य में उनकी निराकार सत्ता साकार बन-जाती है। पेड़-पौधों में वह पत्ते की तरह फैल जाते हैं और फूल की भाँति खिल उठते हैं। कवियों में कविता, गायकों में गायन, नर्तकों में नृत्य और मनुष्य में मनस्विता बनकर वह अपने ही द्वारा विस्तारित अपने ही विश्व में नाना रूप धारण करते हैं। सारा विश्व उनका शरीर है। इसलिए उनकी मूर्ति महान है। विश्वमूर्ति के रूप में विराजमान यह महामूर्ति अक्षय प्रकाश से देदीप्यमान होते हैं। इसलिए वह दीप्तमूर्ति हैं।

पर जो लोग एकांगी दृष्टिकोण से एक ही स्थान पर इस विराट् मूर्ति को देखना चाहते हैं, उनको निराश होना पड़ता है। वे अपने अज्ञान के कारण सर्वव्यापक सत्ता को अमूर्त, अगोचर और इसलिए अप्रसिद्ध मानते हैं। पर वास्तव में वह मूर्तिहीन होते हुए भी अनेकमूर्ति हैं। उनका आकार एक ही प्रकार का नहीं है, अनेक प्रकार का है। जिस रूप में हम उनका ध्यान करते हैं, वह उसी रूप में प्रकट होते हैं। भागवतकार अपने आराध्य को महाकाल के महान् संचालक के रूप में देखते हैं जिनके पैरों में पायल की कोमल ध्वनि भी मुखरित होती है और साथ-साथ प्रलय की भीकर ध्वनि भी। बालकृष्ण, योगी कृष्ण, प्रेमी कृष्ण और धर्म संस्थापक कर्मठ कृष्ण इसी अनेक मूर्ति के विभिन्न मूर्त रूप हैं।

उनकी सारी रचना मूर्त, साकार और सुव्यक्त होती है जबकि वह स्वयं अपनी रचना के पीछे अव्यक्त रहते हैं। शायद इस विराट् कृति के प्रणेता को अपने से बढ़कर अपनी कृति के प्रति अधिक आदर, प्रेम और आकर्षण है। इसीलिए

वह स्वयं अव्यक्त रहकर अपनी बृहती रचना को सुन्दर अभि-व्यंजना प्रदान करते हैं। वह तो मूल स्वर हैं और उनका विस्तार ही यह वर्गीकृत व्यंजन-व्यवस्था है। स्वर के विना व्यंजन सारस्वत गौरव को प्राप्त नहीं कर पाते। वही मूल स्वर सैंकड़ों वर्णों की सृष्टि करता है, सैंकड़ों मुखों में भिन्न-भिन्न प्रकार से मुखरित होता है। अव्यक्त सत्ता ही शतमूर्ति और शतानन बन कर सैंकड़ों क्या, हजारों, लाखों और करोड़ों रूप धारण करती है। विश्वात्मा की इस विराट् भाषा का विस्तार मूल विराट् के एक ही मूल स्वर की रसलीला है। अ-अ-इति।

—०—

३०. एक और अनेक

परमात्मा एक हैं और अनेक भी हैं। 'एकं' सद् विप्रा बहुधा वदंति'—परम सत्ता वास्तव में एक ही है, पर उसी अखंड चैतन्य की अजस्र धारा को उस धारा के रस के मर्मज्ञों ने कई प्रकार से देखा-परखा और जैसे देखा, वैसे दिखाने, समझाने और सराहने की चेष्टा की। किसी ने एक में अनेक का बीज देखा तो किसी ने अनेक में एक का विस्तार देखा। बीज के द्रष्टाओं ने 'एक' कहा और विस्तार के व्याख्याताओं ने 'अनेक' कहा। वास्तव में वह दोनों है। 'एक' और 'अनेक' का यही अभेद सहस्रनाम के अगले श्लोक में स्पष्ट किया जाता है :

> एको नैकः सवः कः किं यत् तत् पदमनुत्तमम्।
> लोकबंधुर्लोकनाथो माधवो भक्तवत्सलः ॥७८॥

आत्मा एक है, पर जीव अनेक हैं। प्राण एक है, पर प्राणी अनेक हैं। जीव-जगत् को एक ही सूत्र में बांधने वाली अजस्र जीवधारा समस्त जीवियों को जीवन तो देती है, पर स्वयं दिखाई नहीं देती। इसलिए माया के धागे से बंधे हुए जीव समझते हैं कि वे स्वतन्त्र हैं, अपने में पूर्ण हैं और सबसे अलग हैं। अलगाव की यही भावना संसार में अनेक की प्रतीति पैदा करती है जबकि सभी प्राणियों के भीतर संचरित मुख्य प्राण का अनुभव करने वाले प्राज्ञ उसी मूलधारा के साथ अपना

और सबका सम्बन्ध जोड़ देते हैं और यही लगाव एकता का आधार बनता है। आत्मा दिखाई नहीं देती है, पर शरीर दिखाई देता है। जो दिखाई देता है, उसके अनेक रूप हैं। जो नहीं दिखाई देता है, वह हर जगह विद्यमान है। एक ही रस तत्व कहीं पानी के रूप में दिखाई देता है, कहीं दूध के रूप में, कहीं कालकूट के रूप में और कहीं अमृत के रूप में। सब में एक ही रस तत्व है। इसी प्रकार एक ही मूल ध्वनि आकार से लेकर मकार तक के विभिन्न वर्णों में प्रकट होती है। नाभि कमल से हृदय और कंठ को पार करते हुए जो ध्वनि अबाध गति से अन्तरिक्ष में मुखरित होती है और अनंत आकाश में विलीन होती है, वही 'अ'-कार है, आदिम ध्वनि है, मूल नाद है जिससे सारी वर्णमाला का विकास होता है। वही आकार अवदात्त होकर (नीचे की ओर झुककर) इ-कार बन जाता है और उदात्त होकर (ऊपर की ओर उठकर) उ-कार बन जाता है। अ-इ के संयोग से ए बन जाता है और अ-उ के संयोग से ओ बन जाता है। अ-ए के संयोग से ऐ और अ-ओ के संयोग से औ बन जाते हैं। मूर्धा और दंतों से टकराकर यही ध्वनि ऋकार और लृकार बनती है। यही मूल ध्वनि कंठ को छूकर क वर्ग का निर्माण करती है, तालुओं को छूकर च वर्ग का सृजन करती है। इसी प्रकार ट वर्ग, त वर्ग और प वर्ग की ध्वनियाँ, अन्तस्थ और ऊष्म वर्ण भी निष्पन्न हो जाते हैं। यह सारा विस्तार अकार से ही हुआ है। इसी प्रकार परम पिता परमात्मा की आत्मकला ही अलग-अलग जीवात्माओं में प्रकट हो रही है। स्थूल रूप से समष्टिगत दृष्टिकोण से वह एक ही सिद्ध होते हैं।

अगला नाम 'सव' बहुत ही सार गर्भित है। 'सव' या

'सवन' का मतलब है—यज्ञ। अभीष्ट की सिद्धि के लिए यज्ञ किया जाता है। यज्ञ समस्त सम्पदा का प्रसवन करता है। इसलिए उसको 'सव' कहा जाता है। प्राणियों की प्राणशक्ति को नियंत्रित कर उनको सारी प्राकृतिक सम्पदा प्रदान करने वाले प्रत्यक्ष देवता सूर्य को भी इसी अर्थ में 'सविता' कहा जाता है। इसी सविता की उपासना गायत्री मन्त्र के द्वारा संध्या के समय की जाती है। इसलिए 'सव' शब्द एक से अनेक को प्रसूत करने वाले सूत्रधार परमात्मा का वाचक बन जाता है। सृष्टि के प्रारम्भ में केवल आत्मा विद्यमान थी और कुछ नहीं था। पर आत्मा अपने में परिपूर्ण है। परिपूर्ण आत्मा ने परम शून्य आकाश में पवन का संचार किया, पवन से पावक (अग्नि) का प्रादुर्भाव हुआ, पावक से पावन जल का प्रवाह प्रस्फुटित हुआ और इन चारों तत्वों (आकाश, वायु, अग्नि और जल) के लिए आधार भूमि—पृथ्वी—तैयार हो गई जिस में आकाश की आवाज़, हवा की पुलक, आग की झलक, पानी का स्वाद और मिट्टी की गन्ध सही अनुपात में शामिल हैं। इसी पांचभौतिक सम्मिश्रण से पार्थिव जगत् का विस्तार होता है और वसुधा में सुधा का प्रसवन होता है। इस प्रसवन के प्रणेता भगवान् विष्णु को यहाँ पर 'सव' की संज्ञा दी गई है।

अगले चार-पाँच नाम बिलकुल छोटे, पर दिल को खोलने वाले हैं। कः (कौन), किम् (क्या), यत् (जो) और तत् (वह) सामान्य सर्वनाम हैं जिनको परमात्मा के नामों में गिनाया गया है। वास्तव में संसार के सभी नाम सर्वात्मा के नाम हैं। सर्वनाम शब्द भी परमात्मा का वाचक है क्योंकि उन्हीं के नाम से सबको पहचाना जाता है, अभिहित किया जाता है।

सर्वनाम की व्याख्या करते हुए शब्दानुशासक पाणिनि कहते हैं—'सर्वादीनि सर्वनामानि।' सर्व आदि नाम सर्वनाम हैं। सहस्रनाम के आरम्भ में सर्व और शर्व भगवान् के नाम बताए जा चुके हैं। इसलिए सर्व शब्द और उससे प्रारम्भ होने वाले सभी सर्वनाम भगवान् के ही नाम हैं। पर यहाँ पर उनमें से कुछ सर्वनाम चुन लिए गए जिनमें भगवान् की भगवत्ता विशेष रूप से व्यंजित होती है।

कः (कौन) सारी जिज्ञासा का मूल है। नियमित गति से चलने वाले इस ज्योतिर्मय जगत् का संचालक कौन है ? कौन इस मिट्टी में उजाला भर रहा है ? कौन इस सूखी धरती को वर्षा की मर्यादित जलधारा से अपेक्षित मात्रा में सिंचित कर सस्यश्यामल शोभा से वसुधा का मन बहला रहा है ? किस के कहने पर सूर्य, चन्द्र और अग्नि का प्रकाश, प्राणियों को पर्याप्त मात्रा में पहुँच रहा है। किसके इशारे पर प्रकृति फलती-फूलती है ? इसी प्रकार के प्रश्नों से मनीषी मानव के अन्दर तत्व जिज्ञासा का उदय होता है। कौन ? कौन ? कौन ? लगातार इस प्रश्न को दोहराने से जिज्ञासुओं को कुछ तो समाधान मिला था और इसी को उन्होंने 'कस्मै देवाय हविषा विधेम।' आदि वैदिक ऋचाओं में व्यक्त किया है। वह चाहे कोई भी हो, पर कोई न कोई अवश्य है, इस बात में उनको सन्देह नहीं था। किसी मूल सत्ता के बिना यह सारा विस्तार सम्भव नहीं है। जहाँ वृक्ष है, वहाँ उसका बीज अवश्य होगा। जहाँ धुआँ है, वहां आग जरूर होगी। जहाँ प्राणी है, वहाँ प्राणों का संचालक अवश्य होगा। इसी विचारधारा ने परम सत्ता के अस्तित्व को अवश्यंभावी सिद्ध किया है। क-कार ब्रह्मवाचक माना जाता है। अ-कार आदिम ध्वनि है तो

क-कार स्पर्श ध्वनियों में पहली है। दोनों का उद्गम कंठ से होता है। पर पहली बिलकुल निर्लिप्त है, जबकि दूसरी—क—कंठ को छूकर बाहर निकलती है। क-कार के माध्यम से अकार तक पहुँचाया जा सकता है क्योंकि अकार के बिना ककार का अस्तित्व श्रुतिगोचर नहीं होता, सुनने में नहीं आता। अतः अकार रूपी विष्णु को समझने में और ककार में प्रकट ब्रह्मा को हृदयंगम करने में 'कः' (कौन) सहायक होता है।

इसके बाद 'किम्' (क्या) भी भगवान् का नाम बताया गया है। कः (कौन) में केवल जिज्ञासा है जबकि किम् (क्या) में सन्देह है, निश्चित रूप से जानने की निष्ठा है। किसी के बारे में सन्देह प्रकट करना अपने में बुरा नहीं है, बल्कि सन्देह के माध्यम से ही तत्व का निरूपण सम्भव होता है। पर आवश्यकता इस बात की है कि जिज्ञासु हमेशा शंका-समाधान के चक्र में ही फँसा न रहे। शंका का सत्वर समाधान कर उसे सही निष्कर्ष पर पहुँच जाना चाहिए। जीवन में किम् (क्या) का यही महत्व है। 'कौन' जिज्ञासा का द्वार खोल देता है और किम् (क्या) जिज्ञासु को सही रास्ते पर ठिकाने तक ले जाता है।

जिज्ञासा की इस यात्रा में मानव जहाँ से निकलता है, वहीं पहुँचता है। यह बात यत् और तत्-इन दो नामों में खुल जाती है। जो है सो है। जहाँ से है, वहीं पर है। यही यत् और तत् का भावार्थ है। वह (तत्) क्या है, यही तत्व जिज्ञासा है। इसका सीधा सादा जवाब है—वह वही है जो वहीं है। यही आध्यात्मिक साधना की पहेली है जिसको बूझने में साधक निरन्तर लगे रहते हैं। सारी जिज्ञासा का रहस्य जिज्ञासु के

भीतर ही छिपा हुआ है, पर अपनी आन्तरिक सुषमा से अनभिज्ञ प्राणी बाहर उसकी खोज कर रहा है। यत् का उत्तर 'तत्' है। जहाँ से जिस चीज़ का प्रसार हो रहा है, उसका मूल उद्गम भी वही और वहीं है। इसी सत्य का उद्घाटन करते हुए ईशावास्य उपनिषद् के उद्गाता कहते हैं—'योसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।' (अब पता चला कि मैं असल में वही हूँ जो यहाँ पर यह सब बनकर फैल चुका है।) तत्व जिज्ञासा का यही पर्यवसान है जिसको सहस्रनाम के ये चार सर्वनाम-कौन, क्या जो, सो—बहुत ही सरल शैली में प्रकट करते हैं।

शब्द के सहारे पद की सिद्धि होती है। शब्द तो ब्रह्म का प्रकट रूप है जिसके साथ प्रत्यय जोड़ने से पद बनता है। सभी शब्द पद की संज्ञा नहीं पा सकते। शब्द को पद बनाने के लिए प्रत्यय की आवश्यकता है। से, को, में, पर आदि प्रत्यय जोड़ने पर ही शब्द सार्थक बनता है। इसी प्रकार आत्म-प्रत्यय (आत्मज्ञान या आत्मानुभूति) के आधार पर ही जीवात्मा परमात्मा का साक्षात्कार कर पाता है। इस प्रकार जिस पद की प्राप्ति होती है, वही सबसे उत्कृष्ट पद है। उससे बढ़कर कोई पद नहीं हो सकता। अधिकार की लालसा से लौकिक जीवन में जिस पद-प्रतिष्ठा के लिए लोग जमीन आसमान एक करते रहते हैं, उसका महत्व केवल क्षणभंगुर है। भाग्य चक्र हमेशा घूमता रहता है। कभी कोई ऊपर चढ़ता है तो कभी कोई नीचे। पर आध्यात्मिक साधना के बल पर जिस परम पद की प्राप्ति होती है, वह अक्षय है, शाश्वत है, सर्व-श्रेष्ठ है, ध्रुव है और अनुत्तम है। इसलिए भगवान् को यहाँ 'अनुत्तम पद' कहा गया है।

इस प्रकार इस श्लोक के पहले आठ नाम, जो एक पूरे

पद या चरण भर देते हैं, सर्वनाम परमेश्वर की समर्थ पद विधि के प्रतीक हैं। वह एक हैं, और एक नहीं भी हैं, उन्हीं से सब कुछ बनता है। कौन, क्या, जो, सो—ये सब नाम उन्हीं के हैं और उन्हीं के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। उनकी पदवी संसार की समस्त सम्पत्ति से उत्तम है। यही इस पद-विधि का सार है।

अगली पंक्ति का पहला नाम है—लोक बन्धु। सभी लोकों को एक ही आलोक-सूत्र में बांधने वाले वात्सल्यमय परमात्मा सच्चे अर्थों में 'लोकबन्धु' हैं। सारा संसार उनका अपना है। सबके प्रति उनके मन में समान प्रेम है। न किसी से विशेष प्रेम है और न किसी से द्वेष। समदर्शी भगवान् संसार को अपने साथ ले चलते हैं। इसीलिए उनको 'लोकनाथ' कहा गया है। पर भगवान् के साथ चलने में किसी को क़ोई कठिनाई नहीं होती। उनका व्यवहार इतना मृदुल है कि शासन की कठोरता के लिए उसमें कोई गुंजाइश नहीं है। मधु (शहद) जैसी मधुर प्रकृति के होने के कारण उनको 'माधव' कहा गया है। अपने भक्तों को वह अपनी सन्तान के समान देखते हैं। इसलिए वह 'भक्तवत्सल' कहे जाते हैं। सन्त त्यागराज इसी वात्सल्य का हवाला देते हुए अपने आराध्य राम से कहते हैं—'बेटे की पुकार सुनकर माँ उसके पास जाती है या बेटा माँ के पीछे-पीछे दौड़ता है?' सन्त ने अपने स्वामी को इस सवाल का जवाब देने के लिए कितनी चतुराई से बाध्य किया है, यह भक्त वत्सल के भक्त ही जानते हैं।

सर्वांतर्यामी की सर्वांगसुन्दरता का सांगोपांग वर्णन सहस्रनाम के अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

सुवर्णवर्णो हेमांगो वरांगश्चंदनांगदी ।
वीरहा विषमः शून्यो घृताशीरचलश्चलः ॥७९॥

परमात्मा के रूप-लावण्य का यह वर्णन उनके वर्ण-निर्णय से होता है। वर्ण का सामान्य अर्थ है—रंग। कभी-कभी जाति के अर्थ में भी वर्ण शब्द का प्रयोग होता है। वैसे शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान दिया जाए तो जो वरणीय है, वह वर्ण बन जाता है। अनेक में से एक को चुनने के लिए जो आधार बनता है, उसे 'वर्ण' कहा जा सकता है। रंग, जाति और वरीयता के अलावा, वर्णमाला के वर्णों की ओर भी इसमें संकेत मिलता है। इन सभी अर्थों में परमात्मा को यहाँ 'सुवर्णवर्ण' कहा गया है। भगवान् का वर्ण सुवर्ण है, शोभनीय है। सुवर्ण का मतलब सोना भी है। परमात्मा को सुनहले रंग का बताना वैदिक परम्परा के अनुकूल है।' 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' के उद्गारों को प्रकट करने वाले मन्त्रों में इसी सुनहले रंग में निखर उठने वाले जगत्पति की ओर संकेत मिलता है—'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।' (समस्त सृष्टि के आरम्भ में संसार के स्वामी के रूप में एक स्वर्णिम व्यक्तित्व प्रकट हुआ था।) भगवान् की तरह भगवती भी सुनहले रंग की बताई गई हैं—'हिरण्य वर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजां।' श्रीदेवी का रंग सुनहला है और उनके गले में सोने और चाँदी के हार विराजमान हैं। पर इतिहास और पुराण परमात्मा के अवतारों को—राम, कृष्ण आदि को—दूसरे ढंग से प्रस्तुत करते हैं। राम और कृष्ण दोनों श्याम वर्ण के माने जाते हैं। पर सीता और राधा गोरी रूप माधुरी के साथ प्रस्तुत की गई हैं। असल में भगवान् का अपना कोई रंग नहीं है और अपना कोई रूप भी

नहीं है। भावुक भक्तों और द्रष्टा साधकों की भावना और कल्पना के अनुरूप भगवान् के रूप-रंग निष्पन्न होते हैं। जिसकी जैसी भावना होती है, उसको वह उसी रूप में दिखाई देते हैं। इसीलिए 'सुवर्ण वर्ण' नाम में वर्ण का निर्देश नहीं किया गया है। वर्णों में जो सबसे वरीय, वरणीय स्पृहणीय और शोभनीय हो—वही भगवान् का वर्ण है। यह सुनहला भी हो सकता है, रुपहला भी हो सकता है, श्यामल भी हो सकता है और पांडुर भी हो सकता है। पर है वह सु-वर्ण—सुन्दर वर्ण। सौन्दर्य की परिभाषा देना कठिन है। बाहर की छवि की अपेक्षा मन की रुचि पर यह अधिक निर्भर रहता है। इसके अलावा सुवर्ण केवल स्वर्णिम और सुन्दर छवि का ही द्योतक नहीं है, बल्कि सुभाषिता और सज्जनता (सुजनता) का भी बोधक है। जिस वर्ण या अक्षर या वाणी से भगवान् को पहचाना जा सकता है, वह वरणीय वर्ण है, मधुर से मधुर अक्षर है और परम रमणीय वाणी है। गायत्री, प्रणव, अकार आदि पवित्र वर्ण भगवान् की वरेण्यता का मननीय वर्णन करते हैं।

जैसा रंग, वैसा रूप। भगवान् का वर्ण सुवर्ण है, तो उनका अंग हेमाभ है, सुनहली शोभा से भरपूर है। गोस्वामी तुलसीदास अपने अभीष्ट देवता हनुमान् का वर्णन करते हुए उनको हेमशैलाभदेह, कनकभूधराकारशरीरा, आदि स्वर्णिम विशेषणों से विभूषित करते हैं। हनुमान् का विशालकाय रूप उनके लिए एक सोने के पहाड़ जैसा दिखाई देता है। जब भगवान् का भक्त ही इतना सुनहला है तो भगवान् और कितने चमकदार होंगे। वह तो साक्षात् स्वर्ण के ही साकार रूप होंगे। इसलिए उनको यहाँ पर 'हेमांग' कहा गया है। तपे हुए सोने के समान तपने वाले सूर्य को भी सुवर्ण सदृश, स्वर्णरेता,

हिरण्यगर्भ आदि कहा जाता है। भगवान् का वर्ण भी आदित्य का सा वर्ण है और उनके रूप का आभास भी प्रत्यक्ष देवता भगवान् भास्कर के प्रभाभास्वर रूप में पाया जा सकता है। इसीलिए श्रुति कहती है—'आदित्यवर्णः तमसः परस्तात्,'। संसार के समस्त अन्धकार को पार करने के बाद जो स्वर्णिम, हेमाभ और स्वयंप्रभ प्रकाश-पुंज दिखाई देता है, वही परमात्मा का प्रकाशात्मक रूप है।

अगले नाम में भगवान् को संक्षेप में 'वरांग' कहा गया है। भगवान् के अंग वरणीय, रमणीय और श्रेष्ठ हैं। सुन्दर व्यक्तियों के अंग प्रायः सुन्दर ही होते हैं, पर वरणीय बहुत कम व्यक्तियों के होते हैं। अंगों का वास्तविक प्रयोजन जो लोग पूरा कर लेते हैं, उन्हीं के अंग वरणीय माने जा सकते हैं। भगवान् ने सबको सभी अंग प्रदान किए हैं—केवल कुछ अभागे व्यक्तियों को छोड़कर। लेकिन प्राकृतिक वरदान के रूप में प्राप्त अंगों का पूरा-पूरा और सही-सही उपयोग बहुत कम लोग कर पाते हैं। इसी असमर्थता की ओर संकेत करते हुए गोस्वामी कहते हैं—'दीन सब अंग हीन छीन मलीन अघो अघाइ'।' अंगों के संचालन से मन सक्रिय बनता है। मन की पवित्रता और उर्वरता अंगों के सौष्ठव तथा सौंदर्य में प्रतिबिंबित होती है। विशुद्ध अंगों के सार्थक उपयोग से मन पावन बन जाता है और मन की पावनता आत्मा के साक्षात्कार में योग देती है। इस प्रकार अंगों का सम्बन्ध बाहरी सुखों के उपभोग से उतना नहीं है, जितना कि मन, बुद्धि, आत्मा और आन्तरिक उन्नयन से है। इसी प्रकार के अंग 'वरांग' कहलाने योग्य हैं और इसी अर्थ में भगवान् को यहाँ 'वरांग' कहा गया है।

भगवान् के अंग चन्दन की सुगन्ध से महक उठते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि वह अपने सभी अंगों में चन्दन लगा लगाकर अपने को खुशबूदार बना लेते हैं। उनके लिए चन्दन लगाने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनके अंग स्वयं चन्दन के खंड हैं। विशेषकर उनकी भुजाओं में से चन्दन की इतनी सुगन्ध आती है कि देखने वालों को लगता है कि उन्होंने चन्दन के भुजबंध (केयूर) पहन लिए हैं। उनकी बाहों से निकलने वाली चन्दन की गन्ध से सारा संसार महक उठता है। न मालूम, ब्रज की भोली भाली छोरियों ने कितना अच्छा कर्म किया था—उन बाँहों की खुशबू को अपने में भर-भर कर पुलकित हो उठतीं। इसी प्रकार का भाग्य हनुमान् ने भी पाया था जब सीता जी का कुशल समाचार सुनाने पर मर्यादा पुरुषोत्तम राम उनको हार्दिक परिरम्भ से पुरस्कृत करते हैं। भगवान् की बाँहों में वीर, वात्सल्य और श्रृंगार की सुगन्ध निकलती है। वीरों का सम्मान, शत्रुओं का संहार, भक्तों पर अनुग्रह, मित्रों पर स्नेह, प्रेमियों पर प्रणय की प्राण धारा बरसाने वाले भगवान् को 'चन्दनांगदी' कहकर इस नाम में उनकी सहज सात्विक सुवासना को उद्भासित किया गया है।

अगला नाम 'वीरहा' इसी विचार धारा को आगे बढ़ाता है। भगवान् की बाँहों में अंगद (भुजबंध) की सुगन्ध ही नहीं, अस्त्र शस्त्रों का अप्रतिम पराक्रम भी है जिसके सामने कोई भी शत्रु टिक नहीं सकता। लोकरावण रावण, जो वज्रपात, अशनिपात जैसे भयंकर उत्पातों से तनिक भी विचलित नहीं हुआ, राम-बाण के लगते ही चंचल हो जाता है और उसके हाथ से धनुष खिसक जाता है। महाभारत के युद्ध में अर्जुन के

सारथी के रूप में भी भगवान् कृष्ण अपने लोकोत्तर पराक्रम का परिचय देते हैं जिसकी प्रशंसा करते-करते महारथी भीष्म अपनी अन्तिम घड़ियों में आराम और आनन्द का अनुभव करते हैं। 'वीरहा' शब्द का सम्बन्ध वाणी से भी हो सकता है। 'ईर' का मतलब है—बात। विशिष्ट या विपरीत बात वीर की संज्ञा पाती है। विपरीत या उल्टी बात को समीचीन या सीधी करने वाले वाक्पति के रूप में प्रभु को 'वीरहा' कहा गया है। वाणी के समस्त दोषों का निवारण करने पर ही भक्त भगवान् की स्तुति का पात्र बनता है। वाणी की विषमता मन की विमुखता का द्योतक है। मन, कर्म और वाणी में वाणी ही संधान का काम करती है। स्पष्ट और स्वच्छ वाणी मन को निर्मल और आचरण को विशुद्ध बनाती है। इसलिए परमात्मा को 'वीरहा' और 'सुवीर' कहा गया है। 'सुवीर' नाम पहले आ चुका है।

अगला नाम है—'विषम'। भगवान् की बराबरी करने वाला कोई नहीं है। विश्वरूप का दर्शन करते हुए अर्जुन कहते हैं—'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतो न्यो' (प्रभो, तीन लोकों में आपकी बराबरी कोई नहीं कर सकता और आपसे बढ़कर किसी का होना बिलकुल असम्भव है।) इसीलिए भगवान् को 'विषम' (असमान) कहा गया है। 'विषम' का मतलब विपरीत, प्रतिकूल, प्रचन्ड आदि भी होता है। दुष्ट शक्तियों और दुर्जेय शत्रुओं के साथ लड़ने में भगवान् विषम भी बन जाते हैं। इतिहास और पुराण इस प्रकार के आख्यानों से भरे पड़े हैं। भगवान् 'सम' के लिए 'सम' हैं और विषम के लिए 'विषम'। सहस्रनाम में 'सम' और 'विषम' दोनों भगवान् के नाम गिनाए गए।

अगला नाम है—'शून्य'। 'पूर्णः, पूरयिता, पुण्यः' की शृंखला में भगवान् को पूर्ण कहा गया और यहां पर उसके बिलकुल विपरीत उनको 'शून्य' कहा जा रहा है। स्थूल दृष्टि से देखने पर शून्य और पूर्ण में परस्पर विरोध दिखाई देता है। पर वास्तव में तात्विक दृष्टि से देखने पर दोनों में कोई अन्तर नहीं होता। जहाँ सब कुछ समाप्त होता है, वहाँ शून्य है और जहाँ सब कुछ सम्पन्न है, वहीं पूर्ण है। पर समापन और सम्पन्नता एक दूसरे के पूरक हैं। शून्य और पूर्ण संसार के सुदर्शन चक्र में एक ही बिंदु पर निवास करते हैं। शून्य तक जाकर ही पूर्णता को प्राप्त किया जा सकता है। गणित शास्त्र में भी शून्यता का कोई निश्चित अर्थ नहीं होता। १, २, ३ की तरह वह कोई संख्या सूचक अंक नहीं है। एक प्रकार से संख्या जब सार्थकता खो देती है और अपने अस्तित्व को वापस ले लेती है, तभी शून्य की संज्ञा का उदय होता है। शून्य की विशेषता यह है कि उसको कितनी भी बड़ी संख्या से गुणा कर दें, वह शून्य ही रह जाता है। इसका मतलब है कि गुणन या विभाजन का उस पर कोई असर नहीं पड़ता। यही लक्षण अनन्त (इनफिनिटी) का भी है। इसलिए शून्य (ज़ीरो) और अनन्त या पूर्ण में कोई अन्तर नहीं है। दोनों परमात्मा की अपरिमेयता के परिचायक हैं। उनको कोई न गिन सकता है, न माप सकता है।

वह 'घृताशी' हैं। उनके आशय घी की तरह पिघल जाते हैं। उनका हृदय भक्त हृदय की पुकार सुनकर पिघल जाता है जैसे आग को देखकर मक्खन। नवनीतहृदय नारायण की दयार्द्रता को यह नाम बड़ी ध्वन्यात्मक शैली में प्रकट करता है। दूध सबसे मौलिक और प्रारम्भिक वस्तु है। दूध से दही

बनता है। दही से मक्खन निकलता है और मक्खन से घी बनता है। दूध जीव जन्तुओं का सार है और घी उसी सार का सार है। भगवान् के विचार और आशय इसी घी की तरह संसार के सार का सार हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। हवन में घी की आहुति इसीलिए दी जाती है। घी डालते ही अग्निदेव आनन्द से उछल पड़ते हैं। भगवान् के आशय रूपी घी से भी इसी प्रकार मानव की आत्मा प्रज्वलित होती है। प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर सुलगने वाली इस आग को भगवत्सम्बन्धी विचार, ध्यान, मनन आदि बाहर प्रकट कर देते हैं।

अगले दो नाम अचल और चल एक दूसरे के विरोधी हैं। भगवान् अचल और चल दोनों हैं। 'अचल' इसलिए कि वह पहाड़ की तरह स्थिर, स्थावर और सुदृढ़ हैं। वह अपनी बात पर अड़े रहते हैं। अपनी प्रतिज्ञा के वह पक्के हैं। ये सब लक्षण उनको 'अचल' सिद्ध करते हैं। इसके साथ ही वह हर जगह चलते हैं, हर प्राणी में विराजमान होते हैं, हर व्यक्ति के योग-क्षेम का ख्याल रखते हैं और एक जगह रहते हुए भी सभी जगह अपने ध्यान को प्रसारित करते हैं। इसलिए वह 'चल' हैं। 'तदेजति तन्नैजति'—वह चलता भी है और नहीं भी चलता है। वह पहाड़ भी हैं और बहार भी हैं।

—०—

३१. अमानी मानद और मान्य

संसार के स्वामी सबसे अधिक बुद्धिमान हैं। पर वह अपनी बुद्धिमत्ता का प्रचार नहीं चाहते, प्रसार चाहते हैं। लोगों को बुद्धिमत्ता प्रदान करने में ही उनकी बुद्धिमत्ता का निरंतर नियोजन होता है। इसी निरीह, निर्लिप्त और निराडंबर बुद्धि-मत्ता का वर्णन सहस्रनाम के अगले श्लोक में प्रस्तुत है :—

अमानी मानदो मान्यो लोकस्वामी त्रिलोकधृक्।
सुमेधा मेधजो धन्यः सत्यमेधा धराधरः ॥८०॥

सबकी वस्तुस्थिति को जानने वाले सर्वेश्वर अवास्तविक वस्तुओं पर अनावश्यक अभिमान नहीं रखते हैं। वह सर्वात्मा हैं, इसलिए केवल आत्मा को मानते हैं। आत्मा से भिन्न सारी संपदा उनके लिए मान्य नहीं है। शरीरधारियों का अभिमान प्रायः अपनी शारीरिक क्षमता, सौंदर्य और बौद्धिक उपलब्धियों पर आधारित होता है, जबकि आध्यात्मिक दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्व नहीं होता। इसलिए आत्मज्ञानी को न अपने शरीर का अभिमान होता है और न अपनी मेधा का। आत्मा ही उसका सर्वस्व है। इसी दृष्टि से परमात्मा को 'अमानी' कहा गया है।

वह अपने को अधिक नहीं मानते हैं, पर दूसरों को उनकी योग्यता के अनुसार जो मान्यता मिलनी है, उसे अवश्य देते हैं। स्वयं सम्मान से दूर रहना और दूसरों को यथोचित सम्मान

देना महापुरुषों का लक्षण है। इसके विपरीत अपने को महान् और दूसरों को अकिंचन समझना आत्मघाती व्यक्तियों का लक्षण है। अभिमान का परदा इतना मोटा होता है कि मिथ्याभिमानी व्यक्ति वास्तविकता को देख नहीं पाता। यही आवरण माया है जो कि प्रभु की ही रचना है। जिन पर उनकी कृपा होती है, उनको यह मिथ्याभिमान परेशान नहीं कर पाता। अभिमान या मान को माया के महानियंत्रक अपने इष्ट भक्तों को इस निरर्थक माया जाल से दूर रखते हैं और अहम्मन्य व्यक्तियों को इसी में फंसाकर नचाते हैं। इसलिए माया के स्वामी को 'मानद' कहा गया है। 'दा' धातु से दो अर्थ निकलते हैं—देना और तोड़ना। मानद परमात्मा किसी को सम्मान के सम्मोहन में फंसाते हैं और किसी को उससे छुटकारा देते हैं। पर विडंबना यह है कि साँसारिक मान सम्मान पानेवाला व्यक्ति इसी मोहमयी माया में पड़कर अपने को भगवान् का वरद पुत्र और अपनी उपलब्धि को भगवान् का वरदान समझने लगता है जबकि वास्तविकता बिलकुल इसके विपरीत है। लौकिक सम्मान की भावना जितनी मादक है, उतनी ही सारहीन है। अगर सम्मानित व्यक्ति में संतुलन नहीं है तो वह अपने को सर्वज्ञ मानकर सन्मार्ग से भटक भी सकता है। इसीलिए तपस्या के तत्वज्ञों ने तत्व जिज्ञासुओं को सतर्क करते हुए कहा, 'तपः क्षरति विस्मयात्' (अपनी उपलब्धि को अधिक महत्वपूर्ण समझने से तपस्या क्षीण हो जाती है)।

जो अपने को अकिंचन मानकर दूसरों का यथोचित सम्मान करता है, संसार प्रायः उसी को माननीय और सम्माननीय मानता है। यही बात भगवान् के अगले नाम 'मान्य' से स्पष्ट होती है। परमात्मा सबके लिए मान्य हैं क्योंकि वह सबको

मानते हैं, सबकी योग्यता को पहचानते हैं और सबको उनकी योग्यता के अनुसार सम्मान प्रदान करते हैं।

यही आदर्श परमात्मा को 'लोकस्वामी' बनाता है। सारा संसार उनका स्वत्व है। तीनों लोक उन्हीं के स्वामित्व को मानकर चलते हैं। वह लौकिक जीवन लीला के संचालक हैं। उन्हीं के इशारे पर संसार के सभी व्यापार चलते हैं। आकाश का आलोक, पवन का संचार, आग का ताप, पानी का प्रवाह, मिट्टी की उर्वरता, भूगोल और खगोल की पारस्परिक सद्भावना वाणी का वरदान, मन की मनीषा और आत्मा का विस्तार उसी जगदीश्वर के शिव संकल्प के परिणाम हैं। समस्त लोकों पर उनका अधिकार है क्योंकि वही इनका धारण करते हैं। वह 'त्रिलोकधृक्' (तीनों लोकों के धर्ता) हैं।

तीनों लोकों का शासन लोकनाथ की लोकोत्तर मेधा शक्ति के बल पर ही चल रहा है। इसीलिए उनको 'सुमेधा' कहा गया है। मेधा या प्रज्ञा का उपयोग जब जनकल्याण के लिए होता है और उसका लाभ समस्त मानव-जाति को मिलता है तब वह लोकमान्य और मंगलमय बनती है। भगवान् की प्रज्ञा या मेधा इसी प्रकार की हैं। वह न केवल मेधावी का मनोमालिन्य दूर करती है, बल्कि मेधावी के संपर्क में आने वाले मेदस्वी मंद बुद्धियों को भी अपनी विकिरणशील मेधा से प्रभावित करती है। इसका मतलब है कि भगवान् की मेधा केवल उन्हीं को शोभा प्रदान करने वाली नहीं है, बल्कि लोक मंगल की साधना में उसका व्यवस्थित योगदान है। इसी मेधा या धी शक्ति की कामना साधक प्रतिदिन संध्या के समय करता है। 'धियो यो नः प्रचोदयात्' (हमें अपनी धी शक्ति या मेधा से आगे ले चलो)—इस निवेदन के पीछे सुमेधा परमात्मा की

अमोघ मेधा शक्ति का ही रहस्य छिपा हुआ है जो हमें प्रतिदिन सुबह शाम अनायास प्राप्त होता है। केवल मन का दरवाज़ा खुला रखना चाहिए। घर पर माल पहुंचाने का दायित्व मालिक ने अपने ऊपर ले रखा है।

यह मेधा कहां से और कैसे प्राप्त होती है, इस बात का स्पष्टीकरण अगला नाम 'मेधज' करता है। 'मेध' का मतलब है—यज्ञ। यज्ञ से उत्पन्न होनेवाला तत्व मेधज है। अश्वमेध जैसे यज्ञों से जो लौकिक या पारलौकिक फल प्राप्त होता है, वही परमात्मा का साक्षात्कार है। 'वेदाश्च क्रतवश्चैव क्रतूनां फलमेव च' (वेद, यज्ञ और यज्ञों का फल) वही परमात्मा हैं जो प्रत्यक्ष रूप से भगवान् भास्कर में प्रतिभासित होते हैं। मेध से मिलने वाली मेधा का मंगलमय रूप परमात्मा का स्वरूप है। मेधा या प्रज्ञा के बलपर ही मेध या यज्ञ का आचरण सम्पन्न किया जाता है और यह मेधा भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होती है। यह बहुत ही आश्चर्यजनक चक्र है। मेधा (प्रज्ञा) के बल पर मेध (यज्ञ) का आचरण संभव होता है और मेध के द्वारा फिर मेधा की वृद्धि होती है। इस विचित्र मेधालय के प्रवर्तक हैं—सुमेधा और मेधज परमात्मा।

'धन्य' हैं वह परम पिता परमात्मा जो अपने आराधकों को सत्कर्म के आचरण के लिए आवश्यक बौद्धिक संपत्ति भी प्रदान करते हैं और आचरण के द्वारा पहले से प्राप्त बुद्धिमत्ता को और अधिक समृद्ध भी बनाते हैं। इस प्रकार पल-पल पर बढ़ने वाली पारलौकिक संपदा का अक्षय कोश कुछ चुने हुए धन्य जीवियों को ही मिलता है जो अपनी धन्यता में परमात्मा की ही धन्यता का दर्शन करते हैं। इस प्रकार परमात्मा स्वयं धन्य

होकर दूसरों को भी धन्य बनाते हैं। इसीलिए स्वनामधन्य प्रभु सबके धन्यवाद के पात्र भी बनते हैं।

भगवान् 'सत्यमेधा' हैं। उनकी कृपा मेधा या प्रज्ञा सत्य पर आधारित है। वह सच्ची और मौलिक है। संसार के सभी मेधावियों की मेधा परमात्मा की मेधा की ही प्रतिच्छवि है। असली मेधा उन्हीं की है। जैसे चंद्रमा को प्रकाश सूर्य से मिलता है और सूर्य को बृहत् सूर्य से और बृहत् सूर्य को प्रकाशात्मा विष्णु से, उसी प्रकार विभिन्न मेधावियों को सोचने-विचारने की शक्ति महामेधा, सुमेधा या सत्यमेधा परमात्मा से ही मिलती है। मानव को मनस्विता प्रदान करने वाली चीज़ यही मेधा है जिसको निकालने से उसमें केवल मेदस् (वसा) रह जाती है जो कि दूसरे जानवरों में भी पाई जाती है। बिना मेधा की मेदोराशि मेदिनी का भार मात्र है। जो क्षणभंगुर शारीरिक सौंदर्य को देखकर अंदर ही अंदर फूले नहीं समाते हैं, उनको यह समझना चाहिए कि मेधा या सोच-विचार की क्षमता के बिना इस 'अस्थिचर्ममय देह' का कोई महत्व नहीं है।

इसी मेधा शक्ति के आधार पर सारा संसार खड़ा है। सच्ची, अच्छी और सबको लाभ पहुँचाने वाली अखंड मेधा के बल पर मेधावी प्रभु धरती को धारण करते हैं, 'धराधर' बन जाते हैं।

धरती का धारण करना धराधर का धर्म है। यह धर्म उनको करुणामय बनाता है। बिना मांगे वह संसार को प्रकाश और तेज प्रदान करते हैं और विभिन्न साधनों से संसार को नियंत्रित करते हैं। धर्मात्मा की यही वदान्यता (निर्हेतुक कृपा) अगले श्लोक में स्पष्ट की जाती है।

तेजोवृषो द्युतिधरः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
प्रग्रहो निग्रहो व्यग्रो नैकशृंगो गदाग्रजः ।। ८१ ।।

भगवान् भास्कर के प्रकट होते ही सारी रात का अंधेरा पलभर में विलीन हो जाता है और प्रकाश की सुनहली रूपहली और रंग विरंगी किरणें दुनियां के कोने-कोने में फैल जाती हैं। ऐसा लगता है कि प्रकाश की भूखी धरती पर किरणों की वर्षा हो रही है। धरती को ही नहीं, बल्कि ज्योतिर्मय जगत् के अन्य ग्रहों, उपग्रहों और नक्षत्रों को भी यही प्रकाश वर्षा सरस बनाती है। इस प्रकार सारे संसार को प्रकाश से सरसाने वाले स्वामी 'तेजोवृष' हैं। सूर्य की किरणों में प्रकाश और प्रताप दोनों हैं। प्रकाश में परमात्मा का रूप दिखाई देता है और प्रताप में हृदय पिघल कर रसमय बन जाता है। वह प्रकाशात्मा और प्रतापन दोनों हैं, पर दोनों को वह संतुलित मात्रा में संसार में प्रसारित करते हैं।

प्रकाश और प्रताप का मूल स्रोत परमात्मा की 'द्युति' है जिसे वह अपने अंदर संचित कर रख लेते हैं। आवश्यकतानुसार वह इस 'द्युति' (कांति) का वितरण करते हैं। संसार में सभी वस्तुओं में और सभी व्यक्तियों में द्युति या कांति की मात्रा एक जैसी नहीं होती। किसी में कम है तो किसी में अधिक। किसी में एक प्रकार की द्युति है तो किसी में दूसरे प्रकार की। किसी को वाणी का वरदान मिला है तो किसी को अलौकिक मेधा। किसी को पत्थर को पिघलाने वाली गान माधुरी मिली है तो किसी को चांद पर जा बसनेवाला अदम्य साहस। पर यह सारी विभूति परमात्मा की अनंत द्युति का ही रूपांतर है जिसके कर्ता धर्ता और हर्ता वही द्युतिधर हैं।

परमात्मा संतों के प्रति जितने दयालु होते हैं, दुष्टों के प्रति

उतने कठोर बनते हैं। आवश्यक होने पर वह शस्त्र धारण भी कर लेते हैं, बल्कि शस्त्र धारण करने वाले जितने भी शूरवीर हैं, उन सबके वह सिरमौर हैं। इसीलिए उनको सर्वश्रेष्ठ शस्त्र-धारी कहा गया है। वह प्रकाश और प्रताप दोनों के प्रयोक्ता हैं।

जैसे घोड़ों को काबू में रखने के लिए रथ का सारथी रस्सी या चाबुक का प्रयोग करता है, वैसे ही परमात्मा जीवात्माओं को सही रास्ते पर ले जाने के लिए प्रग्रह या रस्सी से भी काम लेते हैं। वह दंडपाणि भी हैं और कोदंडपाणि भी।

पर स्वभाव से वह शार्ङ्गपाणि हैं। संयम, साधुता और सौजन्य से वह अपने भक्तों को सही रास्ते पर लाने का प्रयास करते हैं। दुनियां लाख बुरी होती है, पर परमात्मा सब कुछ माफ करता है। शिशुपाल के अनेक अपराधों को परमात्मा ने बड़ी सहिष्णुता से माफ़ किया था। पर 'निग्रह' जब विफल हो जाता है तभी वह लाचार होकर—'व्यग्र' होकर—'प्रग्रह' का प्रयोग करते हैं।

जब वह 'व्यग्र' या व्याकुल हो जाते हैं तो वह अनेक सींगों से अपने शिकार को सीधा करने का प्रयास करते हैं और गदा की नोक पर उनको खड़ा करने में भी संकोच नहीं करते। वास्तव में परमात्मा का ध्यान प्रायः तभी आता है जब नाना प्रकार की विपदाएं मनुष्य को घेर लेती हैं और तलवार की धार पर उसको चलना पड़ता है। 'नैकशृंग' और 'गदाग्रज' ये दोनों नाम परमात्मा की व्यग्रता के भी सूचक हैं और उनके अक्षरमय अस्तित्व के भी। नैकशृंग का नाम सुनते ही तैत्तिरीय आरण्यक का एक प्रसिद्ध वर्णन याद आता है जिसमें संसार के स्वामी को एक महान् वृषभ या बैल के रूप में चित्रित

किया गया है जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं और सात हाथ हैं और जो तीन जगह से बंधा हमेशा आवाज करते हुए हर आदमी के अंदर बसा हुआ है। यह परमात्मा का बहुत ही भव्य और भावपूर्ण वर्णन है जिसकी व्याख्या करते हुए पतंजलि अपने महाभाष्य में इसी वृषभ को शब्द ब्रह्म का प्रतीक मानते हैं। नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इस शब्द रूपी वृषभ के चार सींग हैं। अतीत, वर्तमान और भविष्य इसके तीन पैर हैं। नित्य और नैमित्तिक रूप इसके दो सिर हैं और सातों विभक्तियाँ सात हाथ हैं। नाभि, हृदय और कंठ में यह बंधा हुआ है और हर प्राणी में यह शब्द रूपी वृषभ निवास करता है।

इस परिप्रेक्ष्य में परमात्मा को 'नैकशृंग' मानने से अगले नाम 'गदाग्रज' का भी इसी प्रकार का अर्थ बनता है। गदित या निगदित का मतलब होता है—कही हुई बात। हमारे मुंह से जो भी आवाज़ निकलती है, उसकी नोक पर भगवान् बैठे हुए हैं। कितनी मार्मिक भावना है। परमात्मा को लोग कई स्थानों पर खोजते हैं—घने जंगलों में, पहाड़ की चोटियों पर, समुद्र के गर्भ में और अंतरिक्ष की लहरों में। पर वह हमारी बोली में भोली भाली सूरत लिए बैठे हैं। वह तो अक्षर हैं, प्रकाश का प्रसार करने वाला प्रभाभास्वर, चिरपरिचित और सर्वत्र प्रचलित परम साधारण अक्षर। अक्षर की पहचान में अक्षय भंडार है।

'नैकशृंग' और 'गदाग्रज' में भगवान् का जो चतुर्मुखी रूप प्रकट होता है, उसका विस्तार अगले श्लोक में पाया जाता है—

चतुर्मूर्तिश्चतुर्बाहुश्चतुर्व्यूहश्चतुर्गतिः।
चतुरात्मा चतुर्भावश्चतुर्वेदविदेक पात्॥ ८२॥

अक्षर रूपी परब्रह्म का कोई निश्चित आकार नहीं है। अक्षर भारती के आराधकों की रूप कल्पना के अनुसार निराकार ब्रह्म साकार बनता है।

वैदिक मंत्रों के द्रष्टाओं ने अपनी वाणी के माध्यम से ही वाणी के विधाता की रूप कल्पना की है। यह काल्पनिक मूर्ति उनके लिए मूर्त जगत् की आकृतियों से भी अधिक प्रत्यक्ष और वास्तविक प्रतीत होती है। इसी दर्शन ने परमात्मा को चार प्रकार की मूर्तियों में प्रस्तुत किया है—विराट् पुरुष, सूत्र पुरुष, अव्याकृत पुरुष और तुरीय पुरुष। विश्व ही विश्वात्मा का मूर्त रूप है जो उनका विराट् रूप हमारे सामने रखता है। सभी प्राणियों को प्राणों के सूत्र में गूंथनेवाले सूत्रधार के रूप में भी सूत्रात्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। शरीरधारियों में अशरीरी आत्मा के रूप में परमात्मा का निवास निर्विवाद है, पर वह किस रूप में और किस भाग में है, यह कहना कठिन है। जब शरीर को छोड़कर प्राण निकल जाते हैं, तब वास्तव में कौन-सी चीज़ कहां से कहां गायब हो गई है, इसका पता लगाना कठिन है। इसका कारण यह है कि शरीर के अंदर शरीर को बसाते हुए निवास करने वाला निर्विकल्प आत्म तत्व पार्थिव विश्लेषण या व्याकरणात्मक विवेचन के अंतर्गत पकड़ में नहीं आता है। यही परमात्मा का अव्याकृत रूप है। चौथा और अंतिम रूप है—तुरीय जो कि ध्यान योगियों की समाधिदशा में अतिमानस या अंतर्मानस में अनुभव में आता है। इस प्रकार विराट्, सूत्र, अव्याकृत और तुरीय आकृतियां भगवान् की चार मूर्तियां हैं। ये केवल मन की भावना पर निर्भर हैं। जब हम आंखें बंद कर परमात्मा के ध्यान में मन को लीन बनाकर बैठते हैं तो बाहर का प्रकाश बंद होता है और भीतर

का द्वार खुल जाता है। पहले केवल अंधकार ही अंधकार सामने दिखाई देता है। उसका न कोई रूप होता है, न रंग। पर धीरे-धीरे सफेद, लाल, पीली और नीली (काली) मूर्तियां सामने प्रकट होने लगती हैं। यही काल्पनिक रेखा-चित्र हृदय के अंतस्थल में आसीन परमात्मा की चतुर्मुखी शोभा के आभास की तरंगें हैं। उन्हीं की ओर संकेत करते हुए परमात्मा को यहाँ पर 'चतुर्मूर्ति' कहा गया है।

अगला नाम है—'चतुर्बाहु'। भगवान् विष्णु को प्रायः चार भुजाओं के देवता के रूप में चित्रितकिया जाता है। शंख, चक्र, गदा और पद्म उनकी चार भुजाओं को अलंकृत और सुसज्जित करते हैं। शंख में शब्द, गदा में स्पर्श, चक्र में रूप और पद्म में रस और गंध का निवास होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के विस्तार के साथ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को चरितार्थ करने वाली ये चार भुजाएं भगवान् के प्रेम, पराक्रम और प्रभाव को प्रकट करती हैं। भगवान् को सगुण, साकार और सरल रूप में देखने के इच्छुक साधकों ने चतुर्भुज की यह रूप कल्पना कर ली जबकि निर्गुण आराधना के कबीर जैसे संतों ने 'चारि भुजा के भजन' की दशा को पार कर उस निराकार, निरंजन और निरुपाधिक सत्ता की भावना का स्मरण किया है, जिसकी भुजाएं अनंत हैं। दोनों अपनी अपनी धारणा के अनुसार ठीक हैं।

वैष्णव संप्रदाय में भगवान् के चार व्यूह माने गए हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के नाम से ये चार व्यूह जाने जाते हैं। भक्तों की रक्षा के लिए भगवान् ने ये चार व्यूह बना लिए हैं। इसीलिए उनको 'चतुर्व्यूह' कहा गया है।

जैसा व्यूह, वैसी गति होती है। इन चारों व्यूहों के माध्यम से भगवान् की ओर पहुंचना होता है। उनके सान्निध्य या साक्षात्कार को प्राप्त करने के लिए इन चारों व्यूहों को समझ कर सही दिशा में जाना पड़ता है। ये चारों मार्ग मानव मात्र को प्रतिक्षण खुले मिलते हैं—चाहे वह दिन भर अपने नियत कार्य करने में लगा हुआ हो या आराम से लेटा हुआ हो या मीठे मीठे सपने देख रहा हो या संसार की सुध-बुध खोकर गहरी नींद का सुख ले रहा हो। जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय नाम की चारों अवस्थाओं में वह भगवान् का साक्षात्कार कर सकता है। सभी दशाओं में भगवान् हमारे साथ ही रहते हैं—कभी घुमाते हैं, कभी सुलाते हैं, कभी मन बहलाते हैं, कभी भुलावा देकर कहीं कहीं ले जाते हैं, पर हैं वह हमेशा हर घड़ी हमारे साथ ही।

यही भगवान् की चतुराई है। इन चारों अवस्थाओं में परमात्मा जीवात्मा के साथ ही रहते हैं। मांडूक्य उपनिषद् में आत्मा का यह चतुर्मुखी रूप विस्तार से वर्णित है। सूत्र शैली में यह उपनिषद् कहती है—'सर्वं ह्येतद् ब्रह्मा, अयमात्मा ब्रह्मा सोयमात्मा चतुष्पात्'—यह सारा संसार ब्रह्म का विस्तार है, यह आत्मा भी वही ब्रह्म है और चार पादों में फैली हुई है। इन्हीं चार पादों की व्याख्या आत्मा की आत्मकथा है जिससे सारी उपनिषद् भरी पड़ी है। जागृति, स्वप्न, सुषुप्त और तुरीय दशाओं में परमात्मा क्रमशः वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ और प्रज्ञान के रूप में प्रकट होते हैं। आत्मा की प्रज्ञा जागरण के समय बाहर की तरफ खुली रहती है और वही स्वप्नावस्था में अंतर्मुख हो जाती है। सुषुप्ति में आत्मा की अनुभूति अंतर्लीन हो जाती है और तुरीय अवस्था में आत्मा आनंद में लीन हो

जाती है। परमात्मा का यह चतुर्मुख रूप प्रत्येक प्राणी प्रतिदिन अनुभव करता है। फिर भी उसका ध्यान उसकी गहराई में नहीं जाता। जब जाता है तब पता चलता है कि यह सारा संसार उसी अद्वैत शिव तत्व का चतुरंग है (शतरंज है)। इस खेल में हार जीत नाम की कोई चीज़ नहीं है। सब खेल है, लीला है। लीलाधाम के इस रहस्य का उद्घाटन जिस क्षण होता है, उसी समय जीवात्मा परमात्मा के साथ भाव—साम्य स्थापित कर लेती है। सीमित असीम बन जाता है, शून्य परिपूर्ण बन जाता है और अभाव भाव में बदल जाता है। भावुक का भाव भी बढ़ जाता है।

इसी भाव-जगत् की ओर संकेत करता है—अगला नाम—चतुर्भाव। भगवान् की भाव भूमिका चहुंमुखी है। हम जिस भाव से उस भावनारायण को देखना चाहें, वह उसी रूप में हमारे सामने प्रकट होते हैं। 'यद्भावस्तद्भवति'। भगवद्गीता में चार प्रकार के आराधक बताए गए हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। चारों सुकृती हैं, पर ज्ञानी सबसे श्रेष्ठ हैं क्योंकि उसकी भक्ति-भावना निश्चल, निर्मल और नित्य नियंत्रित होती है। इन्हीं चार भावों की ओर यह 'चतुर्भाव' नाम संकेत करता है।

भगवान् को 'चतुर्वेदविद्' कहा है। चारों वेदों के वही वेत्ता हैं, प्रभु हैं। चारों वेदों के माध्यम से उनको जाना जा सकता है, इसलिए भी यह नाम सिद्ध होता है। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनंति'—सभी वेद, जिस पद का परिचय देने में तत्पर हैं, वही परम पद भगवान् का है। 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यंति सूरयः'—भगवान् के उस कैवल्य पद को विद्वान् निरंतर देखा करते हैं। इसलिए वेदों का अध्ययन उसी परम पद का सोपान

है। वेदों से तात्पर्य शुष्क ज्ञान से नहीं है, विद्या से है। वदिक विद्या वेदवेद्य परमात्मा को समझने में सहायक होती हैं। निर्मल मन से किया गया मंत्र-मनन मननीय आत्मा को हृदयंगम करने में समर्थ होता है।

आत्मा चतुष्पात् (चार चरण वाली) है, पर परमात्मा एकपात् (एक पाद) हैं। 'पादोस्य विश्वा भूतानि'—के अनुसार यह सारा संसार सर्वात्मा का एक चरण है। यह एक चरण ही इतना विराट् है तो उनकी समग्र सत्ता संसार का समावर्तन करने में समर्थ हो सकती है।

इसी समावर्तन की भावना अगले श्लोक में वर्णित है :

समावर्तो निवृत्तात्मा दुर्जयो दुरतिक्रमः।
दुर्लभो दुर्गमो दुर्गो दुरावासो दुरारिहा ॥८३॥

सर्वात्मा में सबका समाहार हो जाता है। वही जीवन का सर्वस्व है। जब सब कुछ मिल जाता है तब और कुछ मांगने की गुंजाइश नहीं रहती है। सभी विषयों से मन लौट आता है। शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों का जब मूल स्रोत ही प्राप्त हो गया तो इन बाहरी विषयों में कोई आकर्षण नहीं रहता। सारा ध्यान मूल स्थान आत्मा पर केंद्रित रहता है। जब तक आत्मा से मिलन नहीं होता तब तक बाहरी सुख की ओर बार-बार मन आकृष्ट होता है। भीतर का सुख जब बाहर के सुख को क्षणभंगुर, दुःखदायक और ऐकांतिक सिद्ध करता है तो आत्मिक सुख की ओर प्राणी आकृष्ट हो जाता है। एक बार उसका स्वाद मिलने पर मन वहां से वापस नहीं आता। यही विचारधारा समावर्त और निवृत्तात्मा (या अनिवृत्तात्मा) —इन दो नामों में स्पष्ट होती है। विषय वासना से निवृत्त

मन आत्म लालसा से अनिवृत्त बनता है। इसलिए आत्मा निवृत्त भी है और अनिवृत्त भी। बाहर से निवृत्त है और भीतर से अनिवृत्त।

आत्मा की अनुभूति से जब मन पक्का हो जाता है, वह 'दुर्जय' बन जाता है। उस पर कोई विजय नहीं पा सकता। सब पर विजय पाने वाली सत्ता को कोई पराजित नहीं कर सकता। विजय की बात दूर है, कम से कम उसको पार करना भी किसी के बस की बात नहीं है। वह 'दुरतिक्रम' है। उसका अतिक्रमण करना असंभव है। पक्का मन छोटे-छोटे प्रलोभनों से विचलित नहीं होता।

लेकिन इस प्रकार की दृढता पाना कठिन है। सबके लिए वह आसान या सुलभ नहीं है। इसलिए वह दुर्लभ है। वहां तक पहुंचना भी कठिन है। वह किसी शक्तिशाली सम्राट् के किले (दुर्ग) की तरह 'दुर्गम' है। साधारण व्यक्ति की वहाँ तक पहुंच नहीं होती। वह दुर्लभ जरूर है, पर अलभ्य नहीं है। कठिनाई के साथ वहां पहुंचा जा सकता है। हवा की तरह मन इधर उधर दौड़ता है, चंचल रहता है। पर अभ्यास से उसको स्वाधीन कर लिया जा सकता है। संत त्यागराज कहते हैं, 'जिसने अपना मन काबू में रखा, उसके लिए मंत्र-तंत्र की कोई ज़रूरत नहीं है। मन सबसे गहरा है। मन की गहराई में ही महामानव या परमात्मा निवास करते हैं। इसीको योगियों ने दहराकाश या 'दुर' की संज्ञा दी। इसी दुर या रहस्य गुहा में निवास करने के कारण परमात्मा को 'दुरावास' कहा गया है। मन की गहराई को पार करने के बाद ही इस दुरावास में प्रवेश मिलता है। 'विद्धि त्वमेतन्निहितं' गुहायाम्'—इसे गहरी गुहा में बसा हुआ समझना चाहिए। यही आत्मा की आंतरिक

ज्वाला है जिसमें संसार का सर्वस्व छिपा हुआ है।

एक बार इसमें प्रवेश मिलने के बाद सारी बाधाएं अपने आप दूर हो जाती हैं। दुरावास के स्वामी ही इन अड़चनों को दूर कर देते हैं। इसीलिए उनको 'दुरारिहा' (दुष्ट शक्तियों को नष्ट करने वाला) कहा गया है। 'दुर' शब्द में गहरा रहस्य छिपा हुआ है। यही प्राणी के अंदर अलग संसार बसा-कर प्रज्वलित होनेवाला दहराकाश है। इसी का मुक्त कंठ से श्रुति गुणगान करती है :—

'यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अंतर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥'

—०—

३२. सुन्दर सुन्द सुलोचन

परमात्मा प्रत्येक प्राणी में प्रचंड प्रकाश के रूप में प्रतिष्ठित हैं। फिर भी देखने में वह कोमल दिखाई देते हैं। उनकी लीलाएँ मनोहर और सुव्यवस्थित दिखाई देती हैं। परमात्मा की इसी कमनीयता का वर्णन सहस्रनाम का अगला श्लोक प्रस्तुत करता है :—

शुभांगो लोकसारंगः सुतंतुस्तंतुवद्र्धनः।
इंद्रकर्मा महाकर्मा कृतकर्मा कृतागमः ॥८४॥

परमात्मा के पावन स्पर्श से प्राणी के अंगों में शोभा उत्पन्न होती है। शरीर के जो अंग परमात्मा की आराधना में लगे हुए होते हैं, वे सबके सब शोभायमान और शुभ हैं। इसलिए उनको 'शुभांग' कहा गया है। यह नाम पहले भी आ चुका है। इसके अलावा वरांग, हेमांग, स्वंग, अव्यंग, स्वांग आदि नाम भगवान् के अंगों की शोभा का वर्णन करने वाले हैं जो इसके पहले आ चुके हैं। इनमें से केवल 'शुभांग' दुहराया गया है क्योंकि 'शुभांग' कहने से भगवान् के अंगों की वरीयता, सुखद शीतलता, सुकुमारता, अविकल कोमलता और स्वयं-प्रकाशिता का एक ही शब्द में बोध हो जाता है। 'शुभ' के अन्तर्गत ये सभी लक्षण हैं। संसार के सभी प्राणी सर्वात्मा के अंग हैं। इसलिए प्रत्येक प्राणी को अपने को परमात्मा का अंग समझकर उसकी यानी अपनी शोभा कायम रखने का प्रयास करना चाहिए। भगवान् के दिए अंगों को भगवान् के

ही काम में लगाना भागवत धर्म है। इसी आशय को लेकर भागवतकार पोतन्ना कहते हैं—'जो मुक्त हस्तों से शिव की पूजा नहीं करता, जो मुक्त कंठ से भगवान् हरि का गुणगान नहीं करता और जिसके हृदय में दया और सत्य के लिए स्थान नहीं होता, वह जन्म लेकर केवल माता को जनने की पीड़ा मात्र देता है।' जब ऐसा नहीं होता तब भक्त अपने को अंग हीन अनुभव करता है। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जगज्जननी जानकी को अपना परिचय देते हुए कहते हैं—'दीन सब अंग हीन मलीन अघी अघाइ'। इसलिए जिनके अंग शुभ कार्यों में, लोक कल्याण के कार्यों में, काम आते हैं, वही 'शुभांग' हैं।

लौकिक जीवन का सत्वसार यही है कि भगवान् का दिया हुआ शरीर भगवान् की सेवा में अर्पित हो। इस पर हमारा कोई अधिकार नहीं है। क्योंकि अगर होता तो यह हमारी बात मान कर चलता। पर यह भगवान् की इच्छा पर चलता है। जब तक जीव को शरीर की आवश्यकता है, तभी तक वह कायम रहता है। जब भगवान् को शरीर की अपेक्षा जीव की अधिक आवश्यकता पड़ती है तो वह जीवात्मा को अपने पास बुला लेते हैं और भगवान् की पुकार सुनकर जीवात्मा सब कुछ छोड़कर श्रीमान् के श्री चरणों की सेवा में प्रस्तुत हो जाता है। इसमें जीवधारी की इच्छा-अनिच्छा के लिए भी कोई गुंजाइश नहीं है। समस्त जीव जन्तुओं का सार और जीव-धारियों का आधार परमात्मा है और परमात्मा तक पहुँचने के लिए 'शुभांग' होना बहुत ज़रूरी है। शुभांग व्यक्ति ही लोक सार परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त कर सकता है। इसीलिए भगवान् का अगला नाम 'लोकसारंग' कहा गया है। लोक

का सार समझने पर भी परमात्मा का बोध हो सकता है। आखिर लोक या संसार का सार किस में है ? न शरीर में है, न सौन्दर्य में है, न यौवन में है, न मेधा में है और न वैभव में है। संसार का सार जीव की भावना में है, उसकी वाणी में है, भक्ति भावना से परिशीलित कोमल मधुर समीर में है। मलय मारुत की सी इस मधुर मनोहर वाणी में ही परमात्मा का निवास होता है और इसी के सहारे हम परमात्मा तक पहुँच सकते हैं। संसार का सार वाणी में है, वाणी का सार प्रणव में है और प्रणव ही पाँचभौतिक जगत् का सत्व सार है जिसके सहारे परमात्मा के साथ साक्षात्कार हो सकता है।

'सारंग' शब्द का एक दूसरा अर्थ है—भौंरा। परमात्मा भौंरे की तरह संसार के कोने-कोने में चलकर सबके प्राण-कमलों का रस ग्रहण करते हैं। इसलिए भी भगवान् 'लोक सारंग' हैं। हिरन को भी सारंग कहा जाता है। असल में बहुरंगी और सुन्दर आकृति वाले किसी भी पक्षी या जन्तु को सारंग कहते हैं। भगवान् विष्णु के हाथ में जो धनुष होता है, उसको भी सारंग कहते हैं। इसलिए सारंग बहुत ही सारगर्भित शब्द है जिसमें कई सत्वों का सार समा हुआ है और इसी व्यापक अर्थ में परमात्मा को लोक का सारंग कहा गया है। वह है—सारंग पाणी।

अगला नाम है—सुतंतु। तंतु का मतलब है—तार, विस्तार या फैलाव। 'सु' पूज्यता, शोभनीयता और वरिष्ठता का द्योतक है। भगवान् का विस्तार पावन, पूजनीय, शोभनीय और वरेण्य होता है। उनका तार कहाँ से कहाँ तक, कहाँ कहाँ पर और कैसे फैला है, यह आम लोग समझ नहीं पाते हैं। जिनको भगवान् देखने की शक्ति देते हैं, वही लोग इस तार

का विस्तार देख पाते हैं। वह बेतार का विस्तार है जिसका परिणाम तो हमारे सामने है, पर स्वरूप और स्वभाव संस्कार से ही समझ में आ सकते हैं। वास्तव में संसार में समस्त प्राणी भगवान् की ही सन्तान हैं। सब उन्हीं के बनाए हुए हैं। इतने विशाल परिवार के स्वामी होने के कारण उनको 'सुतन्तु' कहा गया है।

इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए परमात्मा का अगला नाम 'तंतुवर्द्धन' दिया गया है। वह अपने तंतु या विस्तार को बढ़ाने वाले हैं और कभी-कभी घटाते भी हैं। 'वर्द्धन' शब्द से बढ़ाना और घटाना दोनों अर्थ निकलते हैं। सृष्टि और संहार दोनों का बोध एक साथ कराने वाला विचित्र नाम है—तन्तु वर्द्धन। परमात्मा की प्रेरणा से प्रसार पा रही यह सृष्टि उन्हीं की इच्छा से फिर उन्हीं में लीन हो जाती है। इसलिए उत्पत्ति और विनाश परमात्मा की लीला के ही दो पहलू हैं। पैदा होने पर खुश होना और मर जाने पर तड़पना अविवेक है। जहाँ से आया, वहीं जा रहा है और जिसका था, उसी का बनकर जा रहा है। इसमें संयोग और वियोग की कल्पना भ्रामक हैं। जीवन और मरण की इस श्रृंखला का मूलाधार इस नाम (तन्तु वर्द्धन) में बहुत ही मार्मिक ढंग से चित्रित है।

परमात्मा के स्वरूप और स्वभाव का वर्णन करने के बाद उनके महान् आचरण की व्याख्या अगले तीन नामों में की जाती है—इंद्रकर्मा, महाकर्मा और कृतकर्मा। इंद्रियों का अधिष्ठाता परमात्मा सभी इंद्रियों को अपना-अपना काम करने की शक्ति देता है। आँखों को देखने की, कानों को सुनने की, पैरों को चलने की, हाथों को काम करने की, दिल को प्यार

करने की और मन को सोचने की शक्ति भगवान् की इच्छा से ही मिलती है। उन्हीं की प्रेरणा से प्राणों का प्रणयन होता है। इंद्रियों को अपने अपने विषयों में इस प्रकार प्रवर्तित करने वाले परमात्मा को यहाँ पर इन्द्रकर्मा कहा गया है। इन्द्र स्वर्ग का स्वामी है और वर्षा से पृथ्वी को सींचकर धरती के प्राणियों से वर्षा के फलस्वरूप होने वाली उपज को उपहार के रूप में ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार इन्द्रकर्मा परमात्मा भी सबको जीवन का सुख देते हैं और जीवन का फल अपने आप में मिला लेते हैं।

इसीलिए वह महाकर्मा हैं। उनके काम आम जनता की समझ में आने वाले नहीं हैं। परिणाम में ही उनके कर्मों का आशय समझ में आ सकता है। अक्सर हम विधि-विधान को देखकर चकित हो जाते हैं और कभी-कभी दुःख से पीड़ित होकर भगवान् को कोसने भी लगते हैं। पर जो भी कार्य होता है, उसके पीछे कोई न कोई उद्देश्य, प्रयोजन या आशय ज़रूर होता है। उसका पता फौरन नहीं चलता है, पर धीरे-धीरे चलता है जैसे जैसे उसका नतीजा सामने आने लगता है। पर है वह कर्म महान्, इसमें कोई सन्देह नहीं है। केवल इस धरती का ही नहीं, बल्कि आसमान के तारे-सितारे, सूर्य चन्द्र, ग्रह-उपग्रह आदि समस्त ज्योतिर्मंडल का विस्तार भगवान् के महान् कर्म का ही फल है।

इतना महान् कार्य करते हुए भी भगवान् को कहीं कुछ कठिनाई, वाधा या थकान का अनुभव नहीं होता क्योंकि ये सारे काम संकल्प मात्र से सम्पन्न हो जाते हैं। उनके मन में जो विचार उठता है, वह तत्काल कार्य का रूप धारण करता है। ऐसा लगता है कि वह बना बनाया काम सामने बन

पड़ा है। उसमें न जोड़-तोड़ की गुंजाइश है और न हेर फेर की। इसीलिए भगवान् को 'कृतकर्मा' कहा गया है। उनके काम सबके सब पहले से किए हुए हैं। सब निश्चित योजना के अनुसार नियत समय पर नियमित रूप से नियुक्त व्यक्तियों के माध्यम से नेमी तौर पर सम्पन्न होते हैं। तथाकथित कार्यकर्ता निमित्त मात्र हैं।

इस श्लोक का अन्तिम नाम है—कृतागम। आगम उस चीज़ को कहा जाता है, जो बाहर से आ पहुँचती है। व्यक्ति में जो चीज़ नहीं है, वह कभी कभी बाहर से आ मिलती है। इसी को योग या आगम कहा जाता है जो पहले से मौजूद निजी क्षमता को मज़बूत बनाता है। इस प्रकार योग और क्षेम, निगम और आगम का सांमजस्य जीवन को समग्र, समृद्ध और सर्वांग सुन्दर बनाता है। ये दोनों भगवान् के ही दिए हुए होते हैं। शरीर ही निगम है जो भगवान् की देन है और शरीर में जिस स्फूर्ति, प्रेरणा या प्रतिभा का विकास होता है, वही आगम दिव्य दत्त प्रसाद है। यह आगम भी पहले से तय किया हुआ होता है। परमात्मा को मालूम है कि किसकी कितनी पूँजी है और उसमें क्या-क्या जोड़ा जा सकता है। अपनी-अपनी क्षमता, साधना और संस्कार के फलस्वरूप प्रत्येक प्राणी भगवान् की कृपा को इस आगम के रूप में प्राप्त करते हैं। पर यह आगम प्रभु का अतिरिक्त अनुदान है जो पहले की निधि के अनुपूरक के रूप में वह साधक को साथ देता है।

आगम का मतलब वेदों पर आधारित शास्त्र वाङ्मय भी होता है। वेद, वेदांत और वेदांग भगवान् की दिव्य वाणी के मूर्त रूप हैं। परमात्मा की विश्व व्यापक महती चेतना जब साँस लेती है, उस समय महाप्राण के मुँह से निकली मधुमती

नादसुषमा ही हमारे समस्त वाङ्मय का वैभव है। बृहदारण्यक में इसी तथ्य की ओर संकेत मिलता है—'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदः।' (महती चेतना की छोड़ी हुई साँस ही ऋग्वेद हैं।)

परमात्मा जितने महान् हैं, उतने ही देखने में सुन्दर और सुलोचन हैं। इस सौन्दर्य का वर्णन सहस्रनाम के अगले श्लोक में मिलता है :—

उद्भवः सुन्दरः सुन्दो रत्ननाभः सुलोचनः।
अर्को वाजसनः शृंगी जयंतः सर्वविज्जयी ॥८५॥

यह सारा संसार 'भव' कहा जाता है क्योंकि यह किसी अव्यक्त सत्ता से व्यक्त प्रकट या उत्पन्न होता है। जिस परम सत्ता के संचालन में यह भव प्रकट होता है, वह इससे ऊपर हैं, परे हैं। इसलिए उनको 'उद्भव' कहा गया है।

यह सारी सृष्टि देखने में कितनी अच्छी लगती है। आसमान में चमकते हुए तारे, धरती को उर्वर बनाने वाली हरियाली, उछल-उछल कर मचलने वाली अनन्त जलराशि से उठने वाली भोली भाली लहरें, पौ फटते ही चहचहाहट के साथ अपनी चाल चलन को चलाने वाले पशु पक्षी और सबसे ऊपर रहकर सबको पैनी नज़र से परखने वाले मानव-प्राणी संसार को कितना मोहक, कितना रोचक और कितना लायक बनाते हैं। इतनी सुन्दर सृष्टि की रचना करने वाले स्वामी कितने सुन्दर होंगे। बस, इसकी कल्पना ही सुन्दर लगती है। उसी सुन्दरतम की सुन्दरता संसार के कण-कण में फैली हुई है। वसुधा की अनन्त सुषमा उसी मूल स्रोत की सौन्दर्य लहरी है।

वही मूल स्रोत 'सुन्द' है जिसका व्यक्त रूप 'सुन्दर' है। जो कुछ गीला, चमकीला और रसीला है, वही सुंदर है जिसके गीलेपन, चमक, दमक और रस निर्भरता का आधार वही 'सुन्द' नाम से अभिहित 'सुन्दर' स्वामी हैं।

इस सुन्दरेश के दरवेश (दरबार) में अनंत वैभव भरा पड़ा है। उनके प्रत्येक अंग से रत्नों का प्रकाश निकल आता है। ऐसा लगता है, यही सारी चमक दमक उनकी नाभि में कहीं कूट कूट कर भरी हुई है। जितना प्रकाश बाहर निकलता है, उतना और निकलने को रह जाता है। रत्नों का वह अक्षय भंडार उनके नाभि स्थान में है। इसलिए उनको 'रत्ननाभ' कहा गया है।

उनकी आँखों से भी वह चमक दिखाई देती है। इसलिए वह 'सुलोचन' हैं। वह अपनी आँखों से सबको देखते हैं और सबको देखने की शक्ति उन्हीं की आँखों से मिलती है। इसलिए उनकी आँखें साधारण आँखें नहीं हैं। हजारों आँखों का प्रतिनिधित्व करने वाली वे आँखें हैं जिनको केवल लोचन कहने से काम नहीं चलता। वे सुलोचन हैं, हर चीज़ को अच्छी तरह देखने वाली निराली आँखें।

सारा संसार, समस्त सृष्टि, सभी देवता इस सौन्दर्य और आनन्द की आराधना करते हैं क्योंकि सबको समान रूप से यह सौंदर्य आनन्द प्रदान करता है। वह साधारण प्रेमिक या प्रेयसी का सौन्दर्य नहीं है जो केवल एक ही व्यक्ति को ऐकांतिक, संकीर्ण और सीमित आनन्द प्रदान कर सकता है। वह सार्वजनिक सर्वव्यापी और सर्वश्रेष्ठ सौंदर्य है जिस पर सभी लोगों का समान अधिकार है। आराधना ही साधक को

यह अधिकार प्रदान करती है। जिसकी जितनी भावना है, उतनी उसकी पूजा बनती है और फलती है। परमात्मा आराधना से प्रसन्न होने वाले हैं। इसलिए उनको 'अर्क' कहा गया है। प्रत्यक्ष देवता भगवान् भास्कर को भी 'अर्क' कहा जाता है। शरीर की बीमारी को दूर करने वाली एक विशिष्ट प्रकार की औषधि को भी 'अर्क' की संज्ञा दी जाती है। सूर्य की भाँति प्रकाश और औषधि की तरह प्रसन्नता प्रदान करने वाले परमात्मा को 'अर्क' की संज्ञा देना सर्वथा समीचीन है।

अगला नाम है—वाजसन। 'वाज' का मतलब है—अन्न। सबको अन्न देने वाला परमात्मा है। इसलिए उनको वाजसन कहा गया है। आवश्यक नहीं है कि यह अन्न केवल शरीर का पोषण करने वाला हो। वह मन भरने वाला भी हो सकता है और आत्मा को आलोकित करने वाला भी। वास्तव में इसी प्रकार का बहुमूल्य अन्न प्रदान करने वाला होने के कारण परमात्मा को यहाँ पर 'वाजसन' कहा गया है।

यह वाजसनीय भावना बड़ी उच्च कोटि की है और यह उपासना का उत्तम संविधान है। आराधना उपासना या अर्चना की श्रेणी के अनुसार यह वाजसनीय कृपा प्राप्त होती है। भगवान् इस साधना के साध्य और आराध्य हैं और वह भी उत्तम कोटि के। इसलिए उनको 'श्रृंगी' कहा गया है। वह अर्चना से प्राप्य आत्मलाभ के मूर्धन्य शिखर हैं, साधना के श्रृंग हैं, इसलिए श्रृंगी हैं।

परमात्मा के आराधकों की कभी पराजय नहीं होती है क्योंकि उत्तम व्यक्तियों का साथ हमेशा उत्तम फल देने वाला

होता है। धर्म के संस्थापक, पालक और पोषक परमात्मा सफलता या जय के साकार रूप हैं। इसलिए उनको 'जयंत' का नाम दिया गया है।

पर हो सकता है, कभी कभी सत्य की विजय में लोगों को सन्देह हो। पर यह स्थूल दृष्टि का परिणाम है। बारीकी से और शांत चित्त से सोचने पर सत्य और धर्म की कभी पराजय नहीं हो सकती। थोड़ी देर के लिए भाग्य की क्षणभंगुर क्रीडा को देखने से लगता है कि असत्य और अधर्म के द्वारा ही लोग सुख समृद्धि का संपादन कर लेते हैं और सत्य धर्म पराक्रम के भरोसे रहने वाले भूखों मरते हैं। लौकिक दृष्टि से यह बहुत हद तक ठीक भी हो सकता है। पर पारमार्थिक दृष्टि से यह सही नहीं है। सभी संगत तथ्यों पर समग्र रूप से विचार करने पर सत्य और धर्म की हमेशा विजय होती है। इसी सत्य का प्रतिपादन करने के लिए इस श्लोक के अन्त में परमात्मा को 'सर्वविज्जयी' (सभी दृष्टियों से या समग्र दृष्टि से विजयी) कहा गया है। सत्य के बहुत से पहलू होते हैं। किसी एक पहलू को देखकर सत्य का स्वरूप नहीं आँका जा सकता। इसके लिए सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण ज़रूरी है।

संसार की टीका टिप्पणी से सर्वसत्ताक परमात्मा की प्रतिष्ठा और प्रभुता को कोई ठेस नहीं पहुँचती। प्रचंड झंझावात भी उस महान् वृक्ष को हिला नहीं सकता। प्रभु की इस अचंचल स्थिरता का प्रतिपादन अगले श्लोक में किया जाता है :—

सुवर्णबिंदुरक्षोभ्यः सर्ववागीश्वरेश्वरः।
महाह्रदो महागर्तो महाभूतो महानिधिः ॥८६॥

वह एक ऐसे बिन्दु पर प्रतिष्ठित हैं कि उस बिन्दु की उज्ज्वल कांति को कोई भी शक्ति विचलित नहीं कर सकती। उसके सभी रंग अच्छे हैं, देखने में ही नहीं, टिकने में भी। जो चीज देखने में अच्छी हो और हमेशा के लिए टिकने वाली हो, उससे बढ़कर संसार को और क्या चाहिए? ऐसा ही दुर्लभ बिन्दु परमात्मा का अवस्थान है। वही 'सुवर्णबिन्दु' है। इसकी सुवर्णता में सभी रंग हैं, सभी अक्षर हैं, सभी शब्द हैं, सभी वाक्य हैं, सारा वाङ्मय हैं और वह सब कुछ है जिसे संसार चाहता है। रंग बिरंगे साधन, रमणीय वर्ण विन्यास और स्पृहणीय सात्विक आनन्द—यही सुवर्ण बिन्दु के सहज लक्षण हैं।

यह बिन्दु सुन्दर और शाश्वत दोनों है। इसी से संसार का विस्तार होता है। जिस बिन्दु से अनेक त्रिकोण, आवरण और पद्म दल आदि विकसित होकर परदेवता का श्रीचक्र बनाते हैं, वह आधार बिन्दु यही है। यह एक कोने की है और सोने की बनी हुई है। इसको कोई मिटा नहीं सकता। समस्त संसार के नष्ट होने पर भी यह बिन्दु अक्षुण्ण, अक्षत और अक्षोभ्य रहती है। इसमें परमेश्वरी और परमेश्वर की मिली जुली रूप माधुरी बीज रूप में विद्यमान होती है। इसलिए यह 'अक्षोभ्य' है। इसी आधार बिन्दु को दृष्टि में रखकर यहाँ परमात्मा को 'अक्षोभ्य' कहा गया है। 'अ' कार सारी वर्णमाला का आधारभूत अक्षर है और इसी से प्रणव का भी प्रारम्भ होता है। यही परमात्मा का वाचक है। इसी अक्षर को 'सर्ववागीश्वरेश्वर' कहा जा सकता है। अष्टाध्यायी का अन्तिम सूत्र 'अ अ इति' इसी सत्य का समर्थन करता है।

अगला नाम है—'महाह्रद'। भगवान् की बहुत बड़ा

तालाब या सरोवर कहा गया है। सृष्टि के आरम्भ में केवल पानी ही पानी था और उसी से धीरे-धीरे समस्त जीव जन्तुओं का विकास होता रहा। इसीलिए भगवान् को महान् ह्लद या जलाशय कहा गया है जो समस्त प्राणियों को जीने का संबल देता है। इसके साथ ही अगले नाम में भगवान् को 'महागर्त' यानी बहुत बड़ा गड्ढा बताया गया है। तालाब में पानी होता है, पर गड्ढे में पानी नहीं होता। इसलिए गड्ढे को पार करना मुश्किल होता है। कोई नाव इस गड्ढे में नहीं चल सकती। अगर पार करना है, तो उसमें कूदकर पैदल चलना होगा, ठोकरें खानी होंगी, भूख-प्यास सहनी होगी तब जाकर इसका पता चल सकता है और इसके पार पहुँचा जा सकता है। केवल पानी और मिट्टी में ही नहीं, बल्कि पाँचों महाभूतों में भगवान् का निवास है। मिट्टी, पानी, प्रकाश, हवा और आकाश पाँच महाभूत हैं, जीवधानी के पाँच प्रधान तत्व हैं। इन पाँचों तत्वों के रूप में परमात्मा अपने को प्रकट करते हैं। इसलिए उनको 'महाभूत' कहा गया है। ये पाँचों तत्व जिसके आधार पर चलते हैं, वह भी परमात्मा है। सृष्टि के समस्त तत्वों का मूल स्रोत होने के कारण उनको 'महानिधि' कहा गया है। इस प्रकार महाह्लद, महागर्त, महाभूत और महानिधि—ये चारों नाम सृष्टि की आधार बिन्दु के रूप में विद्यमान सर्वेश्वर की महनीयता का प्रतिपादन करते हैं।

पाँचभौतिक जगत् के प्रतिष्ठाता परमात्मा का इन पाँच तत्वों से जितना गहरा सम्बन्ध होता है, उसको और स्पष्ट करने के लिए सहस्रनाम के अगले श्लोक में सर्वेश्वर के सर्वतो-मुखी व्यक्तित्व की व्याख्या की जाती है —

कुमुदः कुंदरः कुंदः पर्जन्यः पावनोऽनिलः ।
अमृताशोऽमृतवपुः सर्वज्ञः सर्वतोमुखः ॥८७॥

पहले पृथ्वी का उल्लेख मिलता है। 'कु' भूवाचक है। कुमुद, कुंदर और कुंद—ये तीनों नाम इसी भूवाचक 'कु' से आरम्भ होते हैं। पृथ्वी को आनन्द प्रदान करने वाला होने के कारण परमात्मा को कुमुद कहा गया है। वैसे कुमुद रात को खिलने वाला फूल होता है। सुधाकर की अमृतधारा से रस पाकर कुमुद का विकास होता है। इस प्रकार चन्द्रमा की शीतलता पृथ्वी पर लाने वाले इस फूल में परमात्मा रहते हैं। इसलिए भी वह 'कुमुद' कहे जा सकते हैं। कुंदर और कुंद— ये दो नाम और भी सार गर्भित हैं। कुंद एक ऐसा फूल है जो फल जैसा दिखाई देता है। पृथ्वी का दान करने वाले को भी कुंद कहा जा सकता है। पृथ्वी परमात्मा की देन है और पार्थिव जगत् का हर्ष, उल्लास और विकास उन्हीं की अनुकम्पा से सम्भव हो रहा है। कभी-कभी वह पृथ्वी को चीर कर बाहर निकलते हैं और कभी-कभी पृथ्वी को छेदकर उसके अन्दर समा जाते हैं। वराह और नरसिंह अवतारों में इस बात के प्रमाण मिलते हैं। इसी अर्थ में उनको कुंदर (पृथ्वी को चीरने वाला) कहा गया है। पृथ्वी उनके हाथ में एक खिलौने के समान है। वह इसके साथ जो चाहें कर सकते हैं। पृथ्वी को आनन्द देने वाला कुमुद है, पृथ्वी के साथ चीर फाड़ का खेल खेलने वाला कुंदर है और पृथ्वी को ही देने वाला कुंद है। इस प्रकार कुमुद, कुंदर और कुंद तीनों नाम परमात्मा की पार्थिव लीला को प्रकट करते हैं। याद रखने की बात यह है कि पहले सुन्दर और सुंद नाम आए हैं और यहाँ कुंदर और कुंद। परमात्मा के पावन संसर्ग से

कुंदर भी सुन्दर बन जाता है और कुंद भी सुन्द। वास्तव में 'कु' और 'सु' एक दूसरे के विपरीत हैं। पर परम पावन भगवान् सबको समान दृष्टि से देखते हैं।

अगला नाम है—पर्जन्य। बादल को पर्जन्य कहा जाता है। घनानन्द ने पर्जन्य को परजन्य बनाकर उसको लोककल्याण में लगे हुए सेवा परायण भावुक के रूप में देखा था। बिना माँगे धरती को पानी से सींचने वाला बादल परमात्मा का ही प्रतिरूप है। वास्तव में वर्षा, धूप, शीत आदि प्रकृति की ऐसी देनें हैं जो सबको समान रूप से बिना माँग और मान्यता के मिल जाती हैं। इसलिए ये परमात्मा की अहेतुक कृपा के प्रतीक हैं। अगला नाम है—पावन। पवन की भावना पावन होती है। हवा चलने से अपवित्र भी पवित्र बन जाता है। इसलिए पुण्याह वाचन में पवमान सूक्त का पाठ होता है। परमात्मा पवन की तरह पावन है, इसलिए उनको 'पावन' कहा गया है। 'अनिल' भी हवा का ही नाम है। जो एक जगह नहीं रहती और इधर-उधर चलती रहती है, वही अनिल है। 'वायुरनिलम् अमृतम्'—इस वेद वाक्य में वायु को अनिल और अमर कहा गया है। पाँचभौतिक शरीर में केवल हवा शरीर को जीवित रखती है। जब हवा निकल जाती है तो शरीर बेकार हो जाता है। यही हवा या अनिल परमात्मा का परम पावन पवन है।

अगले दो नाम इसी पावन अनिल के अमरत्व को सिद्ध करते हैं। पृथ्वी को पानी, हवा और प्रकाश से प्रसन्न बनाने वाले परमात्मा 'अमृताश' हैं, अमृत का आस्वादन करते हैं। साधारण अन्न से उनका पेट नहीं भरता। स्वयं अमृत खाकर वह दूसरों को अमृत बाँटते हैं। इसलिए उनका शरीर अमृत

का बना होता है। वह मृत नहीं होता। उसमें केवल मृत्तिका या मिट्टी नहीं है। मिट्टी को मौत से बचाने वाला अमृत तत्व परमात्मा के विराट् शरीर के अंग-अंग से टपकता है। इसलिए वह 'अमृतवपु' हैं। अमृत ही जिनका भोजन हो, उनके शरीर का अमृतमय होना बिल्कुल स्वाभाविक है। 'अन्न जैसा मन'।

अगला नाम है—सर्वज्ञ। सब कुछ जानने वाला सर्वज्ञ है। भगवान् न केवल सबको जानता है, पर सबको देखता भी है। इसलिए उनको सर्वतोमुख कहा गया है। वह अपना मुंह सब तरह किए हुए हैं। हम जिधर से देखना चाहें, उधर से ही वह दिखाई देते हैं। आगे पीछे जैसा कोई विभाजन उनकी आकृति में नहीं है। वह सब कुछ जानते हैं और सब कुछ देखते हैं।

—o—

३३. अश्वत्थ का अभयदान

संसार के कण-कण में विराजमान सर्वात्मा सबको सब जगह सभी रूपों में सर्वदा दिखाई देते हैं। पर देखने की इच्छा और क्षमता होनी चाहिए। भक्तों की भावना के अनुरूप भगवान् कई रूप धारण करते हैं—कभी साधना में, कभी सिद्धि में, कभी पेड़-पत्तों में, कभी फल-फूलों में, कभी साधुओं में और कभी सज्जनों में। सर्वात्मा की इस सर्वांतर्यामिता को सहस्रनाम का अगला श्लोक स्पष्ट करता है :

सुलभः सुव्रतः सिद्धः शत्रुजित्-शत्रुतापनः।
न्यग्रोधोदुम्बरोऽश्वत्थश्चाणूरांध्रनिषूदनः ॥८८॥

भगवान् सबके लिए सुलभ हैं। भगवान् की कृपा पाने के लिए धन दौलत की आवश्यकता नहीं है और न विशिष्ट प्रतिभा की। भावना ही भगवान् की कृपा का अमोघ साधन है। अनन्य भावना से पत्ते, फूल, फल और जल अर्पित कर भगवान् को प्रसन्न किया जा सकता है। निर्मल वातावरण, प्रज्वलित ज्वाला, स्वच्छ जल और समतल धरातल के पीछे विश्वात्मा का विराट् रूप दिखाई देता है। इस व्यापक रूप को समझने के लिए केवल शुद्ध सात्विक भावना काफी है। टिमटिमाते तारों से चमकने वाला अनंत आकाश परमात्मा की ही अपार सुषमा को प्रकट करता है। प्रत्येक प्राणी में प्राण वायु का संचार करने वाला पवन परम पावन सत्ता के निरंतर

संचार को सिद्ध करता है। इसी प्रकार पांचभौतिक जागृत के पीछे भूतात्मा और पूतात्मा की भावना करने वाले भावुक के लिए भगवान् सर्वत्र सुलभ हैं।

भगवान् ने यह व्रत धारण कर लिया है कि जो एक बार उनकी शरण में आ जाए और सच्चे हृदय से उनका स्मरण करे, उसको वह बड़ी आत्मीयता से अपना लें और उनको हर तरह से अभय प्रदान करें। यही व्रत उनको 'सुव्रत' बनाता है। अच्छे व्रत का आचरण करने वालों के लिए परमात्मा सुलभ हैं, इसलिए भी वह सुव्रत कहलाते हैं। निराहार दीक्षा को भी व्रत की संज्ञा दी जाती है। निराहार रहने से भी परमात्मा का बोध हो जाता है। शरीर हमेशा कुछ न कुछ पाना चाहता है। यह शरीर का पार्थिव लक्षण है। आमतौर पर शरीरधारी शरीर की इस आवश्यकता के पीछे छिपा हुआ रहस्य समझ नहीं पाता। स्वादिष्ट भोजन, शीतल जल, रमणीय रूप, कमनीय गान माधुरी—ये सभी साधन शरीर के माध्यम से किसी अशरीरी की आराधना के लिए जुटाए जाते हैं। थोड़ी देर के लिए जुटाने की इस प्रक्रिया को बंद कर दिया जाए तो शरीर के भीतर के अशरीरी तत्व का बोध हो जाता है। यही व्रत या उपवास का रहस्य है। इसीलिए व्रत या निराहार व्रत को 'हरिवास' की संज्ञा दी जाती है। मन को शरीर से हटाकर आत्मा में लीन करने का यह प्रयास नर को नारायण के निकट ले जाता है। पर यहां भी भावना प्रधान है। अगर भावना शरीर पर केन्द्रित है और उपासना आत्मा को लेकर चलती है तो मन शरीर से ही चिपटा रहेगा। अन्न ही भगवान् बन जाता है। अन्न से लेकर आनंद तक विभिन्न स्तरों पर विराजमान आत्म तत्व का अखंड और अनंत रूप समझने के

लिए व्रत निष्ठा आवश्यक है। भगवान् सुलभ अवश्य हैं, पर सुव्रती के लिए।

साधक को साधना करते समय बीच-बीच में शंका होती है कि इतनी कठोर व्रतचर्या का आखिर कोई अच्छा परिणाम होगा या नहीं, असल में जिस विश्वनियंता की कल्पना की जा रही है, उसका अस्तित्व है या नहीं। इस प्रकार की सभी शंकाओं का समाधान करता है—सहस्रनाम का अगला नाम 'सिद्ध'। भगवान् स्वयं सिद्ध हैं। उनके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए किसी बाहरी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। जिनको भगवान् पर विश्वास होता है, उनके लिए वह हमेशा सिद्ध हैं। जिनको विश्वास नहीं है, उनके लिए भी वह अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट होते हैं। भगवान् की आराधना भक्त या मित्र की भावना से भी की जा सकती है और विरोध और निषेध की भावना से भी। पहली श्रेणी के आराधकों के लिए वह 'सुलभ और सुव्रत' बन जाते हैं और दूसरी कोटि के अनुयायियों के लिए वह 'विजयी और तापन' का रूप धारण करते हैं। रावण, हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, नरकासुर आदि का उद्धार भगवान् ने इसी प्रकार किया है। यही बात अगले दो नामों से स्पष्ट हो जाती है--'शत्रुजित्' और शत्रुतापन'। शत्रुओं को वह पहले समझाने बुझाने का प्रयास करते हैं, बाद में कुछ प्रलोभन देकर या लाभ पहुंचाकर रास्ते पर लाने की चेष्टा करते हैं। लेकिन जब यह सारा प्रयास विफल बन जाता है तब वह दंड का आश्रय लेते हैं और शत्रुओं की मदांधता को दूर कर उन पर विजय पाते हैं। शत्रु को जीतना उतना आसान नहीं है क्योंकि भगवान् के शत्रु बड़े मायावी होते हैं। आकाश रूपी शरीर धारण करने वाले परमात्मा को बाहर से व भीतर से

वे बहुत आतंकित करने का प्रयास करते हैं। पर महामायावी परमात्मा के सामने उनकी चाल नहीं चलती। थोड़े समय के लिए असत्य, अन्याय, अनाचार और अत्याचार फलते-फूलते से दिखाई देते हैं। पर अन्त में अनन्तशक्तिसम्पन्न परमात्मा की ही विजय होती है। यह बात 'शत्रुजित्' और 'शत्रुतापन'—इन दो नामों से स्पष्ट होती है।

भगवान् के अगले तीन नाम बहुत अजीब लगते हैं। इनमें से पहला नाम है—न्यग्रोध माने बरगद; दूसरा नाम है—'उदुम्बर' माने अंजीर और तीसरा नाम है—'अश्वत्थ' माने पीपल। बरगद, अंजीर और पीपल भगवान् के नाम कैसे बने हैं, इसका समाधान पाने के लिए इन शब्दों को काफी गहराई से देखना पड़ेगा। वैसे भगवान् सर्वान्तर्यामी हैं। वह सबके हृदय में बैठे हुए हैं। चेतन और अचेतन का भी उनके सामने कोई अन्तर नहीं होता। चर, अचर, जड़, चेतन—सभी पदार्थों में परमात्मा निवास करते हैं। संसार का कोई ऐसा भाग नहीं है जहाँ परमात्मा नहीं रहते हों। इस दृष्टि से बरगद, अंजीर और पीपल में ही नहीं, बल्कि सभी पेड़-पौधों में भगवान् रहते हैं। लेकिन भगवान् को यहां पर बरगद, अंजीर और पीपल का निवासी नहीं बताया, बल्कि इन पेड़ों के नाम ही भगवान् के नाम बताए गए हैं। इसलिए इन नामों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। पहला नाम है—न्यग्रोध। नीचे की ओर उगने वाले पेड़ को न्यग्रोध या बरगद कहा जाता है। दूसरा पेड़ 'उदुम्बर' उर्ध्वमुखी है, आकाश के ऊपर छा जाता है। इसको जीवमय भी कहा जाता है क्योंकि इसके अन्दर दाने दाने में अनन्त जीव रहते हैं। तीसरा पेड़ है—अश्वत्थ या पीपल। पीपल के पत्ते हमेशा हिलते रहते हैं

और संसार की नश्वरता, चचलता और गतिशीलता के द्योतक हैं। अश्वत्थ वृक्ष को नारायण का प्रतिरूप समझकर लोग उसकी पूजा करते हैं। इस प्रकार तीनों वृक्षों के नाम भगवान् की भगवता के विभिन्न पहलुओं के प्रतीक हैं। न्यग्रोध भगवान् की पार्थिव भावना का प्रमाण प्रस्तुत करता है तो उदुम्बर भगवान् की उत्कृष्ट उदात्तता को उद्घोषित करता है श्रौर अश्वत्थ अन्त और अनन्त की निरन्तरता को निरूपित करता है। इन तीनों वृक्षों के जो नाम यहाँ दिए गए हैं, उन्हीं में वास्तविक महत्व है।

इस श्लोक का अंतिम नाम है—'चाणूरांध्रनिषूदन'। चाणूर एक जाति है जो दूसरों को मार कर अपना पेट भरती है। अन्ध शब्द अन्न का वाचक है। अन्न को सर्वस्व मानकर अपना पेट भरने के लिए दूसरों के प्राणों का हरण करने में भी जो संकोच नहीं करते हैं, उन लोगों को भगवान् नष्ट कर देते हैं। कुछ लोग चाणूर और श्रांध्र शब्दों को अलग-अलग जातियों के वाचक समझकर इस नाम का श्रर्थ लगाते हैं कि परमात्मा चाणूर और आंध्र जाति का सर्वनाश करने वाले हैं। पर परमात्मा किसी जाति विशेष के शत्रु नहीं हैं। वह पाप या दोष का नाश करते हैं, पापियों का नहीं। इसीलिए यहाँ पर चाणूर और आंध्र शब्दों को इनकी धातु के माध्यम से समझने का प्रयास करना चाहिए। उदर पोषण के लिए जो अपने साथियों को संकट में डालने में संकोच नहीं करते हैं और घोर स्वार्थ की भावना से दूसरों की हत्या कर डालते हैं उनको भगवान् यथोचित दंड देते हैं। यही इसका आशय है।

इसके बाद भय और पाप को दूर करने में भगवान् की

अमोघ क्षमता को सहस्त्रधा व्यक्त करने वाले नाम अगले श्लोक में मिलते हैं :—

सहस्रार्चि : सप्तजिह्वः सप्तैधाः सप्तवाहनः ।
अमूर्तिरनघोऽचिन्त्यो भयकृद् भयनाशनः ।।८९।।

हज़ार किरणों के आलोक से देदीप्यमान दिव्यात्मा का अभय हस्त सर्वत्र प्रसारित होता है। स्वयं अमूर्त या निराकार होते हुए भी वह अपनी सात जिह्वाएँ खोल कर सातों द्वीपों को अपने अन्दर समाविष्ट कर सब जगह जाते हैं। जहाँ पर भगवान् के इस अस्तित्व का अनुभव होता है, वहाँ किसी भी चीज़ का भय नहीं रहता। लेकिन उस प्रकाश आत्मा की प्रखर दीप्ति को देखने के लिए भगवदीय दिव्य दृष्टि चाहिए। जिनको वह दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है, उनको प्रकाश की प्रत्येक किरण में परमात्मा दिखाई देते हैं। अनंत आकाश को चीर कर धरातल को पुलकित करने वाली कांति किरणों में उसी तेजोमूर्ति का व्यक्तित्व प्रकट होता है। प्रकाश के सूत्र से पृथ्वी पर पहुँचने वाले ज्योतिर्मय भगवान् अपनी सात जिह्वाएँ खोलकर सातों लोकों का सार अपने में भर लेते हैं। इसीलिए उनकी सहस्रार्चि' (हज़ार किरण वाले), सप्त जिह्व (सात जीभ वाले) और सप्तैंधा (सात प्रकार का इंधन, आहार या आनन्द ग्रहण करने वाले) कहा गया है। भूलोक, भुवर्लोक, सुवर्लोक, महर्लोक, जनोलोक, तपोलोक और सत्य लोक—ये सातों लोक भगवान् के विहार स्थल हैं। लोकस्वामी अपना आलोक इन सभी लोकों में पहुँचाते हैं और उसी आलोक के सहारे स्वयं भी पहुँच जाते हैं। उनको सप्तवाहन कहा गया है। सात गाड़ियों पर सवार होकर वह सातों लोकों में विहार करते हैं। ये सात वाहन प्रकाश के सात वर्ण हैं जो इन्द्र धनुष

में साफ-साफ दिखाई देते हैं। एक ही रंग—सफेद—सात रंगों में विभाजित होकर रसमय जगत् को रमणीय बना देता है। इन्द्रधनुष की इस सतरंगी शोभा में रंगनाथ की बहुरंगी छटा है।

कहा जाता है कि सूर्य भी सात घोड़ों के रथों पर सवार होकर दिन रात आसमान में चलते हैं। सूर्य के इन घोड़ों को भी 'सप्त' की संज्ञा दी जाती है। सप्त नाम के ये घोड़े भी सूर्य के प्रकाश की सतरंगी शोभा के द्योतक हैं। यहाँ पर परमात्मा को सप्तवाहन कहने में भी यही आशय है। सूर्य से हमें जो प्रकाश मिलता है, उसका भी मूल स्रोत प्रकाशात्मा भगवान् हैं। इसीलिए भगवान् ने गीता में कहा था कि आदित्यों में मैं विष्णु हूँ। आदित्य या सूर्य से हमें सीधे प्रकाश मिलता है और आदित्य को यह प्रकाश भगवान् विष्णु से मिलता है। दोनों प्रकाश के पुंज हैं। एक आधार है और दूसरा आधेय। यहाँ पर यह स्मरणीय है कि 'आदित्य हृदयम्' नाम के एक प्रसिद्ध स्रोत में भगवान् भास्कर को 'हरिदश्व' (हरे घोड़े वाले), सहस्रार्चि (हजार किरण वाले), सप्त सप्ति (सप्त नाम के सात घोड़े वाले) आदि कहा गया है। ये नाम भगवान् विष्णु के नामों से बहुत कुछ मिलते हैं। अन्तर केवल यही है कि भगवान् विष्णु प्रकाश के प्राथमिक स्रोत हैं जबकि भगवान् भास्कर मूल प्रकाश के मुख्य प्रसारक हैं।

सप्तवाहन भगवान् केवल प्रकाश के माध्यम से ही नहीं, बल्कि सर्वत्र विचरने वाले समीर (वायु) के माध्यम से भी लोक-यात्रा करते हैं। हवा भी सात प्रकार की होती है—आवह, प्रवह, अनुवह, संवह, विवह, परावह और परिवह। धरती से लेकर ध्रुव 'मंडल' तक विभिन्न स्तरों पर विभिन्न

प्रकार की हवा चलती है। इसी हवा के माध्यम से परमात्मा हर जगह पहुँचते हैं। चूंकि ये हवाएँ सात प्रकार की होती हैं, इसलिए इनको वाहन बनाकर चलने वाले परमात्मा को 'सप्तवाहन' कहा गया है। पर यह कैसे चलते हैं, यह सबको मालूम नहीं होता, क्योंकि उनका कोई आकार नहीं है। वह अमूर्त हैं, उनकी कोई मूर्ति या प्रतिमा नहीं है। इसलिए उनको 'अमूर्ति' कहा गया है। पर इतना तो निश्चित है कि वह पाप पंकिल संसार से काफी दूर हैं। पाप उनको स्पर्श नहीं कर सकता है। जहाँ पाप नहीं है, वहाँ परमात्मा रहते हैं या यों कहना चाहिए कि जहाँ परमात्मा प्रतिष्ठित होते हैं, वहाँ पाप नहीं रह सकता। जहाँ राम, वहाँ काम नहीं, और जहाँ काम तहाँ राम नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान् का न तो कोई रूप है, न कोई पाप। हो सकता है, रूप से पाप का गहरा सम्बन्ध हो। कभी-कभी लगता है कि रूप ही पाप है। एक प्रकार से रूप जीवन का वरदान भी है और अभिशाप भी। पर परमात्मा की भावना से अनुप्राणित रूप केवल वरदान है। लेकिन ऐसा निर्मल, निश्छल और निर्लिप्त रूप हमारी कल्पना की परिधि में नहीं आता। वह 'अचिंत्य' है, हमारे विचार-क्षेत्र से बाहर है'। इस प्रकार 'अमूर्ति', 'अनघ' और 'अचिंत्य' ये तीनों नाम विश्वात्मा की विशिष्ट रूप-कल्पना को हमारे सामने साकार बनाते हैं। इन तीनों नामों का मनन किया जाए तो यही निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् का कोई निश्चित रूप नहीं है, अगर कोई रूप है तो वह पाप से मुक्त है, पर उसकी कल्पना हमारे चिन्तन से परे है।

यही अमूर्त, अनघ और अचिंत्य परमात्मा के ध्यान से संसार का समस्त भय दूर हो जाता है क्योंकि भय नाम का

मनोविकार उन्हीं की सृष्टि है। भय का मूलभूत कारण द्वैत की भावना है। जब हम अपने को संसार के अन्य प्राणियों से अलग मानते हैं तभी हमारे मन में किसी से भय की भावना पैदा होती है। इसके विपरीत अगर हम सारी सृष्टि को परमात्मा की भव्य रचना मान लें तो इन सभी प्राणियों में एक ही अखंड चेतना संचारित होती सी प्रतीत होती है। उस दशा में हमारे मन में किसी के प्रति न भय पैदा होता है न ईर्ष्या उत्पन्न होती है और न विशेष मोह बन जाता है। हम सबको अपना समझने लगते हैं और सब हमारे सहजीवी और सहयोगी मालूम पड़ते हैं। पर आश्चर्य की बात यह है कि अपने पराये की यह भावना भगवान् की फैलाई हुई माया से ही पैदा होती है और इस माया का परदा उन्हीं के हटाने से हटता है। इसलिए उनको 'भयकृत्' और 'भयनाशन' दोनों कहा गया है। भय पैदा करने वाले भी वही हैं और दूर करने वाले भी वही हैं। यह बड़ी अजीब बात है, पर है यह सही बात। इसलिए उनको 'अचिंत्य' कहा गया है।

परमात्मा की इसी अनिर्वचनीय माया या लीला को अगला श्लोक परस्पर विरोधी शब्दों में प्रकट करता है :

अणुर्बृहत्कृशः स्थूलो गुणभृन् निर्गुणो महान्।
अधृतः स्वधृतः स्वास्यः प्राग्वंशो वंशवर्द्धनः ॥९०॥

परमात्मा परमाणु की तरह परिमाण में बिल्कुल छोटे हैं, पर परिणाम में ब्रह्माण्ड की तरह बहुत ही बड़े हैं। वह दुबले पतले भी हैं और मोटे तगड़े भी। वह सर्वगुण सम्पन्न हैं और गुणरहित भी हैं। पर हैं वह बहुत महान्। शायद उनकी महत्ता का रहस्य उनके स्वरूप और स्वभाव के इसी विरोधाभास में

है। वह छोटे हैं, इसलिए 'अणु' हैं। बड़े हैं, इसीलिए 'बृहत्' हैं। दुबले और पतले दिखाई देने के कारण वह 'कृश' हैं और सबसे मोटे तगड़े होने के कारण वह 'स्थूल' भी हैं। उत्तम से उत्तम गुण उनमें दिखाई देते हैं, इसीलिए वह 'गुणभृत्' हैं (गुणों का भरण करने वाले) हैं। पर एक प्रकार से वह गुणों से परे हैं, इसलिए निर्गुण हैं। यही उनकी महत्ता है, इसलिए वह महान् हैं। इस प्रकार 'अणु' 'बृहत्', कृश, स्थूल, गुणभृत् और निर्गुण—ये छह नाम भगवान् के व्यक्तित्व की अनिर्वचनीयता को प्रकट करते हैं और इनमें सारी श्रुति-सुधा का सार है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' (अणु से भी छोटा और महान् से महान्) आदि श्रुति वाक्य इसी सत्य की घोषणा करते हैं। लेकिन इस विरोधाभास को ध्यान से परखने और समझने का प्रयास करना चाहिए।

संसार के कण-कण में सर्वात्मा का निवास होता है और उनकी दृष्टि में पिंड और ब्रह्मांड में कोई अन्तर नहीं है। परमात्मा का जो अंश मिट्टी के ढेले में है, वही अन्तरिक्ष के प्रकाश-पुंजों में है। यही भगवान् का विश्व रूप है। छोटे से बीज से विशाल वट वृक्ष निकल आता है। एक से अनेक का विस्तार परमात्मा की लीला का ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। इतना सारा विस्तार करने पर भी उनका इसमें न कोई कर्तृत्व है या भोक्तृत्व हैं। वह यह सारा काम अपने लिए नहीं करते हैं और कभी सोचते भी नहीं कि यह सब मैंने किया है। उनकी अध्यक्षता में प्रकृति यह सब काम अपने आप करती है। वह महान् इसलिए हैं कि वह नर में नारायण का रूप धारण कर नश्वर शरीर में अविनश्वर आत्म तत्व को आलोकित करते रहते हैं।

हमेशा हम उनके साथ रहते हैं, पर उनको पकड़ नहीं पाते। हम शरीर का धारण करते हैं तो वह हमारा धारण करते हैं। धरती हमारा धारण करती है तो धरती का धारण वह स्वयं करते हैं। जो भी आधार है, उसके आधार में वह स्थित हैं। इसलिए उनको 'अधृत' (जिसका धारण नहीं किया जा सकता) कहा गया हैं। ध्यान मग्न होकर भी हम उनका ठीक-ठीक धारण नहीं कर पाते। जब कभी हम भगवान् का ध्यान करने लग जाते हैं तो हमारा मन कहीं और भटकने लगता है। भगवान् पर ध्यान टिक नहीं पाता। इसके लिए भगवान् की ही कृपा चाहिए। उन्हीं की कृपा से उनका रूप हमारे ध्यान में आ सकता है। इसीलिए भगवान् को 'स्वधृत' कहा गया है। वह अपने आप अपना ध्यान या धारण करने वाले हैं। और अपने आप ही दूसरों के धारण या ध्यान में आने वाले हैं। लाख कोशिश करें, परमात्मा की इच्छा के बिना जीवात्मा अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता या कम से कम उस दिशा में आगे बढ़ तक नहीं पाता।

अगला नाम—स्वास्य—बहुत ही सरल, सरस और सारगर्भित है। हमारे मुँह से कई ध्वनियाँ निकलती हैं और शब्दों से वाक्य बनते हैं और वाक्य कभी-कभी बहुत ही रसात्मक बन पड़ते हैं और उन्हीं से काव्य जगत् का विस्तार हो जाता है। वाणी का यह सारा विस्तार मानव शरीर का मुख विवर है जो ध्वनि का उद्गम स्थान है। इसी मुख विवर को 'आस्य' कहते हैं। वास्तव में यही स्थान जिसको हम रसना (जीभ), मुख (मुँह) आदि कहते हैं, सरस्वती का सुन्दर सदन है। कुछ लोग इसका सदुपयोग करते हैं और कुछ लोग दुरुपयोग। जो लोग इसका वास्तविक महत्व समझकर इसको लोक

कल्याण की भावना से काम में लाते हैं, उनको परमात्मा का प्रेम प्राप्त होता है। परमात्मा स्वयं परम रमणीय वाणी के प्रेमी हैं। इसीलिए उनको 'स्वास्य' कहा गया है। शोभनीय (सु) मुख विवर (आस्य) वाले परमात्मा के मुँह से लोक-कल्याणकारिणी वाणी निकलती हैं। सारा वैदिक वाङ्मय परमात्मा की प्रेरणा से प्रसूत भव्य वाणी है। स्वास्य शब्द का विग्रह स्व और आस्य के रूप में भी किया जा सकता है। इससे यह मतलब निकलता है कि भगवान् अपने ही आस्य (या मुँह) से बोलते हैं। वैसे तो हरेक आदमी अपने ही मुँह से बोलता प्रतीत होता है। पर वास्तव में संसार के साधारण प्राणी परमात्मा की इच्छा, कृपा और प्रेरणा से ही बोल पाते हैं, अपने बल पर नहीं। पर परमात्मा की वाणी पर-निरपेक्ष है, स्वतन्त्र है, मौलिक है और दूसरों को भी प्रेरणा प्रदान करने वाली है।

वास्तव में वाणी का प्रणयन भी परमात्मा के द्वारा होता है। सृष्टि में सबसे पहला शब्द उन्हीं के मुँह से निकलता है। इसलिए उनको प्राग्वंश कहा गया है। वंश-परम्परा का प्रारम्भिक स्रोत वही परमात्मा है। प्राणियों का प्राण सूत्र उन्हीं के हाथ में है। वही प्राणियों के वंशों का प्रारम्भ, प्रसार और उपसंहार करते हैं। इसलिए उनको 'वंश वर्द्धन' कहा गया है। 'वर्द्धन' शब्द में विकास और विनाश दोनों आशय निहित हैं। वह केवल वंश को ही नहीं, बल्कि वंशी या बंसी के भी स्वामी हैं। वही वंशीधर अपनी बाँसुरी को स्वर माधुरी से अग जग को पुलकित करते हैं। यह सारा संसार उसी वंशीधर का विलास है।

—०—

३४. सत्य सत्व और सात्विक

समस्त संसार के भार का वहन करने वाले वायु वाहन की योगमाया का सारगर्भित वर्णन श्री विष्णु सहस्रनाम के अगले श्लोक में मिलता है :—

> भारभृत् कथितो योगी योगीशः सर्वकामदः ।
> आश्रमः श्रमणः क्षामः सुपर्णो वायुवाहनः ॥९१॥

जो लोग अनन्य भावना से भगवान् की आराधना करते हैं, उनका सारा भार भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। आम तौर पर मनुष्य या किसी प्राणी का कार्यभार दो प्रकार का होता है—पहले से प्राप्त संपत्ति की संरक्षा करना और नये सिरे से नई उपलब्धि के लिए प्रयास करना। इन्हीं को हम क्षेम और योग कहा करते हैं। ये दोनों काम भगवान् के ऊपर छोड़कर निष्काम भाव से अपना काम करने वाले कर्मयोगियों को भगवान् का हमेशा सहारा मिलता है। भगवान् का नाम भक्त की जिह्वा पर हो तो भक्त का भार भगवान् के कन्धे पर अपने आप चला जाता है। इस प्रकार भगवान् समस्त संसार का भार वहन करते हैं। इसीलिए उनको 'भारभृत्' कहा गया है।

अगला नाम है—'कथित'। भगवान् के बारे में कई लोग कई प्रकार से कहते हैं, इसलिए वह कथित हैं। वेद, वेदांग, काव्य-पुराण, इतिहास आदि नर के भीतर छिपे हुए नारायण

तत्व की ही व्याख्या करते हैं। वास्तव में जो कुछ कहा जाता है, उसी में तथाकथित भगवान् का अंश विद्यमान है। प्रत्येक की वाणी में परमात्मा का निवास है। इसलिए जो कुछ कथित (कहा गया) है, वह सारा परमात्मा का वाचिक वैभव है। "सर्वे वेदा यत् पदमामनंति" (सभी वेद जिस पद का प्रतिपादन करते हैं), "वेदैश्च सर्वरहमेव वेधः" (समस्त वेद वाङ्मय परमात्मा को जानने का साधन है।) आदि श्रुति वाक्य इसी 'कथित' की घोषणा करते हैं। इस प्रकार कथ्य, कथन और कथित तथाकथित परमात्मा की ही अनन्त कथा के अंग हैं।

आगे चलकर परमात्मा को 'योगी' कहा गया है। दो तत्वों को जोड़ना योग है और इस प्रकार जोड़ने वाला योगी है। जीव को ब्रह्म से, प्रकृति को पुरुष से, नश्वर को अविनश्वर से, दृश्य को अदृश्य से, मर्त्य को अमरत्व से और मन को आत्मा से जोड़ने का काम सबका भार वहन करने वाले तथाकथित सर्वान्तर्यामी निरंतर करते रहते हैं और अपने मुख्य जनों से कराते भी हैं। इसलिए वह केवल योगी ही नहीं, योगेश भी हैं, योगी के स्वमी भी हैं। विश्वनियंता के प्रशासन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह दूसरों से जो काम कराना चाहते हैं, उसे वह स्वयं भी करते हैं और इस प्रकार अभीष्ट कार्य करने का अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करते हैं। यह नहीं कि पद-मयार्दा के पक्के प्राकृत प्रशासक की तरह वह स्वयं न कुछ करके केवल दूसरों से कराते हों। सक्रिय कर्मचारी ही सफल अधिकारी बन सकता है। सच्चा योगी ही आदर्श योगीश्वर बन सकता है। परमात्मा की योग साधना का सबसे बड़ा रहस्य यही है। उनको अपने लिए कुछ नहीं करना है, पर दूसरों के लिए सब कुछ करके दिखाना पड़ता है। यही

कर्मयोग का सार है। सब कुछ करते हुए भी अपने लिए न करने की भावना ही योग है।

इसी योग में पारंगत होने के कारण परमात्मा सबको सब कुछ देने में समर्थ होते हैं। इसीलिए उनको 'सर्वकामद' (सबकी कामना पूरी करने वाला) कहा गया है। सबकी सभी कामनाएँ सर्वेश्वर के स्मरण मात्र से पूरी हो जाती हैं। लेकिन कामना मंगलमय हो और स्मरण सच्चे दिल से हो, इतना ज़रूरी है।

अगला नाम है—'आश्रम'। संसार की समस्त बाधाओं को भुलाने वाला सुन्दर आश्रम परमात्मा का निवास है। परमात्मा का नाम लेते ही सारी सांसारिक पीड़ा दूर हो जाती है। प्रत्येक के शरीर के अंदर बसे हुए अशरीरी अंतर्यामी का अनुभव करते ही आनंद मिल जाता है—इतना आनंद मिलता है कि सांसारिक भोग विलास उसके सामने फीके पड़ जाते हैं। जो मन आत्माराम में रम जाता है, वह फिर विषय वासना की ओर नहीं मुड़ता। इस प्रकार मानव मन को आत्मा के आश्रम में पहुँचाने वाले परमात्मा को ही स्वयं आश्रम की संज्ञा दी गई है।

पर यह आश्रम या विश्राम आसानी से नहीं मिलता, जन्म जन्मांतर की साधना से यह प्राप्त होता है। इसके लिए यम-नियम, निष्ठा-श्रद्धा, संयम-संकल्प आदि प्रचुर साधन-सम्पत्ति की आवश्यकता है। कष्ट सहने की क्षमता चाहिए। काम, क्रोध आदि को काबू में रखने की काबिलियत चाहिए। ध्यान, मौन, जप, तप आदि के माध्यम से मन को शरीर से हटाकर आत्मा में लीन करने के बाद भी परमात्मा की अनुकंपा के बिना

यह आश्रमवास सम्भव नहीं है। इसलिए आश्रम तक हमें पहुँचाने वाले 'श्रमण' भी वही हैं। श्रम देने वाले भी वही हैं और मिटाने वाले भी वही हैं। जब माँ बच्चे को जन्म देती है तो दुर्भर पीड़ा का अनुभव करती है। पर जब बच्चा पैदा होता है तो उसमें अपना प्रतिबिंब देखकर माँ सारी पीड़ा भूल जाती है और अपनी उपलब्धि पर मन ही मन पुलक उठती है और भीतर ही भीतर फूली नहीं समा पाती। लगभग इसी प्रकार का आनंद परमात्मा के साक्षात्कार से होता है। साधना की सारी यातना सिद्धि के क्षणों में विस्मृत हो जाती है, पल भर में धुल जाती है। सारी पीड़ा परमानंद की भावना में बदल जाती है। पीड़ा बढ़ाने वाले ही उसे घटाते हैं, शरीर को क्षीण बनाकर आत्मा को आलोकित करते हैं। इसलिए उनको 'क्षाम' कहा गया है। रोगी को कम खाने को कहा जाता है, बहुत सी चीजों का परहेज किया जाता है। इससे शरीर कमज़ोर ज़रूर हो जाता है। पर आगे चलकर शरीर को स्वस्थ और समर्थ रखने के लिए यह ज़रूरी हो जाता है। इसी प्रकार परमात्मा जीवात्मा को साँसारिक वासनाओं से दूर रखकर अपने में विलीन कर लेते हैं। लौकिक सुख से लाखों गुना अधिक आनंद देने वाला आत्मानंद प्रदान करने के लिए भगवान् हमारी परीक्षा करते हैं, तरह तरह की विघ्न बाधाएँ प्रस्तुत करते हैं और अंत में सब कुछ 'क्षाम' बनाकर हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ 'क्षेम' की व्यवस्था करते हैं। भगवान् की लीला में क्षाम और क्षेम का विचित्र संयोग है और यही उनके योग का भी रहस्य है।

अगला नाम है—'सुपर्ण'। भगवान् के वाहन गरूड को सुपर्ण कहा जाता है क्योंकि उसके पंख बड़े सबल होते हैं।

वैसे किसी भी पक्षी को सुपर्ण कहा जा सकता है क्योंकि वह पंखों के बल पर सब जगह घूमता है। परमात्मा भी सब जगह जाते हैं, सब में रहते हैं, सबके साथ चलते हैं और सबको बसाते हैं। उनके पंख सबसे अधिक व्यापक हैं। पत्ते पत्ते को वही हिलाते हैं और पत्ते पत्ते में उन्हीं की हरियाली लहराती है। इसलिए वह सभी अर्थों में सुपर्ण हैं—अच्छे पंख वाले भी हैं और अच्छे पत्ते वाले भी। सभी पक्षियों के पंखों में और सभी पौधों के पत्तों में संचलन पैदा करने वाले वही हैं।

इसीलिए उनको 'वायुवाहन' कहा गया है। हवा गति-शीलता का प्रतीक है। हवा की तरह भगवान् भी गतिशील हैं। वह एक जगह नहीं रहते सब जगह पहुँच जाते हैं। हवा पर चलकर वह सब जगह पहुँच जाते हैं। असल में हवा को चलाने वाले भी वही हैं। हवा को उन्हों से हवा मिलती है।

हवा ही नहीं, संसार के सार तत्व उन्हीं के नियंत्रण में रहते हैं। उनकी आज्ञा के बिना न सूरज निकलता है, न चाँद चमकता है, न आग जलती है, न पानी बहता है और न हवा चलती है। नियंता के इसी नियंत्रण को सहस्रनाम का अगला श्लोक स्पष्ट करता है :

धनुर्धरोधनुर्वेदो दंडो दमयिता दमः।
अपराजितः सर्वसहो नियंता नियमो यमः ॥९२॥

भगवान् के दस अवतारों में धनुर्धारी राम भी हैं। राम केवल धनुर्धारी ही नहीं, बल्कि धनुर्वेद में निष्ठित कुशल योद्धा भी हैं। दुष्टों को दंड देने और शिष्टों को सन्तुष्ट करने के लिए ही रामभद्र ने धनुष धारण किया था। भगवान् राम के धनुर्धारण की एक और विशेषता यह है कि उनका तरकस कभी खाली नहीं होता। जो तीर उनके धनुष से छूट निकलता

है, वह अपने शिकार का संहार कर फिर अपनी जगह वापस आ जाता है। इस प्रकार उनका तूणीर (तरकस) अक्षय है। इस अक्षय तूणीर से निकलने वाला तीर कभी अपने लक्ष्य से चूकता नहीं। इतना ही नहीं, राम बाण के प्रहार में एक विशिष्ट माधुर्य भी है। प्राण लेने में भी यह बाण अपनी माधुरी से शत्रुओं को मंत्र मुग्ध बना देता है और मार खाने वाला मारने वाले की तारीफ करते हुए उनका आभार मानता है। विराध, कबंध, कुंभकर्ण आदि ने अपने प्राणहर्ता राम की भूरि-भूरि प्रशंसा की। यहाँ तक कि बालि और रावण भी राम के रण कौशल की सराहना करने में संकोच नहीं करते। आखिर, इस धनुष और धनुर्धारी में ऐसी कौन सी विशेषता है जो अपने शिकार को भी सात्विक सांत्वना प्रदान करती है, यह ध्यान से सोचने और समझने की बात है।

भगवान् के हाथ का धनुष साधारण धनुष नहीं है। यह वही धनुष है जिसके बारे में कठोपनिषद् कहती है—"प्रणव ही धनुष है, तीर आत्मा है और ब्रह्म इस तीर का निशान है (प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते)।" प्रणव की झंकार ही इस धनुष की टंकार है। ओंकार के नाद में जिस प्रकार सारा अक्षर-जगत् समा जाता है, उसी प्रकार भगवान् के धनुष की टंकार में सारा शत्रुदल आश्रय लेता है। 'अक्षरम् ब्रह्म परमम्' (अक्षर ही परब्रह्म है या परम अक्षर ओंकार ही ब्रह्म है) यह भगवान् का कथन है। इस परिवेश में धनुर्धर और धनुर्वेद—इन दो नामों का एक और अर्थ निकलता है। परम अक्षर प्रणव का सार धनुर्धर परमात्मा के हाथ में है और इस प्रणव रूपी धनुष का सारा रहस्य वही जानते हैं और उनकी मंगलमय आकृति ही यह वेद है। इसी धनुष से वह

साधु जनों की रक्षा करते हैं और अभद्र व्यक्तियों को सबक सिखाते हैं।

धनुर्धारी भगवान् को दंड का साकार रूप बताया गया है। दंड के नाम से वह जाने जाते हैं। वह स्वयं कहते हैं, 'दमन करने वालों में मैं दंड हूँ' (दंडों दमयतामस्मि)। कोई किसी को बात से दबाते हैं और कोई किसी को दंड से दबाते हैं। पर दबाने का सबसे प्रबल साधन दंड ही है। जब मनुष्य की सारी भाषा विफल हो जाती तब डंडे की ज़बान हर एक की समझ में आने लगती है। बात चाहे माने न मानें, डंडे को सब मानते हैं। पर यह भगवान् का अंतिम साधन है। साम, दान और भेद जब काम नहीं करते हैं, तभी अंतिम साधन, दंड, को काम में लाया जाता है।

लेकिन दंड के प्रयोग का एक मात्र उद्देश्य दमन है। भगवान् सबको दमन की परिधि में रखना चाहते हैं। दमन करने वाले इस दमयिता को देखते ही लोग दब जाते हैं क्योंकि वह दमन के मूर्त रूप हैं। इसीलिए इस सिलसिले में अंतिम नाम 'दम' बताया गया है। शम-दम आदि साधन-सम्पत्ति भगवान् की ही देन है। जहाँ 'अहम्' की भावना है, वहाँ दम या संयम नहीं उभर सकता। जब अहंकार की भावना बिल्कुल लुप्त हो जाती है और आदमी अपने को एक अलौकिक सत्ता का साधन या निमित्त मात्र अनुभव करने लगता है तब वह अपने आप संयमी बन जाता है। कमजोरी की वजह से दब जाना कोई अच्छा गुण नहीं है, पर सबको दबाने की क्षमता होते हुए भी दबकर विनम्र होने में सच्ची साधना की सात्विक सम्पन्नता है। यह मनुष्य की दिव्यता का द्योतक है।

सर्वदमन सर्वात्मा किसी के हाथ हार स्वीकार नहीं करते।

वह अपराजित हैं। उनको कोई हरा नहीं सकता। उनकी लीला में पराजय के लिए कोई स्थान नहीं है। जहाँ परमात्मा हैं, वहाँ पराजय नहीं है। वही जय और वही जयभद्र हैं। भगवान् का नाम लेने वाले भक्त की भी जब कोई पराजय नहीं हो सकती तब भगवान् के अपराजित होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

सब पर विजय प्राप्त करने के कारण उनको 'सर्वसह' कहा गया है। सबको पराजित करने वाला, सबको नियंत्रण में रखने वाला 'सर्वसह' है। लेकिन इन सभी विशेषताओं के साथ 'सर्वसह' परमात्मा की एक और विशेषता है जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। 'सर्वसह' का मतलब सबके साथ रहने वाला भी है। भगवान् सबके साथ रहते हैं और सबका साथ देते हैं—चाहे वह दुष्ट हो या शिष्ट, पापी हो या पुण्यात्मा, इन्सान हो या हैवान। सबको वह समान रूप से देखते हैं और सबका उद्धार उनका ध्येय है। पर सबका भला चाहते हुए भी वह सबसे नरम नहीं दिखाई देते। कभी कभी वह बहुत सख्त हो जाते हैं। पर इस सख्ती के पीछे सबकी मंगल कामना है। वह सबके साथ हैं।

इस प्रकार की समरस भावना से सबको काबू में रखने वाले परमात्मा को सच्चे अर्थों में नियंता कहा जा सकता है। नियंता का उद्देश्य केवल शासन के लिए शासन नहीं है, पालन के लिए शासन है। बच्चों का प्यार से पालन-पोषण करने वाली माता जैसे अपनी सन्तान को सात्विक नियंत्रण में रखती है, वैसे ही परम पिता परमात्मा अपनी सारी प्रजा को प्रेम के मधुर पाश में कड़ी निगरानी से बाँध कर रखते हैं। भगवान् के शासन में अनुशासन तो है, पर यह आत्मानुशासन है। अपने

आप अनुशासन का यह विधान चलता है। प्रेम से लोग अधिकार को स्वीकार करते हैं। नियम बनाए नहीं जाते, बन जाते हैं। संयम किसी पर थोपा नहीं जाता, पर वह स्वयं अपनाया जाता है। विश्वनियंता के नियन्त्रण में नियम हैं और नहीं भी हैं, यम या संयम है और नहीं भी है। इसीलिए परमात्मा को नियम और अनियम तथा यम और अयम दोनों कहा गया है। सारा नियन्त्रण स्वनियन्त्रित है।

इस परमनियंता के सात्विक नियन्त्रण की विशेषता को अगला श्लोक और स्पष्ट कर देता है —

सत्ववान् सात्विकः सत्यः सत्यधर्म परायणः।
अभिप्रायः प्रियार्होऽर्हः प्रियकृत् प्रीतिवर्द्धनः ॥६३॥

सच्चे शासक का सबसे पहला लक्षण है—सक्षमता। उसे सबल, सशक्त और सक्षम होना चाहिए। इसी को सत्व कहा जा सकता है। शासन की प्रक्रिया में जो अनेक विघ्न बाधाएँ होती हैं, उनका मुकाबला करते हुए आगे बढ़ जाने की क्षमता, स्थिरता और दृढ़ता को सत्व कहा जाता है और इसी अर्थ में अखिल जगत् के अधिष्ठाता परमात्मा को यहाँ पर 'सत्ववान्' कहा गया है।

पर भगवान् का पराक्रम केवल सत्व सम्पन्न ही नहीं, बल्कि सात्विक भी है। सात्विकता सत्व का सहज अलंकार है। राजसी या तामसी शक्ति लोक कल्याण की साधना में सहायक नहीं हो सकती। भगवान् का सत्व सात्विक है, इसलिए उसमें सबका कल्याण समाया हुआ है। उसमें स्वत्व की नहीं, बल्कि समत्व की भावना है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि भगवान् की सम्पत्ति के अन्तर्गत आते हैं और

ये सबके उपभोग के लिए समान रूप से उपलब्ध हैं। खुला आसमान, स्वच्छन्द समीर, बाहर भीतर फैला हुआ निर्मल आकाश, सबकी प्यास बुझाने वाला स्वच्छ जल और हरियाली से लहराने वाली सस्यश्यामला वसुन्धरा सबके आनन्द के लिए है, किसी के एकांत उपभोग के लिए नहीं है। यह सार्वजनिक सम्पदा (कामन वेल्थ) भगवान् की सात्विक सत्वसम्पन्नता का परिचायक है।

सात्विक क्षमता के साथ सत्य भी सफल शासक का आवश्यक लक्षण है। सच्चाई और ईमानदारी की बुनियाद पर ही कोई शासन अपने आशय को प्राप्त कर सकता है। इसलिए लोकस्वामी परमात्मा को 'सत्य' कहा गया है। कभी कभी उनको सत्य नारायण भी कहा जाता है। नर को नारायण बनाने वाला यही गुण सत्य है।

सत्य कभी-कभी अन्धा होता है क्योंकि वह सीधा सादा होता है। उसमें विकल्प या विवक्षा नहीं होती। इसीलिए सत्य के साथ धर्म का होना बहुत आवश्यक है। सत्य वस्तुस्थिति का द्योतक है जबकि धर्म वांछनीयता की ओर संकेत करता है। कैकेयी की वर याचना सत्य पर आधारित है जबकि निरपराधी राम का वनवास धर्म के विरुद्ध है। यहाँ पर सत्य और धर्म के बीच में संघर्ष पैदा हो जाता है। पर भगवान् राम ने दोनों को निभाया है। इसीलिए उनको 'सत्य धर्म परायण' कहा गया है। राम के आदर्श गुणों का वर्णन करते हुए महर्षि नारद कहते हैं कि वह सत्य का पालन करने में अपर धर्म के समान हैं (सत्यो धर्म इवापरः)। सत्य और धर्म के बीच में सामरस्य और सामंजस्य होने से शान्ति की स्थापना में सुविधा होती है। आम तौर पर इन दोनों में कोई

विरोध नहीं होना चाहिए। लेकिन दैवयोग से जब सत्य और धर्म में टकराव हो जाता है तब प्रेम से इस संघर्ष को समाप्त किया जा सकता है। प्रेम ही वह अमोघ अस्त्र है जिससे सत्य और धर्म में समरसता पैदा की जा सकती है।

चाहे सत्य का पालन हो या धर्म का आचरण हो, इसके पीछे निहित वास्तविक आशय या अभिप्राय के सम्बन्ध में निश्चित धारणा होनी चाहिए। वही मूल आशय या अभिप्राय परमात्मा का वाचक है। इसीलिए भगवान् को यहाँ पर 'अभिप्राय' की संज्ञा दी गई है। जब कभी हमारे सामने कोई समस्या पैदा हो जाती है तो उसका समाधान ढूंढने में संबद्ध व्यक्तियों का और संगत परिस्थितियों का मूल आशय समझना बहुत आवश्यक है। वास्तविक प्रयोजन और प्रमुख उद्देश्य में कोई बाधा न पड़े, इस प्रकार से समस्या का समाधान करना होगा। पर यह तभी सम्भव है, जब निर्णय करने वाले व्यक्ति के मन में प्रेम हो, द्वेष लेश मात्र भी न हो।

इसलिए परमात्मा का अभिप्राय समझकर उसकी ओर बढ़ने के लिए सात्विक, सहज और स्नेहशील अन्तःकरण चाहिए। सफल शासक के इसी लक्षण की ओर संकेत करते हुए परमात्मा को 'प्रियार्ह' कहा गया है। परमात्मा प्रेम के मूर्त रूप हैं। वह सबसे प्यार करते हैं। इसलिए सब लोग उनकी पूजा करते हैं। प्रेम ही उनकी अर्हता है। प्रशासन के क्षेत्र में भी प्रेम जितना जादू का काम कर सकता है, उतना और कोई गुण नहीं कर सकता। अधिकारियों और कर्मचारियों के बीच प्रेम और सद्भावना हो तो अनुशासन की कोई समस्या उत्पन्न नहीं हो सकती। काम करने में अर्हता हो और बात करने में प्यार से भरा दृष्टिकोण हो तो सारा काम

सुचारू रूप से सम्पन्न हो जाता है। सच्चे प्रशासक के लिए प्रियार्हता ही सच्ची अर्हता है। इसीलिए परम प्रशासक परमात्मा को यहाँ पर प्रियार्ह और अर्ह दोनों कहा गया है। प्रेम और अर्हता दोनों का होना ज़रूरी है। केवल प्रेम या केवल अर्हता से काम नहीं चलता। केवल प्रेम निष्क्रियता को जन्म दे सकता है और केवल अर्हता (बिना प्रेम की) शुष्कता या खुश्की पैदा कर सकती है।

प्रेम की प्रधानता को और आगे बढ़ाते हुए इस श्लोक के अन्तिम दो नाम—प्रियकृत् और प्रीतिवर्द्धन—परमात्मा को प्रेम राज्य के प्रिय प्रशासक सिद्ध करते हैं। भगवान् प्रेम भावना को आगे बढ़ाते हैं; सबमें प्रेम पैदा करते हैं। प्रेम करने से प्रेम बढ़ता है। भगवान् सबसे प्रेम करते हैं और सब उनसे प्रेम करते हैं। इसलिए उनको प्रियकृत् (प्रेम करने वाला) और प्रीतिवर्द्धन (प्रेम बढ़ाने वाला) कहा गया है।

असल में भगवान् का प्रेम इतना विशाल है जितना कि आकाश। आकाश में प्रकाश की तरह सत्य स्वरूप और धर्म परायण परमात्मा का प्रेम संसार के कोने कोने को आलोकित कर देता है। परम प्रेम के इस प्रकाश का वर्णन सहस्रनाम के अगले श्लोक में मिलता है —

विहायसगतिर्ज्योतिः सुरुचिर्हुतभुग् विभुः।
रविर्विरोचनः सूर्यः सविता रविलोचनः ॥९४॥

आकाश भगवान् का शरीर है। जहाँ पर आकाश है, वहाँ परमात्मा है। इसलिए भगवान् को विहायसगति (आकाश के समान गतिशील) कहा गया है। 'आकाशशरीरं ब्रह्म'—यह श्रुति का प्रमाण है। आकाश में वह प्रकाश के रूप में विद्यमान

है। इसलिए उनको 'ज्योति' की संज्ञा दी गई है। नारायण को 'परमज्योति' कहा गया है। वास्तव में ज्योति तो केवल एक ही है। वह अपने आप प्रकाशित होने वाली स्वयंप्रभा है। उसी परम प्रकाश का प्रतिबिम्ब हमें विभिन्न ज्योतिर्मय गोलों में दिखाई देता है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'— यह सारा संसार उसी के प्रकाश से आलोकित है। उसकी ज्योति शोभनीय है, देखने में सुन्दर है। उसका प्रभाव लोक-मंगल में सहायक होता है। इसलिए उनको 'सुरुचि' कहा गया है। प्रकाश सबको जगाता है और अंधकार सुला देता है। प्रकाश सात्विक है और अंधकार तामस है।

हम जो कुछ खाते हैं, उसको भगवान् को नैवेद्य के रूप में अर्पित करते हैं। इसका आशय यह है कि खाने वाले हम नहीं हैं, बल्कि हम अन्दर के किसी आराध्य को खिला रहे हैं। इसी दृष्टि से भगवान् को यहाँ पर 'हुत भुक्' कहा गया है। जो कुछ हम अग्निहोत्र में आहुति के रूप में अर्पित करते हैं, उसको भी परमात्मा ही स्वीकार कर रहे हैं।

परमात्मा की उत्पत्ति जीवात्मा की उत्पत्ति से भिन्न है। सब लोग जैसे हुए, वैसे वह नहीं हुए। इसलिए उनको 'विभु' (विशिष्ट रूप से हुए) कहा गया है। वह सबके स्वामी हैं, इसलिए भी वह विभु हैं।

हमें सूर्य से प्रकाश मिलता है और सूर्य को अपना प्रकाश उसी परमात्मा से मिलता है। इसलिए प्रकाशात्मा परब्रह्म को समझने के लिए सूर्य की आराधना करनी चाहिए। एक ही परम प्रकाश के सूत्र में आबद्ध होने के कारण परमात्मा और प्रकाशात्मा में कोई तात्विक अन्तर नहीं है। इसी

समानाधिकरण को इस श्लोक की दूसरी पंक्ति में आए पाँच नाम स्पष्ट करते हैं। रवि, विरोचन, सूर्य, सविता और रविलोचन—ये पाँचों नाम प्रत्यक्ष भगवान् भास्कर के माध्यम से परम प्रकाश स्वरूप परमात्मा के प्रभापुंज को प्रकट करते हैं। जीवन का रस ग्रहण करने वाला रवि, अपनी किरणों को दस दिशाओं में फैलाने वाले विरोचन, और धरती को सस्य श्यामल बनाकर प्राणियों के लिए आवश्यक समस्त पदार्थों को प्रसूत करने वाला सविता परमात्मा के ही प्रकट रूप हैं।

वास्तव में परमात्मा सूर्य के माध्यम से ही संसार को देखते हैं। वेद कहता है कि भगवान् के सिर पर अग्नि है और सूर्य चन्द्र उनकी आँखें हैं। विराट् पुरुष की इसी कल्पना ने उनको 'रविलोचन' सिद्ध किया है। सूर्य भी एक नहीं है, अनेक हैं। इसलिए भगवान् अनेक सूर्यों के अनेक नयनों से सबको देखते हैं। 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।'

—o—

३५. स्वस्ति सनातन

प्रत्यक्ष देवता भगवान् भास्कर में परमात्मा का ही अंश विद्यमान है। प्रकाशात्मा प्रभाकर के माध्यम से परमात्मा के प्रकाश का जो प्रसार होता है, वह विश्व के कोने-कोने में फैल जाता है और सकल चराचर जगत् का पालन पोषण करता है। इसी अनन्त वैभव और अपार कृपा का वर्णन सहस्रनाम के अगले श्लोक में मिलता है —

अनन्तो हुतभुग् भोक्ता सुखदो नैकदोऽग्रजः।
अनिर्विण्णः सदामर्षी लोकाधिष्ठानमद्भुतः ॥९५॥

प्रकाश रूपी परमात्मा के प्रसार और प्रभाव की कोई सीमा नहीं है। इसलिए वेद 'अनन्त' हैं। अनंत नाग जैसे सारी पृथ्वी का भार वहन करता है, वैसे ही परमात्मा सबका भार वहन करते हैं। केवल आकार-प्रकार में ही नहीं, बल्कि आहार-विहार में भी परमात्मा अनंत हैं। संसार में जीव-धारियों के द्वारा नित्य निरंतर अन्न-जल का जो उपभोग होता है, वास्तव में यह परमात्मा की तृप्ति के लिए होता है। भरपेट खाना खाकर हम जिस सन्तोष का अनुभव करते हैं, उसी में परमात्मा की तृप्ति है। हमारे अंगों के माध्यम से हमारे अंदर बैठे हुए परमात्मा ही समस्त आहार का उपभोग करते हैं। इसलिए उनको 'हुतभुग् और भोक्ता' कहा गया है। यज्ञ, याग आदि अनुष्ठानों में जो सामग्री हवन में अर्पित की जाती है, उससे यज्ञ पुरुष परमात्मा का ही पेट भरता है।

उसी महाशन को तृप्ति पहुँचाने के लिए सारा हवन, भोजन, सेवन आदि चलते हैं। खाना खाते हुए, पानी पीते हुए, सांस लेते हुए, आवाज़ सुनते हुए बाहर का सौन्दर्य देखते हुए और सुगन्ध का आनन्द लेते हुए हमें यह अनुभव करना चाहिए कि इन सब अनुभूतियों का वास्तविक आनन्द लेने वाला आनन्दमय अंतरात्मा हमारे अन्तरांतर हृदयासन पर विराजमान है। हम भोक्ता हैं तो वह परम भोक्ता हैं।

वही सुख लेता है और देता है। उनके सुखी होने से हम सुखी बन जाते हैं और उन्हीं के दुःख से हम दुःखी हैं। अंतरात्मा के आनंद से जो सुख मिलता है, वह पार्थिव सुख से कहीं बढ़कर है। इसीलिए उनको 'सुखद' कहा गया है और साथ-साथ 'नैकद'। वह एक नहीं देता है, अनेक देता है। कई चीजें उनसे मिलती हैं। लौकिक, अलौकिक दोनों प्रकार का आनंद उनसे मिलता है। भगवान् की भावना से सारा वायुमंडल निर्मल बन जाता है और वही सच्चे अर्थों में और सच्चा सुख है। 'सुख' शब्द में 'सु' पूज्यता और पवित्रता का द्योतक है और 'ख' आकाश का पर्यायवाची है। हमारे चारों तरफ का वायुमंडल अगर पवित्र होता है तो हम भी पावन सुख का अनुभव कर सकते हैं। यही प्रभु की कृपा का फल है।

यह सोचना ठीक नहीं है कि हम भगवान् की आराधना करते हैं क्योंकि भगवान् हमसे भी पहले विराजमान हैं। पहले भगवान् हमारी बात सोचते हैं और फिर हम उनका ध्यान कर पाते हैं। इसलिए समस्त प्राणियों के अस्तित्व का ही मूल आधार परमात्मा है। सबसे पहले प्रकट होने के कारण परमात्मा को यहाँ 'अग्रज' कहा गया है। वह सबके बड़े भाई हैं और हम सब उनसे छोटे हैं।

वेद-पुरुष परमात्मा में कभी निर्वेद की भावना नहीं होती। वह हमेशा प्रसन्न, प्रफुल्ल और प्रेरणापूर्ण रहते हैं। इसलिए उनको 'अनिर्विण्ण' कहा गया है। निर्वेद, निराशा, निरुत्साह, नीरसता आदि अवसादी लक्षण उन में नाम-मात्र के लिए भी नहीं मिलते। परम प्रसन्नता की चिरंतन मुख मुद्रा में विराजमान परमात्मा स्वयं प्रसन्न रहते हैं और दूसरों को भी प्रसन्न रखते हैं। अच्छे बुरे सभी लोगों को वह खुश करते हैं, आराम देते हैं और गलती होने पर माफ भी करते हैं। माफी माँगते ही पापी से पापी प्राणी को भी वह क्षमा करते हैं और भक्तों को क्षमा प्रदान करना तो उनका सहज लक्षण है। इसीलिए उनको 'सदामर्षी' कहा गया है। प्रसन्नता और प्रफुल्लता के साथ उनकी इसी उदारता का मणिकांचन संयोग उनको लोकनायक बना देता है। सभी लोकों के वह अधिष्ठाता हैं। आश्चर्य की बात यह है कि इतने विशाल ब्रह्मांड का शासन सुचारू रूप से चलाने वाले वह लोकनायक दिखाई नहीं देते, केवल उनका आलोक समस्त लोक में फैला रहता है। इसीलिए उनको 'अद्भुत' की संज्ञा दी गई है। सबको आश्चर्य में डालने वाले इस परम नियंता का प्रकाश तो हमें प्राप्त होता है, पर उसके मूल स्रोत का हमें पता नहीं चलता। संसार में सबसे बड़ा चमत्कार भगवान् सूर्य का नियमित उदय है। इसी को वैदिक ऋषियों ने 'चित्र' माना है। 'चित्रं देवानां उदगादनीकं' वाला वेद मंत्र इसी विचित्रता की ओर संकेत करता है। अद्भुत रस विश्वात्मा की रचना की विशेषता है।

प्राचीन से भी पुरातन और नवीन से भी अधुनातन परमात्मा का शासन सनातन कहा जा सकता है। इस सनातन शासन की सात्विक शीतलता और मंगलमय महिमा का गुणगान सहस्रनाम

का अगला श्लोक करता है —

सनात् सनातनतमः कपिलः कपिरप्ययः।
स्वस्तिदः स्वस्तिकृत् स्वस्ति स्वस्तिभुक् स्वस्तिदक्षिणः ॥६६॥

सबसे प्राचीन होते हुए भी सबसे नवीन लगने वाला आत्म तत्व ही परमात्मा का लक्षण है। इसी को सनात् या सनातन कहा गया है। परम प्राचीन और चिर नवीन आत्म तत्व को ध्यान में रखकर ही यहाँ परमात्मा को सनात् (शाश्वत) और सनातनतम (सनातन तत्वों में सबसे अधिक सनातन) कहा गया है। अगला नाम 'कपिल' परमात्मा का रंग बताता है। वैसे परमात्मा का न तो कोई रूप होता है और न रंग। पर उनके रूप रंग की कल्पना करनी है तो बडवानल का रंग उपमा के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस रंग को कपिल की संज्ञा दी जाती है। सांख्य दर्शन के प्रणेता आचार्य कपिल की ओर भी इस नाम में संकेत समझा जा सकता है।

'कपिल' के बाद 'कपि' का नाम दिया गया है। आमतौर पर कपि का मतलब बन्दर होता है। लेकिन यहाँ पर कपि शब्द का धात्वर्थ लेना होगा। 'कम्' जल का वाचक है और जल को अपनी किरणों से पीने वाले प्रकाशात्मा परमात्मा को इस अर्थ में कपि कहा जा सकता है। इस दृष्टि से कपि और कपिल दोनों नामों का तालमेल भी बैठ जाता है। महासागर के भीतर निरन्तर जलते रहने वाले बडवानल में भी यह कपित्व है। बडवानल का रंग कपिल है और उसका स्वभाव कपि का है। इसलिए भगवान् को बडवानल की तरह कपिल वर्ण का निरूपित कर उनको संसार के रसग्राही कपि

के रूप में प्रस्तुत किया गया है। झुलसने वाले संसार को वर्षा जल से सरसाने वाले भी वही हैं और फिर अतिरिक्त रस तत्व का शोषण कर संसार को रसाप्लावन से बचाने वाले महावराह भी वही हैं। कपि शब्द का प्रयोग आदिवराह या भगवान् वराह के अर्थ में भी होता है। इस प्रकार कपिल और कपि—इन दोनों नामों में भी भगवान् का सनातन तत्व व्यंजित होता है। सृष्टि के आरम्भ से लेकर अन्त तक विश्वात्मा का विस्तार होता है। वास्तव में सारी सृष्टि अन्ततः उन्हीं में विलीन हो जाती है। सर्वात्मा की इसी सर्वसमाहारिता की ओर संकेत करता है—इस माला का अन्तिम नाम-अप्यय। सृष्टि के लय को अप्यय कहा जाता है। यह केवल लय है, क्षय नहीं है। इसीलिए इसको अक्षय भी कहा जाता है। चांद्रमान के अनुसार साठ सालों का जो सिलसिला चलता है, उसमें सबसे पहला वर्ष है—प्रभव और अन्तिम है—अक्षय। प्रभव (सृष्टि) से लेकर अप्यय (लय) तक का सारा काल-चक्र परमात्मा से प्रेरित होता है। यह चक्र अनंत है। इसमें क्षय या क्षीण होने की कोई गुंजाइश नहीं है, केवल लय या लीन होने की भावना है। इसी रहस्य को व्यक्त करने के लिए भगवान को यहाँ 'अप्यय' कहा गया है।

यहाँ तक भगवान् विष्णु के हजार नामों में से नौ सौ नाम पूरे हो जाते हैं। अब सहस्रनाम का अन्तिम शतक स्वस्तिवाचन के साथ शुरू होता है—स्वस्तिदः स्वस्तिकृत् स्वस्ति स्वस्तिभुक् स्वस्तिदक्षिणः। ये पाँचों नाम भगवान् की स्वस्ति भावना के द्योतक हैं। स्वस्ति शब्द कल्याण का बोधक है और आशीर्वचन के रूप में कहा जाता है। इसलिए हो सकता है,

आचार्य भीष्म युधिष्ठिर को सहस्रनाम का विस्तृत स्तोत्र सुनाकर उपसंहार के रूप में स्वस्तिवाचन पूर्वक आशीर्वाद दे रहे हों। इस स्तोत्र का पाठ करने वालों के लिए भी यह स्वस्तिवाचन का काम देता है। आचार्य के ये आशीर्वचन प्रासंगिक और अमोघ हैं क्योंकि यहीं से दिव्य नामसहस्र का अन्तिम शतक आरम्भ होता है और यही समय है कि श्रद्धालु साधक को अपनी साधना के फल का आभास होने लगता है।

भगवान् स्वस्तिदायक हैं और स्वस्तिकारक भी हैं। इतना ही नहीं वह स्वयं स्वस्ति भावना के मूर्त रूप हैं। इसी लिए उनको स्वस्तिद और स्वस्तिकृत् कहने के बाद केवल स्वस्ति के नाम से अभिहित किया गया है। इस स्वस्ति भावना में भी परमात्मा का अपना स्वस्तित्व है। सबका अस्तित्व उनका अस्तित्व है सबको स्वस्ति प्रदान करने में सक्षम सर्वात्मा को स्वस्तिदक्षिण कहा गया है। स्वस्ति भावना के अनुकूल होने के कारण भी उनको स्वस्तिदक्षिण कहा गया होगा। परमात्मा चाहते हैं कि सबका भला हो, सब लोग स्वस्ति की भावना से आश्वस्त हों। स्वस्ति शब्द को बार-बार दुहराने से परमात्मा की परम सत्ता के अस्तित्व को निर्विवाद घोषित किया जा रहा है। वह है, वह है, वह है,—इसमें कोई सन्देह नहीं है।

सबकी कल्याण कामना करने वाले सर्वनियंता का शासन कितना सौम्य, सौजन्यपूर्ण और ऊर्जस्वी होता है, इसका विशद विवेचन सहस्रनाम के अगले श्लोक में मिलता है —

अरौद्रः कुंडली चक्री विक्रम्यूर्जितशासनः।
शब्दातिगः शब्दसहः शिशिरः शर्वरीकरः ॥९७॥

भगवान् से कोई घबराने की बात नहीं है। ब्रह्मांड के स्वामी होते हुए भी वह चंड शासक नहीं हैं। देखने सुनने में और काम करने कराने में भी वह अत्यन्त सौम्य, सुन्दर और सुप्रसन्न होते हैं। उनकी मुख मुद्रा में कहीं रौद्रता नहीं है। इसीलिए उनको अरौद्र कहा गया है। वह अपनी प्रजा को रुलाने वाले या दुःख देने वाले क्रूर शासक नहीं है। लोक नायक के लोक शासन का एक मात्र ध्येय लोक कल्याण है। मंगलमय भगवान् की आकृति भी मंगलमय होती है। कानों में कुंडल, हाथ में सुदर्शन चक्र और कदम कदम पर पराक्रम को प्रकट करने वाला घोर गम्भीर पद विन्यास लोकनायक की प्रशासकीय गरिमा को प्रकट करते हैं। कुंडली, चक्री, विक्रमी और ऊर्जितशासन इन्हीं लक्षणों को प्रकट करने वाले दिव्य नाम हैं।

वास्तव में दृश्य जगत् का इतना सूक्ष्म शासन किसी अदृश्य सत्ता के माध्यम से चलना कोई मामूली बात नहीं है। इतना अद्भुत कार्य कैसे होता है, यह शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। जहाँ एक ओर यह लोक शासन अत्यन्त सूक्ष्म और ऊर्जस्वी है, वहाँ दूसरी ओर वह अनिर्वचनीय भी है। वह शब्दों से परे है। वाणी उसे पकड़ नहीं पाती। उसकी वहाँ तक पहुँच नहीं है। वाणी क्या, मन भी वहाँ तक पहुँचने में असमर्थ होकर बीच रास्ते से ही वापस चला आता है। शब्द आकाश का लक्षण है और आकाश परमात्मा का शरीर है। शरीर से आत्मा सूक्ष्म होती है। इसलिए आकाश रूपी शरीर धारण करने वाले परमात्मा आकाश से सूक्ष्म होते हैं और इसलिए शब्द से परे हैं। शब्द से परे होते हुए भी शब्द के सूत्र से बंधे तो हैं। सभी देवता मंत्रों के अधीन होते हैं और

मंत्र शब्दों की एक विशिष्ट योजना में आबद्ध हैं। इसलिए शब्द का महत्व भी कम नहीं है। शब्द के माध्यम से शब्द ब्रह्म को समझने का प्रयास किया जा सकता है। पर केवल शब्द के सहारे परमात्मा पकड़ में नहीं आते हैं। शब्दों से भी सूक्ष्म भावना-शक्ति से भगवान् के दरबार में प्रवेश मिल सकता है। भगवान् भावना के प्रेमी हैं। जो भगवान् का नाम लेकर भावना से पुलकित नहीं हो पाता, वह चाहे कितना भी मेधावी हो, यशस्वी हो, शब्द ब्रह्म का वेत्ता हो, परमात्मा के प्रेम का पात्र नहीं बन सकता। यही बात 'शब्दातिग' और 'शब्दसह'—दो नामों से स्पष्ट होता है।

अगले दो नाम 'शिशिर' और 'शर्वरीकर' परमात्मा के प्रेम की सहज सात्विकता और शीतलता को प्रकट करते हैं। शिशिर शीतलता का प्रतीक है और शर्वरी सुख और शांति का द्योतक है। शिशिर के समान भगवान् शीतल रहते हैं। शिशिर में पुराने पत्ते भी झर जाते हैं। इसी प्रकार परमात्मा के पावन स्पर्श मात्र से जन्म जन्मांतर के पाप धुल जाते हैं। शिशिर में न ज्यादा ठंड पड़ती है और न खास गर्मी होती है। परमात्मा का सान्निध्य भी इसी प्रकार समशीतोष्ण होता है। शर्वरी या रात के समय प्राणियों को प्रापंचिक पीड़ा, चिंता और यातनाओं से थोड़ी देर के लिए मुक्ति मिलती है। यह रात भगवान् की ही देन है। उन्हीं की प्रेरणा से रात होती है। रात में आदमी अपने आप को पाता है। अपनी वास्तविक अस्मिता को हृदयंगम करने के लिए रात के सपने आवश्यक वातावरण पैदा करते हैं। लेकिन अविवेक के कारण कुछ लोग उसको केवल निद्रा और इंद्रिय भोग का साधन समझते हैं। जो किसी की रात है, वह किसी का दिन होता है और

किसी का दिन किसी के लिए रात बन जाता है। दिन-रात के पीछे जो शर्वरीकर सर्वात्मा की रहस्यमयी योजना है, उसको समझने से लोकनायक के शासन की प्रणाली अपने आप समझ में आ जाती है।

इसी लोकशासन का वर्णन आगे भी चलता है—

अक्रूरः पेशलो दक्षो दक्षिणः क्षमिणांवरः।

विद्वत्तमो वीतभयः पुण्यश्रवणकीर्तनः ॥६८॥

अनावश्यक किसी को दुःख देना क्रूरता है। पदमदांध शासक प्रायः क्रूर, निष्ठुर और भयंकर हुआ करते हैं। पर परमात्मा के शासन में क्रूरता नाम की कोई चीज़ नहीं होती। वह अक्रूर हैं। अक्सर जो क्रूर नहीं होते हैं, वे बहुत अच्छे माने जाते हैं। शासन की परिभाषा में 'बहुत अच्छे' का मतलब निकम्मा होता है। लेकिन लोक शासन की दिव्य परिभाषा में अक्रूरता के साथ-साथ सौंदर्य और सामर्थ्य का मणिकांचन संयोग है। भगवान् अक्रूर हैं और साथ-साथ पेशल या हृष्ट पुष्ट और सुन्दर भी हैं। कर्म, वाणी और मन—सभी दृष्टियों से वह सुन्दर हैं। वह दक्ष या समर्थ भी हैं। दक्षता के साथ-साथ सबके अनुकूल चलने वाला दक्षण्य भी हैं। वह दक्ष और दक्षिण दोनों हैं। आमतौर पर जो समर्थ होते हैं, वे दूसरों के अनुकूल चलने की परवाह नहीं करते। पर परमात्मा में ऐसी बात नहीं है। वह जितने समर्थ है, उतने ही सौजन्य से दूसरों के साथ व्यवहार करते हैं। जब लोग गलती करते हैं, उनके क्षमा मांगते ही उनको माफ कर देते हैं। क्षमा भगवान् का एक सहज लक्षण है। आदि कवि ने राम को क्षमा में पृथ्वी के समान बताया है।

इसी क्षमा के कारण भगवान् को यहां 'क्षमिणां वरः' (क्षमा करने वालों में श्रेष्ठ) कहा गया है।

सौजन्य, सामर्थ्य, सौंदर्य और सौहार्द के अलावा परमात्मा में विद्वत्ता भी अपनी पराकाष्ठा में पाई जाती है। वह सबसे अधिक विद्वान् हैं क्योंकि संसार की सारी विद्वत्ता उन्हीं से निकलती है। इसलिए उनको विद्वत्तम (विद्वानों में श्रेष्ठ) कहा गया है।

सफल शासक के लिए सबसे आवश्यक गुण है—निर्भीकता। किसी से भय तभी होता है जब अंतःकरण निर्मल न हो, दक्षता, प्रतिभा या प्रभुता में कमी हो या किसी से ईर्ष्या या द्वेष की भावना हो। परमात्मा का शासन निर्भय और मुक्त वातावरण में चलता है। उनके शत्रु भी उनका गुणगान करते हैं क्योंकि वे मन ही मन जानते हैं कि उन्होंने जो कुछ किया है, सही नहीं किया है। इसलिए उनको 'पुण्यश्रवणकीर्तन' कहा गया है। यह इस श्लोक का अंतिम नाम है। इसी में परमात्मा के प्रबुद्ध शासन की प्रशंसा का सार है। सब लोग उनके शासन की प्रशंसा करते हैं। भगवान् का नाम लेना, उनका गुणगान करना और उनकी प्रशंसा सुनना पुण्य कार्य माना जाता है। लोकशासक परमात्मा की सुन्दर शासन-प्रणाली का इतना विशद और हृदयग्राही वर्णन इन नामों के माध्यम से मिलता है कि युधिष्ठर का मन भर जाता है। अराजकता में व्यवस्था लाने के लिए उनके एक-एक नाम में हजारों इशारे मिलते हैं।

पतित का उद्धार, संकट का मोचन, दुष्टों का संहार, शिष्टों की रक्षा और जीवन को व्यवस्थित करना ये ही लोक-

नायक भगवान् के काम हैं। इन्हीं का वर्णन अगले श्लोक में मिलता है।

> उत्तारणो दुष्कृतिहा पुण्यो दुःस्वप्ननाशनः।
> वीरहा रक्षणः संतो जीवनः पर्यवस्थितः ॥९९॥

परमात्मा जीवधारियों का उद्धार करते हैं। बार-बार संसार में जन्म लेने की पीड़ा से उनको मुक्त करते हैं। लेकिन इसके लिए भगवान् की शरण लेना ज़रूरी है। जो भगवान् के श्राश्रय में आते हैं, वे सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं। पर परमात्मा का यह आश्रय बड़े भाग्य से बिरले को ही मिलता है। वेद, अध्ययन, दान, तपस्या आदि इसके लिए श्रनेक साधन हैं। पर सबसे सुलभ साधन परमात्मा की कृपा है जो भक्ति भावना से प्राप्त की जा सकती है। परम पापी भी परमात्मा की शरण में जाकर श्रपने पापों से छुटकारा पाता है और पुण्य जीवी बन जाता है। तब पहले का सारा जीवन एक बुरा सपना-सा लगता है। बीत गया सो बीत गया, आगे का रास्ता साफ हो जाता है। पर गलत काम करने वालों को परमात्मा की श्रनुकंपा तब तक नहीं मिलती है जब तक उनमें पश्चात्ताप की भावना न हो और भगवान् की भगवत्ता पर विश्वास पैदा न हो। यह बात उत्तारण, दुष्कृतिहा, पुण्य और दुःस्वप्नानाशन—इन चार नामों से स्पष्ट होती है। अंतिम नाम में दुःस्वप्न की बात जो कही गई है, वह सांसारिक यातना के श्रर्थ में भी समझी जा सकती है। सारा जीवन एक बुरा सपना है। भगवान् में लीन होने के बाद पता चलता है कि यह कितना भयानक और भ्रामक स्वप्न था। इस भ्रम को हटाना परमात्मा का ही काम है।

पर श्रहंकार भगवान् के लिए स्वीकार्य नहीं है। जो

अपने को वीर शूर समझता है, उसके घमंड को चूर करने में भगवान् पीछे नहीं 'हटते'। इसी अर्थ में उनको 'वीरहा' कहा गया है। 'वीर' शब्द का अर्थ दुर्भाव या अपशब्द भी होता है। अपशब्दों से मुक्त करना भी परमात्मा का काम है। अच्छी बातें करना, अच्छे विचार रखना और अच्छे कामों में दिलचस्पी लेना परमात्मा को अच्छा लगता है। उन्हीं का वह 'रक्षण' करते हैं। इस प्रकार अच्छा आचरण करने वाले पुण्यजीवियों को 'संत' कहा जाता है। ये संत भगवान् के अपने लोग हैं। उनमें परमात्मा का अंश विद्यमान होता है। इसलिए 'संत' भी भगवान् का नाम हो गया।

'जीवन' भी भगवान् का नाम है। जीवन के अंतर्गत जितने आचार, विचार, कार्यकलाप आदि होते हैं, सब में भगवान् का साथ है और उनका हाथ है। उनकी प्रेरणा के बिना जीवन में कुछ नहीं होता। इसलिए जीवन ही भगवान् है।

इस श्लोक का अंतिम नाम है—'पर्यवस्थित'। भगवान् कहाँ हैं, इस प्रश्न का सीधा सा उत्तर है कि वह हर जगह हैं। संसार में कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ भगवान् विराजमान न हों। वह कण-कण में मौजूद हैं। वीरों में है, शूरों में हैं, मनस्वियों में है, तपस्वियों में हैं, पेड़ों में हैं, पौधों में हैं, आसमान में हैं, धरती में हैं, हवा में हैं, पानी में हैं, आग में हैं, उजाले में हैं, ऊपर हैं, नीचे हैं, आगे हैं और पीछे हैं। सर्वात्मा सब जगह व्याप्त हैं।

—o—

३६. एक भरोसा पुष्पहास का

परमात्मा का अनंत विस्तार है। उनकी रूप माधुरी, प्रभुता और विभुता संसार के कोने-कोने तक व्याप्त है। इसी अनंत वैभव का वर्णन सहस्रनाम के अगले श्लोक में भी पाया जाता है—

> अनंतरूपोऽनंतश्रीर्जितमन्युर्भयापहः।
> चतुरस्रो गभीरात्मा विदिशो व्यादिशो दिशः ॥१००॥

भगवान् का कोई एक निश्चित रूप नहीं है। संसार में दिखाई देने वाला प्रत्येक रूप उन्हीं का प्रतिरूप है। इसलिए वह अनंत रूप हैं। सच्चा द्रष्टा संसार के समस्त जीवों में विभिन्न रूप धारण कर विराजमान है। फिर भी आश्चर्य की बात है कि प्रत्येक प्राणी का अपना निजी रूप और निजी व्यक्तित्व है। चलने फिरने का, बोलने सुनने का, सोचने समझने का और काम करने कराने का हर एक का अपना-अपना ढंग है। किसी की शक्ल किसी दूसरे से नहीं मिलती है। फिर भी सब एक हैं। यही परमात्मा के अनंत रूप लावण्य की सबसे बड़ी विशेषता है जो अनेक में एक और विभिन्नता में अभिन्नता का अनोखा आदर्श प्रस्तुत करती है।

जैसे रूप, वैसे वैभव भी भगवान् का अनंत है। अनंत श्री से विभूषित अनंतात्मा के वीर्य से ही सारा पार्थिव वैभव प्रसारित है। सस्य संपदा, रस संपदा, वित्त संपदा, सोना,

जवाहर, मणि, माणिक्य आदि उसी परमधनी की अपार और अक्षय निधि के अंग हैं। यह संपत्ति केवल पार्थिव वस्तुओं तक सीमित नहीं है। दया, माया, ममता, स्नेह, माधुर्य, सौजन्य, सौहार्द, समवेदना आदि मानसिक अलंकार भी परमात्मा के प्रसाद के रूप में प्राणियों को प्राप्त हुए हैं। माता को अपनी संतान से, पति को पत्नी से, मित्र को अपने साथी से, राजा को अपनी प्रजा से और परमात्मा को जीवात्मा से मिलाकर मधुर मोह के बंधन में प्रतिबद्ध करने वाला मंगलमय सूत्र भगवान् के हाथ में है। यही परमात्मा की अपार्थिव संपत्ति है जो सांसारिक संपदा से अलग है और आध्यात्मिक जगत् के निवासियों को संबल का काम देती है।

जो तन मन से स्वस्थ और प्रसन्न हो और धन से भरपूर हो, उसके लिए किसी चीज़ की कमी नहीं रहती है। अपने अंदर की कमी को पूरा करने के लिए मनुष्य क्रोध का शिकार बन जाता है। परमात्मा सभी कामनाओं से परे हैं। इसलिए वह क्रोध को अपने काबू में रखते हैं। वह जितक्रोध या जितमन्यु हैं। उनको गुस्सा आता ही न हो, ऐसी बात नहीं है। आवश्यकता पड़ने पर वह क्रोध को अवश्य प्रकट करते हैं, पर क्रोध के शिकार या गुलाम नहीं बनते हैं। क्रोध के प्रयोजन से वह भली भांति परिचित होते हैं और उसके प्रयोजन को पूरा करने तक ही वह अपने क्रोध का उपयोग करते हैं। वह क्रोध के मारे आपे से बाहर नहीं होते। शासन, अनुशासन और प्रशासन में क्रोध का अपना स्थान है और उसकी अपनी सीमा भी है। उसका उचित प्रयोग मंगलकर ही होता है। भगवान् का क्रोध इसी प्रकार का होता है।

क्रोध के वशीभूत व्यक्ति दूसरों को डराते धमकाते हैं।

पर क्रोध को काबू में रखने वाले दूसरों का भय दूर करते हैं। दूसरों को अनावश्यक भय से मुक्त करने के लिए ही सात्विक क्रोध का संयत प्रयोग किया जाता है। भगवान् का क्रोध इसी भयनिवारण के लिए होता है। इसीलिए उनको 'भयापहा' कहा गया है।

अगला नाम है—चतुरश्र या चतुरस्र। चौकोर आकृति को चतुरस्र या चतुरश्र कहा जाता है। चौकोर के चारों कोनों के बीच दूरी समान होती है। इसे समान बाहुवाला चतुर्भुज या चतुष्कोण भी कहा जा सकता है। भगवान् की चतुर्मुखी व्याप्ति को पर्याप्त रूप से व्यक्त करने में यह नाम समर्थ और सार्थक है। अनंत रूप-लावण्य और अनंत वैभव के साथ ब्रह्मांड के चारों कोनों में समान रूप से व्याप्त परमात्मा चतुरश्र हैं। चारों तरफ से उनको प्राप्त किया जा सकता है, इसलिए भी वह चतुरश्र हैं। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी अपने-अपने मार्ग का अनुसरण करते हुए चौकोर के भीतर हर जगह मिलने वाले परमात्मा को समान प्रयास के साथ प्राप्त कर सकते हैं। भगवान् को प्रायः चतुर्भुज भी कहा जाता है। कबीर जैसे ज्ञानी 'चारिभुजा के भजन' की सीमित परिधि को पार कर 'अनंत भुजा' वाली अव्यक्त सत्ता का स्मरण करने में विशेष रुचि लेते हैं। पर सामान्य जीवधारी के लिए भगवान् का चतुर्भुज रूप ही काफी है। विश्वात्मा का विराट् रूप देखकर आश्चर्य से चकित अर्जुन एक बार उनके चतुर्भुज रूप को देखने की इच्छा प्रकट करते हैं—"तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।" इसी प्रकार विश्व शब्द से प्रारंभ किया गया सहस्रनाम यहाँ पर 'चतुरश्र' शब्द में समा जाता है। चतुरश्र में जो सौंदर्य

सौष्ठव, साम्य और सौम्य है, वह भगवान् के अनंत रूप और अपार वैभव को परिभाषित करने में समर्थ हैं।

यह चतुरश्र लंबाई चौड़ाई में जितना विशाल और निर्मल है, गहराई में भी उतना ही गंभीर है। धरती का-सा विस्तार और समुद्र की-सी गहराई परमात्मा के स्वरूप और स्वभाव की विशेषताएं हैं। इसलिए परमात्मा को 'गभीर' कहा गया है। वह गभीरात्मा हैं। समुद्र को पार कर चलने वाले बंदर इसकी गहराई क्या जानें। इसकी सच्ची गहराई मंथाचल जानता है जो उसमें गहरे पैठकर उसमें से निकलने वाले विष और अमृत दोनों को एक साथ आत्मसात् कर सकता है। इसी प्रकार गभीरात्मा परम पुरुष का सत्व सार उनके चिंतन में पैठे मनस्वी और भावुक ही समझ सकते हैं। बाकी लोगों के लिए भगवान् केवल चौकोर हैं।

यह चतुरश्र रूपी भगवान् चारों दिशाओं में व्याप्त हैं ही, बल्कि दिशा-दिशा के बीच की विदिशाओं (कोणों) में भी उनका प्रसार है। वास्तव में दसों दिशाओं में उनकी सत्ता फैली हुई है। इन दिशाओं और विदिशाओं के स्वामी इंद्र, अग्नि, यम, नैऋंत्, वरुण, वायु, कुबेर, ईशान, ब्रह्मा और अनंत इसी गभीरात्मा चतुरश्र के विशिष्ट आदेश (व्यादेश) के अधीन अपने-अपने कार्य कर रहे हैं। सभी दिशाओं को उन्हीं के व्यादेश से दिशा दर्शन मिल रहा है। इसीलिए उनको विदिश, व्यादिश और दिश के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

विश्व नियंता का यह विराट् शासन-चक्र अनादि काल से चला आ रहा है। धरती और आकाश का संधान इसी चक्र के स्वामी कर रहे हैं। यही सनातन सहस्रार चक्र है जो संसार

को संसरणशील बनाए रख रहा है और जिसके शासन को सारा ब्रह्मांड यंत्रवत् मानकर चल रहा है। इसी शासन चक्र की गतिविधियों का इतिहास सहस्रनाम के अगले श्लोक में अंकित है—

अनादिर्भूर्भुवो लक्ष्मीः सुवीरो रूचिरांगदः।
जननो जनजन्मादिर्भीमो भीमपराक्रमः ॥१०१॥

सनातन सत्ता का सनातनतम शासन अनादि है और अनंत है। उसका प्रारंभ और अंत पहचानना संभव नहीं है क्योंकि वह सृष्टि के आरंभ से पहले भी विद्यमान था और सृष्टि के समापन के बाद भी चालू रहेगा। वह प्रारंभ का आरंभ है और अंत का अंत। जो धरती सबको आधार प्रदान करती है, उसके लिए भी यह आधार बनता है। इसीलिए इस सनातनसत्ता को 'भूर्भुवः' (भू की भू) (आधार का आधार) (सत्ता की सत्ता) कहा गया है। यह न केवल धरती की सत्ता का द्योतक है, बल्कि धरती की शोभा का भी यही आधार है। यह धरती इतनी सुन्दर लगती है, इतनी संपत्ति को पैदा करती है और आसमान तक अपनी निराली शान फैलाए रहती है, इसका मूल कारण वही सनातन सत्ता है जो धरती की 'लक्ष्मी' का रूप धारण कर बैठी है। भगवान् के हजार नामों में 'लक्ष्मी' भी एक नाम है जो कि स्त्री वाचक है। यह ध्यान देने योग्य है कि भगवान् के नामों में स्त्री वाचक और पुरुष वाचक ही नहीं, बल्कि नपुंसक शब्द भी शामिल हैं। सबसे पहला नाम 'विश्वम्' नपुंसक लिंग में है। इससे यही मतलब निकलता है कि भगवान् न पुरुष हैं, न स्त्री। सब में समान रूप से उनकी सत्ता फैली हुई है।

'भूर्भुवो लक्ष्मीः'--इस पद समूह में भगवान् के दो नाम

हैं। एक तो है—भूर्भुवः और दूसरा है—लक्ष्मी, लेकिन बीच के शब्द—भुवः—को भू के साथ और लक्ष्मी के साथ भी जोड़ा जा सकता है। उस दशा में जो दो नाम बनेंगे, वे हैं—भूर्भुवः और भुवो लक्ष्मी। इनका मतलब होगा—भूमि की भूमि और भूमि की लक्ष्मी। भूदेवी और श्रीदेवी भगवान् विष्णु की दो पत्नियाँ मानी जाती हैं। यहाँ पर इन्हीं दो देवियों की ओर मार्मिक संकेत है। धरती और आसमान दोनों परमात्मा के लिए समान रूप से प्रिय हैं। दोनों के साथ एक जैसा स्नेह निभाने वाले प्रभु को अगले नाम में 'सुवीर' कहा गया है। उनकी वीरता की शोभा इसी में है कि वह धरती और आसमान में वैषम्य की भावना को दूर कर दोनों के लिए समान रूप से आराध्य स्नेह वेदिका तैयार करते हैं। मीठी-मीठी बातों से और अच्छे ठोस आचरण से वह दोनों में स्नेह का संबंध स्थापित करते हैं।

अगला नाम है—रूचिरांगद। सुन्दर भुजबंध भगवान् की भुजाओं की शोभा बढ़ाते हैं। यहाँ तक चतुर्भुज भगवान् के सौंदर्य का वर्णन चल रहा है। भगवान् की बाहुओं में न केवल वीरसुलभ शौर्य और पराक्रम है, बल्कि वरणीय पुरुष के लिए वांछनीय पेशल सौंदर्य भी है। सौंदर्य और सामर्थ्य का यह संयोग भगवान् को श्री देवी और भूदेवी का आराध्य बना देता है।

एक वस्तु अनेक वस्तुओं को जन्म देती है। एक व्यक्ति अनेक व्यक्तियों को जन्म देता है। एक ही परमात्मा अनेक जीवात्माओं को जन्म देते हैं। यह जीवधानी का सहज लक्षण है। यह सारा विस्तार परमात्मा की प्रेरणा से ही होता है। इसलिए उनको 'जनन' की संज्ञा दी गई है। भगवान् ने स्वयं

कहा था कि मैं इस जगत् का पिता हूँ (पिताहमस्य जगतः)। पर यहीं तक वह रूके नहीं। आगे चलकर उन्होंने अपने को माता, धाता और पितामह बताया है। वास्तव में प्रजनन के मूल में परमात्मा की ही प्रेरणा है। आंतरिक प्रेरणा के बिना सहवास का सुख तो मिल सकता है, पर जनन कार्य नहीं हो सकता। काम-वासना को मंगलमय बनाने वाला तत्व जनन ही है। जनन या संतान की इच्छा से काम की धर्म-सम्मत आराधना करने में कोई बुराई नहीं है। इसके लिए भगवान् की स्वीकृति है। जन जीवन में जो जन्म आदि होते हैं, वे परमात्मा की ही प्रेरणा से होते हैं। इसलिए उनको 'जन जन्मादि' कहा गया है। 'जन्मादि' शब्द के दो अर्थ निकलते हैं। जन्म का आदि या मूल कारण और जन्म इत्यादि। इत्यादि का अर्थ लगाया जाए तो इसके अंतर्गत बुढ़ापा, मृत्यु आदि भी आते हैं। जन्म, जरा और मृत्यु सबके मूल कारण परमात्मा ही हैं।

पैदा होना और मरना हमारे हाथ में नहीं है। ये दोनों महाकाल की रहस्यमयी योजना के अधीन हैं। पैदा होने पर हमें पता नहीं चलता कि हम कहाँ से आये और मरने पर हमारे साथियों को पता नहीं चलता कि हम कहाँ जा चुके हैं। इन दोनों अव्यक्त परिधियों के बीच जीवन का आंशिक रूप हमारे सामने होता है। इसलिए हम जीवन की वास्तविकता से परिचित नहीं हो पाते और यही कारण है कि मरने से हर कोई डरता है। जन्म पर खुशी मनाना और मृत्यु का शोक प्रकट करना आत्मवान् का लक्षण नहीं है। मरने से डरने वालों को इस बात का पता होना चाहिए कि जन्म लेने वाला हर प्राणी मरता है और मरने से हम जितना डरते हैं उससे भी

अधिक मृत्यु स्वयं महाकाल रूपी परमात्मा से डरती है। उसी विश्व नियंता के शासन को मानकर मृत्यु मर्त्यजीवी को महाकाल के हाथों समय पर सौंप देती है। इसी भय से हवा चलती है, सूरज निकलता है और बिजली चमकती है। इस प्रकार सारे संसार को रहस्यमय भय दिखाकर नियमित रूप से चलाने वाले विश्व संचालक को भीम और भीमपराक्रम कहा गया है।

पर मरने वाला अपने ठिकाने पर वापस पहुंच जाता है। अविनाशी परमात्मा का अंश जीवात्मा अपनी जीवन लीला समाप्त कर फिर अपने मूल स्थान पर पहुँच जाता है। जनन-मरण का यह रहस्य जान लेने पर जीवधारी को न जन्म लेने पर हर्ष होता है और न मरने पर शोक। वह अपने 'आधार निलय' परमात्मा को पहचानता है जिसका सुमधुर इतिहास अगले श्लोक में वर्णित है—

आधारनिलयो धाता पुष्पहासः प्रजागरः।
ऊर्ध्वगः सत्पथाचारः प्राणदः प्रणवः पणः ।।१०२।।

जीवधानी के सारे जीव जहाँ से आते हैं और अंत में फिर जहाँ चले जाते हैं, वही परमात्मा का आधार धाम है। वह सबका अपना घर है। दुनियाँ तो दो दिन का मुसाफिरखाना है। इसीलिए परमात्मा को 'आधारनिलय' कहा गया है। पांचभौतिक प्राणियों का ही नहीं, बल्कि पांच महाभूतों का भी यही मूल आधार है। आकाश, पवन, आग, जल और पृथ्वी—सबका वही आधार है। उन्हीं का प्रकाश आकाश में फैला हुआ है। उन्हीं के इशारे पर हवा सांस लेती है। उन्हीं के जलाने से आग जलती है और उन्हीं की कृपा से पानी बरसता है। उन्हीं के टिकाने से धरती टिकी रहती है।

वही सबका धाता, संधाता और ग्राधाता है। उनके ऊपर किसी का अधिकार नहीं चलता। इसलिए उनको अधाता भी कहा जा सकता है। सब में प्राणों का ग्राधान करते हैं, इसलिए आधाता हैं। सबके जन्मदाता हैं, इसलिए धाता हैं, प्राणों का संधान करते हैं, इसलिए संधाता हैं। प्राणों का विकास और प्राणियों का प्रादुर्भाव ग्रपने में एक चमत्कार है। लेकिन प्राण-दाता परमात्मा के लिए यह हँसी खेल के समान है। जैसे पेड़ के हरे हरे पत्तों के बीच में से रंग बिरंगे फूल हँसते हुए खिल उठते हैं, वैसे ही परमात्मा का सृष्टि कार्य चलता है। सारी दुनियाँ खुदा की खुली हँसी है। हर फूल के विकास में परमात्मा का ही मंदहास प्रतिभासित होता है। इसलिए परमात्मा को 'पुष्पहास' कहा गया है। आखिर जीवन ही क्या है। मिट्टी से निकलकर मिट्टी में पलकर मिट्टी में मिल जाने वाले खिलखिलाते फूल की खुली हँसी के समान है। पेड़ के सूखे जीवन को सरस बनाने वाला फूल है तो जीवात्मा के जीवन को सुखमय बनाने वाला तत्व परमात्मा का प्रफुल्ल मुखकमल हैं। 'पुष्पहास' परमात्मा का बहुत ही सुन्दर नाम है जिसमें सहस्रनाम के सारे नाम प्रसन्न मुद्रा में प्रकट होते दिखाई देते हैं। सभी नाम प्रणव रूपी पुष्प के प्रफुल्ल हास के रूप में प्रकट होते हैं।

अगला नाम है—प्रजागर। भगवान् हमेशा जागे रहते हैं। दिन रात उनके लिए बराबर हैं। जब हम सो जाते हैं तो वह पहरेदार की तरह हमारी रखवाली करते हैं। सोने के पहले हम सब दरवाजे बंद करके आलमारी, संदूक आदि में ताले लगाकर सब कुछ ठीक ठाक करके सो जाते हैं। लेकिन सबसे कीमती चीज—ग्रपने प्राणों को—हम किसको सौंप रहे हैं?

शायद हम इस बात का पूरा-पूरा ख्याल नहीं करते हैं। हम ख्याल करें न करें, हमारा पूरा ख्याल रखने वाले हमारे देवता हमारे सुप्त शरीर की सुरक्षा का पूरा प्रबंध करते हैं। हमें जगह-जगह ले जाते हैं, तरह-तरह के तमाशे दिखाते हैं और फिर हमको अपनी जगह छोड़ देते हैं। वैदिक ऋषि अग्नि देवता से प्रार्थना करते हैं कि हे अग्नि देवता, हम थोड़ी देर के लिए आराम करना चाहते हैं, आप ज़रा जागे रहिएगा। इस प्रकार सोए हुए जीवियों के अंदर जागने वाले यही देवता 'प्रजागर' हैं। प्रत्यक्ष देवता प्रभाकर की स्तुति करते हुए आदित्य हृदय के द्रष्टा कहते हैं—"एष सुप्तेषु जागर्ति भूतेषु परिनिष्ठितः" (यह सोने जागने वाले जीवधारियों के भीतर सजग बैठे हुए हैं)। दिन रात प्राणियों के प्राणों का पहरा देने वाला प्रभाकर ही यह प्रजागर है।

यह प्रभाकर या प्रजागर हमेशा आसमान पर ऊपर ही ऊपर चलते हैं, फिर भी धरती का ख्याल रखते हैं। ऊर्ध्वगामी होने के कारण उनको 'ऊर्ध्वग' कहा गया है। जिनकी दृष्टि ऊपर की ओर उन्मुख हो, उन्हीं को वह दिखाई देते हैं। इसलिए हमारा संकल्प हमेशा ऊपर उठने का होना चाहिए, नीचे जाने का नहीं। अच्छा रास्ता हमेशा अच्छे लोगों को ऊपर की ओर उन्नत पद पर ले जाता है। अच्छे रास्ते पर चलने वालों को ही भगवान् का सहारा मिलता है। इसी दृष्टि से उनको 'सत्पथाचार' कहा गया है। वह स्वयं अच्छे मार्ग पर चलते हैं और दूसरों को भी चलाते हैं। 'अग्ने नय सुपथा राये' वाले वैदिक मंत्र में अग्नि देवता से अच्छे रास्ते पर ले चलने का अनुरोध किया जाता है।

अच्छे या बुरे किसी भी रास्ते पर चलने के लिए शरीर

धारण ज़रूरी है। शरीर सभी धर्मों का सबसे पहला और बुनियादी साधन है। शरीर तब तक चलता है, जब तक उसमें प्राण हों और ये प्राण परमात्मा के हाथ में हैं। इसलिए उनको 'प्राणद' कहा गया है। जब तक परमात्मा को मंजूर है तब तक जीवात्मा को प्राणों का सहारा मिलता है। आखिर ये प्राण क्या हैं, कैसे मिलते हैं और किस रूप में परिचालित हैं—इन सभी प्रश्नों का समाधान अगला नाम—प्रणव—देता है। प्रणव ही प्राण है। जिस प्रकार सारा वाङ्मय प्रणव से निकला हुआ है, उसी प्रकार समस्त प्राणी प्रणव से ही प्राणों का संबल प्राप्त करते हैं। प्रणव से निकले हुए प्राण प्राणियों में प्रवेश करते हैं और अंत में फिर उसी में विलीन हो जाते हैं। इस श्लोक के आरंभ में 'आधारनिलय' का जो उल्लेख हुआ है, वह मूलाधार प्रणव ही है। प्रणव का स्वरूप परम पुरातन और चिर नवीन है। वह व्यक्त भी है और अव्यक्त भी। अपने व्यक्त रूप में वह प्राणियों में प्रकट होता है और अव्यक्त रूप में अनंत आकाश में अखंड प्रकाश का प्रसार करता है। जीवन के आरंभ और अंत में यही प्रणव नाद विराम चिह्न की भूमिका निभाता है।

प्रणव ही जीवन में हमसे सभी काम कराता है और वही जीवन का एकमात्र संबल है। इसीलिए प्रणव रूपी परमात्मा को यहाँ 'पण' कहा गया है। पण का मतलब है—सिक्का। इससे यही मतलब निकलता है कि परमात्मा प्रणव रूपी पण का रूप धारण कर प्राणियों का प्रणयन करते हैं। भगवान् को सिक्का कहना कितनी सारगर्भित बात है। सचमुच भगवान् एक ऐसा सिक्का है जिससे सबका काम चलता है। एक ही सिक्के से कई सिक्के बनते हैं। इन में से कुछ खरे निकलते हैं

और कुछ खोटे। लेकिन सब एक ही धातु के बने हुए हैं। खोटा सिक्का भी आखिर तिजोरी में ही जा पहुंचता है। परमात्मा के खजाने में सभी सिक्के चलेंगे। सब घूम फिर कर वहीं पहुँच जाते हैं।

इसी प्रामाणिकता को सहस्रनाम का अगला श्लोक स्पष्ट करता है—

प्रमाणं प्राणनिलयः प्राणभृत् प्राणजीवनः।
तत्वं तत्वविदेकात्मा जन्ममृत्युजरातिगः ॥१०३॥

प्रणव रूपी पण या सिक्के की प्रामाणिकता के लिए किसी बाह्य आधार की आवश्यकता नहीं है। प्राण ही प्रणव का प्रमाण है। प्राणों का प्रणयन प्रणव के अस्तित्व का प्रमाण है और प्रणव का प्रसार परमात्मा के प्रकाश का प्रमाण है। इसलिए प्राण, प्रणव और परमात्मा एक दूसरे के प्रतीक और प्रमाण हैं। वास्तव में ये तीनों अपने आप में परम प्रमाण हैं। प्राण सबसे स्थूल है, प्रणव उससे सूक्ष्म है और परमात्मा सबसे सूक्ष्म हैं। पर प्राणों के रूप में वह प्रत्यक्षरूप से समस्त प्राणिजगत् के सामने प्रकट होते हैं।

वह प्राणों के आगर हैं, इसलिए 'प्राणनिलय' कहे गए हैं। सभी प्राणियों के प्राण उन्हीं में बसते हैं, उन्हीं से निकलते हैं और अंत में उन्हीं में समा जाते हैं। किसी प्राणी के भीतर जब प्राणों की प्रतिष्ठा होती है, तब भी परमात्मा ही उन प्राणों का वहन करते हैं। इसलिए उनको 'प्राणभृत्' कहा गया है। प्राणों को प्राण या जीवन प्रदान करने वाले होने के कारण उनको 'प्राणजीवन' कहा गया है। उन्हीं की प्रेरणा से प्राणों का प्रणयन होता है। श्रुति का भी प्रमाण

है—'मनुष्य न प्राणों से जीता है और न अपान से। इन दोनों के प्रणेता किसी अन्य तत्व के बल पर जीता है।'

इसी परम तत्व का प्रतिपादन अगले तीन नाम करते हैं— तत्व, तत्वविद् और एकात्मा। एक ही तत्व जो अपने परम तत्व से भली-भाँति परिचित है, वही मूल भूत आत्मा है जिससे अनेक जीव जीवन धारण करते हैं। आत्मा एक है और वही परम आत्मा है। इसी परम पिता परमात्मा से पाँचभौतिक जगत् का विस्तार होता है। जन्म, जरा, मरण आदि विकार जीवात्मा में होते है, परमात्मा में नहीं। आत्मा अपने अविकल रूप में अजर, अमर, अनादि, अनंत और एक है जिसको यहाँ पर 'जन्ममृत्युजरातिग' कहा गया है। इसी आत्म तत्व की अखंड सत्ता का गुणगान करते हुए श्रुति कहती है—

'......एकात्म प्रत्यय सारं प्रपंचोपशमं
शांतं शिवं अद्वैतं चतुर्थं मन्यंते
स आत्मा स विज्ञेयः ॥'

—o—

३७. देता पहरा निज निवास का

आत्मा से बढ़कर जानने योग्य और कोई वस्तु नहीं है। एक ही अनंत आत्मा सारे जगत् में व्याप्त है—कहीं व्यक्त रूप में और कहीं अव्यक्त बनकर। प्रत्येक प्राणी में जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति नाम की तीन प्रमुख अवस्थाएं होती हैं जिनमें क्रमशः आत्मा का वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ रूप प्रकट होते हैं। इन तीनों के अलावा आत्मा का एक ऐसा विलक्षण रूप है जो न समझ में आता है, न दिखाई देता है, न पकड़ में आता है, न विचार की परिधि में आता है और न किसी परिभाषा के अंतर्गत आता हैं। यही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है जिसको तुरीय अवस्था की संज्ञा दी जाती है। पर यह आत्म तत्व आत्मा के पहले तीनों पादों में भी पाया जाता है जैसे प्रणव की तीन मात्राओं में मूलनाद। इस सनातन आत्म तत्व में परमात्मा का अवस्थान है। इसको पहचानना और इसमें अपने को एकाकार बनाना जीवन का चरम ध्येय है। यही आत्म संदेश दिव्य नाम सहस्र के अंतिम चार श्लोकों में मिलता है। पहले आत्म तत्व का निरूपण अगले श्लोक में किया जाता है—

भूर्भुवःस्वस्तरुस्तारः सविता प्रपितामहः।
यज्ञो यज्ञपतिर्यज्वा यज्ञांगो यज्ञवाहनः ॥१०४॥

भूः, भुवः, स्वः —ये तीनों व्याहृतियाँ आत्मा या परमात्मा

रूपी वृक्ष के तीन भाग हैं। भूः जड़ है, भुवः स्कंध हैं और स्वः ऊपर की शाखाएँ हैं। इस प्रकार भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक आत्मा की विराट् छाया के अंतर्गत आते हैं। वेदमाता गायत्री भी इन्हीं तीन भूमिकाओं में विचरण करती हैं। प्रणव के संयोग से इन तीनों व्याहृतियों में प्राणशक्ति का समावेश होता है। असल में प्रणव ही वह पारिजात है जो तीनों लोकों में, जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति नाम की तीन अवस्थाओं में, वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ नाम से प्रसिद्ध आत्मा के पादों में फैला हुआ है। इन्हीं तीन व्याहृतियों में महर्षियों ने तीनों वेदों का सार पाया है। इनका मनन तीनों लोकों को पावन बना सकता है। इनका उच्चारण करते हुए अग्निहोत्र में जो आहुति डाली जाती है, वह सीधे सूर्य मंडल में पहुंच जाती है और भगवान् सूर्य इस अर्चना से प्रसन्न होकर धरती को रसमय बना देते हैं। रस से अन्न बनता है और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है। यही परमात्मा के आत्म विस्तार का क्रम है। इस विस्तार के मूल में 'भूर्भुवःस्वः' के उच्चारण से किया जाने वाला यज्ञ है। जीवन का आधार यज्ञ है। वही तरु या वृक्ष की तरह फैलता है और सबका उद्धार करता है। इसलिए उसको भर्भुवःस्वस्तरु (भूः, भुवः, स्वः रूपी वृक्ष) और तार (उद्धार करने वाला) कहा गया है ?

उसी को 'सविता' भी कहा गया है। वसुधा को अनेक प्रकार की संपत्ति प्रदान करने वाले सविता देवता ही परमात्मा हैं। वह सबको सब कुछ देने वाले कल्पतरु हैं। बाप दादे परदादे उन्हीं की सन्तान हैं, इसलिए उन को 'प्रपितामह' कहा गया है। पिता के पिता, पितामह के पितामह और प्रपितामह के प्रपितामह सृष्टिकर्ता आदि विधाता हैं।

यह परब्रह्म परमात्मा यज्ञ के रूप में संसार में प्रतिष्ठित होते हैं। यज्ञ ही परमात्मा है। 'यत्' (जहाँ से सारा संसार विकसित होता है) का वास्तविक स्वरूप समझ लेना ही यज्ञ है। जानने की यह साधना अपने आप में सिद्धि है। इसलिए यज्ञ को यज्ञ के फल परमात्मा से अभिन्न बताया गया है।

'यज्ञ' शब्द से आरम्भ होने वाले अगले बारह नाम यज्ञ-वाचक ही हैं। यज्ञ के जितने अंग, उपांग, कारक, कारण, साधन आदि हैं, उन सबके साथ परमात्मा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यज्ञ भी वही हैं, यज्ञ के स्वामी या यज्ञपति भी वही हैं, यज्ञ करने वाले यजमान या यज्वा भी वही हैं, यज्ञ के अंग, जैसे पूजा, पाठ, मंत्रोच्चारण, हवन, कुन्ड, समिधियाँ, हव्य आदि सब वही परमात्मा हैं। यज्ञ के माध्यम से अर्पित सामग्री को देवलोक तक ले जाने और फिर यज्ञ का फल लोगों को पहुँचाने का काम भी वही यज्ञपुरुष करते हैं। इसलिए उनको यज्ञ, यज्ञपति, यज्वा, यज्ञांग और यज्ञ वाहन कहा गया है।

यज्ञपुरुष की यह व्याख्या अगले श्लोक में भी चलती है—

यज्ञभृद् यज्ञकृद् यज्ञो यज्ञभुग् यज्ञ साधनः।
यज्ञांतकृद् यज्ञगुह्यमन्नमन्नांद एव च ॥१०५॥

यज्ञ का भार वहन कर सब प्रकार से इस पवित्र कार्य की रक्षा करने वाले परमात्मा को 'यज्ञभृत्' कहा गया है। यज्ञ कराने वाले भी वही हैं, इसलिए वह यज्ञकृत् हैं। यज्ञ का सारा स्वामित्व उन्हीं का है, इसलिए उनको 'यज्ञ' कहा गया है। यज्ञ का फल भोगने वाला जीवात्मा भी परमात्मा का ही अंश है। इसलिए यज्ञ का वास्तविक फल जीवात्मा के हृदय-

देश में प्रतिष्ठित परमात्मा पाते हैं। इसलिए उनको 'यज्ञभुक्' कहा गया है। यज्ञ के जितने साधन हैं, उन सबको यज्ञ रूपी परम पुरुष ही उपलब्ध कराते हैं। केवल भौतिक साधन ही नहीं, बल्कि मानसिक संकल्प, संकल्प की दृढ़ता, विघ्न बाधाओं को पार करने की क्षमता, आचरण की पवित्रता, वाणी की शुद्धता आदि समस्त साधन परमात्मा के ही प्रसाद के रूप में प्राप्त होते हैं। इसलिए उनको 'यज्ञ साधन' कहा गया है।

केवल साधन जुटाने में ही नहीं, बल्कि साधना को सफल बनाने में भी परमात्मा का हाथ होता है। यज्ञ का सफल समापन प्रभु की कृपा पर निर्भर है। इसलिए उनको 'यज्ञांतकृत्' (यज्ञ को सफलतापूर्वक सम्पन्न कराने वाला) कहा गया है।

इस यज्ञवल्ली का अन्तिम नाम है—'यज्ञगुह्यम्'। यज्ञ के पीछे जो परम रहस्यमयी भावना है, वही भगवान् हैं। यज्ञ करने से कुछ नहीं होता है। यज्ञ के पीछे सच्ची सात्विक भावना ही सब कुछ है। अगर यह भावना मन में है, तो प्राणी का प्रत्येक कार्य यज्ञ बन जाता है। चलते-फिरते, खाते पीते, बोलते सोचते हर अवस्था में परमात्मा का ध्यान करने से प्रत्येक कार्य यज्ञ का रूप धारण करता है। 'यत्'-जहाँ से ये प्राणी पैदा होते हैं, जिस परमधाम का आश्रय लेकर आराम से जीते हैं और अन्त में जहाँ पहुंचने के लिए सब लोग इच्छा से और अनिच्छा से आगे बढ़ते हैं, वही विश्व रूपी महायज्ञ का मूल पुरुष है। सारा विश्व एक महान् यज्ञ है। परमेश्वर की लीला का यह पुण्यधाम एक विशाल यज्ञशाला है। जान बूझकर और अनजान में जीवधारियों के द्वारा किया जाने वाला हर काम इसी निरन्तर यज्ञ का अंग है। अपने साथियों

को परमात्मा का अंश समझकर सबके कल्याण की कामना करना यज्ञ है। अपने अन्दर की दिव्यता को पहचानकर तुच्छता से दूर रहना यज्ञ है। विश्वव्यापी विराट् पुरुष की अनन्त शक्ति, अनन्त सुषमा और अनंत गरिमा को देखकर पुलकित होना और उसी अखंड चेतना में अपने को अंशीभूत अनुभव करना भी यज्ञ है। इसलिए कौन-सा यज्ञ है, कौन-सा नहीं है, यह कहना कठिन है। प्रत्येक प्राणी अन्नजीवी है। अन्न यज्ञ का आधार है। यज्ञ से अन्न उत्पन्न होता है और अन्न से यज्ञ सम्पन्न होता है। इस प्रकार अन्न और यज्ञ एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।

जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी का प्रत्येक कार्य यज्ञ का ही रूपांतर है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी अन्न का साकार रूप है। जो अन्न खाता है, वह अन्न बनता है। खाने वाला स्वयं खाया जाता है। हम फल खाते हैं। फल जमीन का सार लेकर बनता है। जमीन के लिए आसमान पानी देता है। इस प्रकार हर खाने वाले तत्व का जो खाना होता है, उसको भी दूसरी जगह से खाना मिलता है। इसलिए संसार का प्रत्येक जीवी स्वयं अन्न है और साथ ही अन्न खाने वाला है। इसी दृष्टि से परमात्मा को अन्न और अन्नाद कहा गया है। अन्नजीवी अन्न को खाता है और साथ-साथ दूसरे अन्न-जीवी का अन्न भी बनता है। अन्न और अन्नजीवी का यह चक्र आत्म तत्व को सनातन रूप देता है और यही परमात्मा का स्वरूप है।

अन्न से अन्न बनता है और अन्न ही अन्न को खाता है। लेकिन सबसे पहले अन्न का क्या रूप था, इसका समाधान केवल आत्मा है। सबसे पहले केवल आत्मा विद्यमान थी और

कुछ नहीं था। उसी से सारा अन्न और समस्त अन्नजीवी निकले हैं। आत्मा को लेकर परमात्मा ने यह पाँचभौतिक जगत् बनाया है। आत्मा का यह इतिहास अगले श्लोक में मिलता है—

आत्मयोनिः स्वयंजातो वैखानः सामगायनः।
देवकीनंदनः स्रष्टा क्षितीशः पापनाशनः ॥१०६॥

सभी प्राणी परमात्मा से प्रकट होते हैं। पर परमात्मा का कोई आधार नहीं है। वह अपने कारण आप हैं और अपने जनक आप हैं। इसीलिए उनको 'आत्मयोनि' कहा गया है। वह अपने आप पैदा हुए हैं, इसलिए स्वयंजात हैं। जिस चीज का आरम्भ नहीं होता है, उसका अन्त भी नहीं होता। इसलिए परमात्मा अनन्त हैं। उनका वैभव अपार है जैसे किसी खान से धातु का खनन किया जाता है। वैसे परमात्मा के अक्षय कोश से अनन्त वैभव का भांडार निकाला जा सकता है। फिर भी वह अक्षय रहता है। अद्भुत पराक्रम, अपूर्व सौन्दर्य और अनन्त वैभव भगवान के अक्षय कोश की निधियाँ हैं।

इतने अद्भुत वैभव का स्वामी होते हुए भी वह बाँसुरी बजाते हुए यमुना के किनारे कदम्ब की छाया में आराम से अपना और संसार का मन बहलाते हैं। उनकी बांसुरी का आनन्द स्थावर और जंगम समान रूप से लेते हैं। उनकी बाँसुरी में समता का स्वर मुखरित होता है। संसार सबका है, किसी एक की बपौती नहीं है। यह सबके उपभोग के लिए है क्योंकि यह सब परम पिता परमात्मा का बनाया हुआ है। यही मुरली माधुरी का मंजुल स्वन है। समता का यही

सामगान आचार्य भीष्म का अन्तिम सहारा बना था जब श्रीकृण अर्जुन के रथ को छोड़कर हाथ में रथ का ही पहिया लेकर भीष्म की ओर दौड़ पड़े थे। समरांगण में समतावादी श्याम की वह स्पृहणीय मुखमुद्रा आचार्य को अचानक याद आती है जब भगवान के दिव्य नामसहस्र का गुणगान पूरा होने को होता है। इसलिए विश्व से लेकर सामगायन तक विराट् पुरुष के गुणों का वर्णन करने वाले सैकड़ों नाम सुनाने के बाद आचार्य के मुँह से अचानक 'देवकीनंदन' कृष्ण का नाम आता है।

वह 'देवकीनंदन' आचार्य के सामने उस समय विराजमान भी थे। धर्मराज के साथ उनके चारों भाई और कृष्ण भी विष्णु सहस्रनाम का विश्वव्यापी वर्णन सुन रहे थे। इन सभी नामों में जिस परमात्मा के प्रभाव का वर्णन है, वह प्रभु सबके सामने मौजूद थे। 'देखो धर्मनंदन, वह यही देवकीनन्दन है जिसके बारे में मैंने अब तक बहुत-सी बातें बताई। यह केवल देवकीनन्दन कृष्ण नहीं हैं। यह अखिल जगत् के स्रष्टा हैं। सारे संसार के स्वामी हैं, क्षितीश हैं। इनके स्मरण मात्र से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं। फिर आप लोगों का सौभाग्य रहा कि आपको इनका स्मरण ही नहीं, बल्कि, श्रवण, दर्शन, सहयोग, साहचर्य—सब कुछ मिला है। इन्हीं के सम्पर्क से आप विजयी बन गए हैं।'—कुछ इसी प्रकार के विचार आचार्य के मन में आए होंगे। तभी तो वह कृष्ण को ध्यान में रखते हुए भगवान् विष्णु का वर्णन करने लगे। अगले श्लोक में शंख, चक्र, गदा, खड्ग अपने चारों हाथों में धारण किए चतुर्भुज भगवान् विष्णु का चित्र अंकित किया जाता है।

शंखभृन्नंदकी चक्री शार्ङ्गधन्वा गदाधरः।
रथांगपाणिरक्षोभ्यः सर्वप्रहरणायुधः ॥१०७॥

भगवान् के एक हाथ में शंख है, दूसरे में खड्ग, तीसरे में, चक्र और चौथे में धनुष या गदा। यहाँ पर पाँच आयुधों के नाम हैं। वैसे रथांगपाणि कहने में चक्र का भी एक और रूप हमारे सामने आता है। यह रथ का वही पहिया है जिसको हाथ में लेकर भगवान् कृष्ण भीष्म की ओर दौड़ पड़े थे। वह भी चक्र ही था। चक्र को रथांग कहा जाता है। पर यहाँ चक्री और रथांगपाणि दोनों नाम एक साथ होने से दोनों की अलग-अलग रूप कल्पना है। वास्तव में भगवान् के ये चार पाँच ही आयुध नहीं हैं, अनेक हैं, सबका प्रहार करने वाले अमोघ आयुध उनके हाथ में हैं। सर्वप्रहरणायुध परमात्मा के लिये कोई भी वस्तु प्रहार का साधन बन जाती है। हिरण्य कशिपु ने जब जड़ चेतन दोनों पदार्थों से न मरने का वर प्राप्त किया तब नरसिंह का अवतार लिये परमात्मा आए और नाखूनों से उनका संहार किया। इस प्रकार हर चीज का संहार करने के लिए उपयुक्त आयुध भगवान् के पास हैं।

शंख से वायुमंडल पवित्र बन जाता है। नन्दकी नामक खड्ग से जन्म जन्मान्तर की जमी जड़ता पल भर में छिन्न-भिन्न हो जाती है। सुदर्शन चक्र के प्रवर्तन से सारे ब्रह्मांड में समता, सात्विकता और शालीनता स्थापित हो जाती है। शार्ङ्ग नाम का धनुष सबका घमंड चूर-चूर कर देता है। सभी धनुषों में मूर्धन्य या शृंग स्थान पाने से इसका नाम शार्ङ्ग हुआ है। गद्गद निनाद से गूंगे को भी वाग्मी बनाने वाली शक्ति उनकी कौमोदकी नाम की गदा में है। इन सभी अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होने के कारण उनको कोई हिला नहीं

सकता। अचल, अटल और अविकल पराक्रम से संसार को संचालित करने वाले विश्वनियंता के हजार नामों का उपसंहार अक्षोभ्य और सर्वप्रहरणायुध—दो नामों से होता है। भगवान् में क्षोभ नाम की चीज हो ही नहीं सकती। चाहे तीनों लोक विचलित हो जाएँ, परमात्मा अपने पद से, अपने प्रण से और अपनेपन से रत्ती भर भी नहीं हटते। जो भी विघ्न बाधा या अवरोध सामने आ जाए, उसे दूर करने के लिए उनके पास अमोघ अस्त्र विद्यमान हैं।

सर्वप्रहणायुद्ध ॐ नम इति। १०८॥

'सर्वप्रहरणायुध'—यह नाम अन्त में दुहराया जाता है। यह इसलिए कि यह दिव्य नाम सहस्र भी अपने में एक ऐसा अमोघ आयुध है जो सभी विघ्न बाधाओं पर प्रहार कर सकता है। प्रहरण का अर्थ पहरा देना भी है। श्री विष्णु सहस्रनाम का पाठ श्रद्धा से किया जाये तो यह स्तोता का सब प्रकार से पहरा देता है और सभी प्रकार की विपत्तियों से उसकी रक्षा करता है। यह अन्तिम नाम आचार्य के अभय हस्त का प्रतीक है जो साधक का सदा सर्वथा साथ देता है।

स्तोत्र के अन्त में फिर प्रणव या ओंकार का उच्चारण होता है। ओंकार से ही स्तोत्र का आरम्भ होता है और अन्त में भी ओंकार आता है। वास्तव में यह सारा स्तोत्र प्रणव का ही प्रकट रूप है। उसी को अन्त में नमस्कार करते हुए स्तोत्र का समापन किया जाता है। 'ओम् नम इति' कहने में यही आशय है।

यह था—श्री विष्णु सहस्रनाम का विराट् रूप जो हजारों वर्षों से हजारों साधकों को हजारों प्रकार की स्फूर्ति, प्रेरणा

और चेतना प्रदान करता आ रहा है। जीवधारियों की सनातन साधना और मंगलमय चेतना को सहस्रधा परिभाषित करने वाली यह सहस्रधारा मानवता का मंगल तीर्थ है जिसमें जिस को जो चाहिए, उसको वह मिल सकता है। जैसे भगवान् विष्णु के सुदर्शन चक्र के हजार आरे होते हैं, पर चक्र को घुमाने से हजार आरे अनन्त रेखा मात्र अंकित करते हैं, उसी प्रकार भगवान् के ये हजार नाम मनन करन पर अलग-अलग नाम न रहकर एक ही अखंड आनन्द की अजस्र धारा को प्रवाहित करने वाली सहस्रधारा का रूप धारण करते हैं। भगवान् का कोई एक नाम नहीं होता और न कोई एक रूप होता है। संसार के सभी नाम उनके हैं और सभी रूप उनके हैं। नाम और रूप जीवात्मा और परमात्मा के अभेद के प्रतीक हैं। परमात्मा ने रूप दिया तो जीवात्मा ने नाम लिया। नाम और रूप एक ही तत्व के दो पहलू हैं। अनंत रूप और अनंत नाम धारण करने वाले परमात्मा को अपनाने में ही सहस्रधारा की चरितार्थता है।

एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः।
त्रींल्लोकान् व्याप्य भूतात्मा भुङ्क्ते विश्वभुगव्ययः॥
नमोस्त्वनंताय सहस्रमूर्तये
सहस्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते
सहस्रकोटी युगधारिणे नमः॥

इति

स्वभावो अध्यात्म उच्यते (गीता ७-३)

(स्व-आत्मा सर्वत्र सर्वथा सर्वदा व्याप्त है। उस स्वभाव को ही अध्यात्म कहते हैं।)

अध्यात्म विद्या विद्यानाम् (गीता १० : ३२)

(विद्याओं में सच्ची विद्या आत्मा विषयक ज्ञान है)

विश्व अध्यात्म समाज एक रजिस्टर्ड पारमार्थिक समिति है जो सम्प्रदाय, जाति, रंग, धर्म या स्त्री पुरुष के भेदों से परे है और मानव मात्र की निरन्तर आध्यात्मिक जिज्ञासा की तृप्ति के लिए भारतीय एवं पाश्चात्य चिन्तन के निष्कर्षों और सामान्य नैतिक मूल्यों के शोध, प्रचार, प्रसार करके मानव की आध्यात्मिक चेतना को जागृत करने का प्रयास कर रही है।